तुलनात्मक धर्मदर्शन

या० मसीह

तुलनात्मक धर्म-दर्शन

लेखक

या० मसीह

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना मद्रास

प्राक्कथन

भारतीय परम्परा प्राचीन है और प्रारम्भ से ही इसके धर्म-सिद्धान्त व्यापक रहे हैं। किसी भी धर्म के अनुयायी के लिए निम्नलिखित प्रार्थना स्तुत्य कही जायगी :

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिगमय, मृत्योर्मामृतं गमय।

—बृहदारण्यक उप०, १.३.२८ ॥

'मुझे असत् से सत्, अन्धकार से ज्योति में, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाओ।'

भारतीय धर्म-परम्परा ने धर्मों की एकता और उनके समन्वय का सिद्धान्त प्रारम्भ से स्थापित किया है। यही चरम उद्देश्य वास्तव में तुलनात्मक धर्मदर्शन का भी है। इस धर्मों की एकता का सबल उद्देश्य ऋग्वेद १०.१९१.२ में ही लिख दिया गया है :

समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सह चित्तमेषाम्,
समानं मंत्रं अभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥

(हमारा शास्त्र एवं संघ एक हो। सब एक मन और एक चित्त होवें। समान रीति से मन्त्र-'प्रार्थना' उच्चारा जाय तथा समान रूप से एक साथ प्रार्थना की जाय)।

शंकर ने इस भारतीय परम्परा को दार्शनिक रीति से निर्णीत किया है और शांकर सिद्धान्त को ही इस पुस्तक में तुलनात्मक धर्मदर्शन का आधार माना गया है।

इस तुलनात्मक धर्मदर्शन को अन्तर्विश्वविद्यालय के द्वारा संस्तुत पाठ्यक्रम के अनुसार तैयार किया गया है। फिर आधुनिकतम दार्शनिक देनों को भी पूर्णतया समाविष्ट किया गया है।

३०-५-१९८४ — या० मसीह

विषय-सूची

अध्याय : १

तुलनात्मक धर्मदर्शन का दार्शनिक आधार

भूमिका

तुलनात्मक धर्मदर्शन की मान्यता है कि एक ऐसी शक्ति है जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड का संचालन कर रही है। यह शक्ति मानव चेतना से भी कहीं अधिक प्रबल है। क्योंकि इसी शक्ति ने मानव में चेतना का बीज डाला है। मानव बुद्धि इस ब्रह्माण्ड सत्ता की तुलना में बहुत ही छोटी है, पर मानव चेतना में ही ब्रह्मांड में अन्तर्व्याप्त शक्ति प्रतिबिम्बित एवं वाचाल हो उठती है। मानव अपनी अनुभूति एवं बुद्धि के अनुसार इस गहन शक्ति को एक रूप या आकार देता है। चूँकि मानव स्वयं ब्रह्मांड की असीम शक्ति से संचालित होता और स्वयं उस अपरिमित शक्ति का आणविक अंश-मात्र रहता है, इसलिये वह इस परम सत्ता के नाम-रूप से मंत्रमुग्ध हो जाता है और अपने सर्वस्व को उस पर न्योछावर कर देता है। अतिसामान्य रूप से धर्म वह है जिसमें भक्त परम सत्ता के साकारिक आदर्श रूप के प्रति अन्तर्ग्रस्त हो जाता है। मानव सभ्यता के आदि रूप में परम सत्ता का साकारिक रूप पूर्णतया विकसित एवं स्पष्ट नहीं होता है, जैसा मनवाद, सर्वजीवात्मवाद एवं टोटमवाद में दिखाई देता है। बाद में परम सत्ता का साकारीकरण व्यक्तित्वपूर्ण होकर मानव का आदर्श रूप धारण करता हुआ प्रतीत होता है। देवी-देवताओं की पूजा इसी परमसत्ता के मानवरूपी साकारीकरण का परिणाम-मात्र कहा जा सकता है। कालगति के साथ ज्ञानवृद्धि के फलस्वरूप साकारीकरण ईश्वर, अल्लाह, राम, कृष्ण, ईसा इत्यादि का रूप धारण कर लेता है। धार्मिक विकास की इस स्थिति में आज भी अनेक जातियाँ हैं। पर विकासगति जारी है।

विज्ञान के प्रचार-प्रसार के साथ अनेक विचारकों में ईश्वर के प्रति आस्था कम हो गयी है। कुछ मानवतावाद (humanism), कुछ साम्यवाद और फिर निरीश्वरवाद को भी अपनाने लग गये हैं। चूँकि ईश्वर धर्म का सबसे अधिक विकसित रूप है, इसलिये लोग समझते हैं कि भविष्य में धर्म का लोप हो जायगा। यह तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है कि मानव इतिहास के साथ ही साथ धर्म का भी इतिहास मिलता है, पर निर्धर्मियों का कहना है कि धर्म मानव के सांस्कृतिक क्रिया-कलाप का अभी तक आवश्यक अंग रहा है, पर सांस्कृतिक विकास के साथ धर्म का विलयन हो जाना अवश्यंभावी है। इस पुस्तक की यह मान्यता नहीं है।

धर्मदर्शन की मान्यता है कि परमसत्ता जो समस्त ब्रह्मांड का संचालन करती है और सम्पूर्ण सृष्टि जिसका मानव एक नगण्य, पर सचेतन अंग है, उस परम सत्ता के प्रति बिना चिन्तनशील हुए चैन नहीं ले सकता है। इसी बात को कहा गया है कि धर्म मानव का स्वभाव-गुण है। साम्यवाद मानवतावाद का ही विशिष्ट रूप है और मानवतावाद में मानव अपने ही आदर्श रूप को पूज्य समझता है। पर क्या एक नगण्य धूलि-कण परम सत्ता स्वीकारा जा सकता है ? यह केवल अज्ञान की बात कही जायगी। वह वाद जिसमें एक अंश सम्पूर्णत्व का स्थान हड़प कर परमसत्ता के रूप में पूजा जाता है, व्यापक अर्थ में मूर्त्तिपूजा कहा जाता है। अतः, मानवतावाद एक दोषपूर्ण मूर्त्तिपूजा ही है। पर क्या निर्धर्मवाद को भी धर्म-संज्ञा दी जा सकती है ?

अधर्म को धर्म की संज्ञा देना परस्पर-विरोधी कथन कहा जायगा। पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने पर प्रतीत होता है कि निरीश्वरवादी भी किसी न किसी धर्म के ही पक्ष में रहते आये हैं। यही कारण है कि उदयनाचार्य ने चार्वाक, जैन, बौद्ध तथा निरीश्वरवादी मीमांसकों को भी धर्म-परायण माना है। उदाहरण लें। फ्रायड ने ईश्वरवाद को प्रपंच एवं मानव का चित्तरोग तथा सामूहिक भ्रम कहा है। पर आप भी विश्व बांधव को अपना पूज्य आदर्श मानते थे। वे भी स्वीकारते थे कि कोई ऐसी पारलौकिक शक्ति नहीं है जिसकी आराधना करने से मानव का कल्याण हो सकता है। तो भी ठीक बौद्धों के समान दुःख-सुख को बराबर समझकर अपने में उपेक्षा-भाव के अपनाने में आत्मविकास का चरम लक्ष्य मानते थे। अतः फ्रायड अधर्मी नहीं थे, पर वे मानवता-वाद के विश्व-बंधुत्व को ही परम सत्ता का आदर्श रूप समझते थे।

फिर सन् १९६३ के बाद कुछ ईसाई पादरियों ने अनीश्वरवाद को अपनाकर ईसा की आराधना ईसा को आदर्शपुरुष के रूप में मानकर प्रारंभ कर दी। साथ ही साथ कुछ अनीश्वरवादी उनमें से वे थे जिन्हें बाइबिली ईश्वर का रूप हृदय को छूता हुआ नहीं दिखाई दिया। पर उन्हें आशा है कि निकट भविष्य में ईश्वर का कोई न कोई स्वरूप उभड़ पड़ेगा जो मानव को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ होगा। अतः ये ईसाई अनीश्वरवादी या तो मानवतावादी हैं, या ईश्वर के सन्तोषजनक स्वरूप की प्रत्याशा में हैं। पर किसी भी रूप में इन्हें 'निर्धर्मी' नहीं कहा जा सकता है।

अतः कोई भी मानव जिसकी चेतना में किसी भी प्रकार का आदर्श अंकुरित एवं विकसित होता है, उसे धर्मवादी ही कहा जा सकता है। 'यतो धर्मः ततोऽभ्युदयः' इसलिये निम्नकोटि की सांसारिक लिप्सा को स्वीकारने वाले को भी धर्मवादी ही कहा जायगा, चाहे उसका इष्ट देवता तामसिक ही क्यों न हो। पर सात्त्विक ईश्वर की पूजा और फिर उससे भी परे ब्रह्म-ज्ञान के धर्म को उच्चतम कहा जायगा। तुलनात्मक धर्मदर्शन का उद्देश्य है कि मानवों को ब्रह्मप्राप्ति के आयाम से अवगत कराके उसी दिशा में धर्म की गति को तेज किया जाय।

तुलनात्मक धर्मदर्शन की कठिनाइयाँ

प्रत्येक धर्म के अनुयायियों में अपने धर्म के प्रति आत्मबंधन (Commitment) तथा अंतर्ग्रसन (involvement) रहता है। अतः, वे अपने धर्म में इतने अंतर्लिप्त रहते हैं कि वे अन्य धर्मों का न तो अध्ययन करते हैं और न उनके प्रति सहानुभूति रखते हैं। अधिकांश धर्मवादी इसी मनोवैज्ञानिक स्थिति में रहकर अपने धर्म को छोड़कर अन्य धर्मों की विशेषताओं से अनभिज्ञ रहते हैं। सुतरां, धर्मवादियों के बीच अंतर्कलह और तनावपूर्ण स्थिति वनी रहती है। धर्मवादियों को इसकी सुधि नहीं रहती है कि वे वास्तव में एक ही परमसत्ता के द्वारा संचालित रहकर उसे ही अपनी अपनी परंपरा के अनुसार पूजते हैं।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (गीता ९:२३)

अर्थात् अन्य देवताओं के भक्त भी वास्तव में एक परम सत् को अज्ञानवश पूजते हैं। यदि धर्मवादियों को इसका ज्ञान हो जाय कि उनके आराध्य इष्टदेवता वास्तव में परमसत्ता नहीं हैं, पर वे इसी परमसत्ता के साकारीकरण हैं तो वे विभिन्न धर्मों में परमसत्ता के विभिन्न रूपों, या उसी एक सत्ता के प्रतीकों (Symbol) अथवा चित्रणों का अध्ययन करेंगे और परस्पर धर्मों के आपसी सहानुभूति एवं अध्ययन से धर्मों की गहराई वढ़ेगी। रामानुज के भक्ति-दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप ईसाई को ईश्वर-भक्ति में बड़ी सहायता मिलेगी; इसी प्रकार उपनिषदों की आत्मानुभूति एवं स्वानुभूति-मूलक रहस्यवाद का आस्वादन करने पर समस्त विश्व के रहस्यवादियों को प्रोत्साहन मिलेगा। साथ ही साथ धर्मवादी अपने प्रतीकों को परिष्कृत कर उन्हें ऐसा पर्याप्त बनाने का प्रयास करेंगे जिससे उन्हें परम सत्ता के उद्‌बोधन में सहायता मिले।

प्रायः धर्मवादी आपस में यह कहकर एक दूसरे से लड़ते हैं कि अमुक धर्म सत्य है और अमुक धर्म असत्य है। पर सत्यता-असत्यता का प्रश्न वहीं होता है जहाँ इन्द्रिय-ग्राह्य घटना घटें, अर्थात् विज्ञान के क्षेत्रों में ही सत्यता-असत्यता का प्रश्न उठता है। धर्म शुभ-अशुभ, कल्याण-अकल्याणकारी, संकीर्ण-उदार इत्यादि हो सकते हैं। पर सत्य-असत्य नहीं। क्यों? इष्टदेवता परम सत्ता के चित्रण मात्र हैं। पर यह चित्रण किसी वास्तविक सत्ता की फोटो—छवि नहीं है। यह चित्रण कलाकार के चित्रण के समान है। उदाहरणार्थ, सौन्दर्य आदर्श है, पर यह साकार सत्ता नहीं है। हाँ, सुंदर नारी की कल्पना की जा सकती है, पर चित्रकार कितनी ही अधिक सुंदरी नारी का चित्रण क्यों न करे वह साक्षात् नहीं हो सकती। इसी सौन्दर्य के समान कलाकार प्रेम, विश्व-सौहार्द तथा स्वतंत्रता आदि का चित्रण किया करते हैं, पर इन चित्रणों के अनुरूप कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार ईश्वर की भी कल्पना की जाती है जिसमें

सभी आदर्शों का साकार रहना माना जाता है। पर ईश्वर सामूहिक, चेतन-अचेतन मानव मानस का हृदय-ग्राही चित्रण-मात्र है जो मानव को परमसत्ता का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। जब तक मानव मानव है उसे प्रतीकों की मदद लेनी पड़ती है ताकि वह जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हो, आर्त्त जीवन में शांति पाये और अर्जुन के समान कर्मक्षेत्र में कार्यकुशल और सफल हो। रामानुज ईश्वरवादी हैं और ईश्वर के परिष्कृत रूप को प्रस्तुत कर उन्होंने लोक-कल्याण किया है। पर शंकर ने स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर का रूप कितना ही अधिक परिशुद्ध क्यों न किया जाय अंत में ईश्वर-पूजा मायापूर्ण है। इससे आपसी कलह समाप्त नहीं हो सकता है। रामानुज विष्णु को, शैव शिव को, ईसाई ईसा को ईश्वर का परिशुद्ध रूप समझकर आपसी मतभेद रखते हैं। इसलिए शंकर ने ईश्वर को भी मायामय मानकर निर्गुण, निराकार, शांतरूप परब्रह्म ही के ज्ञान के आधार पर उस स्थिति की ओर हमें ललकारा है जिसमें हिंदू, मुसलमान तथा ईसाई का भेद ही समाप्त हो जाता है। ब्रह्म की सत्ता के निःशब्द मौन में ही सभी धार्मिक कलहों का अंत हो जाता है। सुतरां, तुलनात्मक धर्म दर्शन का दार्शनिक आधार है जिसे सर्वप्रथम शंकर ने और शांकर मत से प्रभावित होकर पॉल तीलिख ने तथा अन्य प्रभावशाली दार्शनिक धारा के आधुनिक विचारक विटगिन्स्टाइन के मत ने पुष्ट किया है। इन तीनों मतों का संक्षेप में उल्लेख किया जायगा। परन्तु स्वयं पॉल तीलिख ने स्वीकारा है कि उनका प्रतीक-सिद्धान्त वास्तव में टामस अक्वाइनस के साम्यानुमान का आधुनिक रूप है। इसलिए साम्यानुमान का भी उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस संदर्भ में दार्शनिक आधार को इसलिए दिया जा रहा है कि मानव 'तृष्णा' अर्थात् मनोवैज्ञानिक भाव-संवेग से संचालित होता है, और जब तक मानव रागात्मक वृत्तियों से संचालित रहेगा वह अपनी धर्म-लिप्सा से ग्रस्त होकर न तो अन्य धर्मों का और न परम धर्म का तटस्थ भाव से अध्ययन एवं चिंतन कर पायेगा। केवल तर्कनाबुद्धि (रीज़न) से ही मानव की रागात्मक वृत्तियाँ अनुशासित एवं परिशुद्ध होकर धर्मदर्शनों का सहानुभूति पूर्वक अध्ययन करने में समर्थ हो सकती हैं। फ्रायड ने कहा है कि रीज़न की आवाज बहुत क्षीण होती है, पर यह एक मात्र मानव साधन है जिसके द्वारा मानव अपनी पाशविक वृत्तियों को दबाकर इतनी दूर तक सभ्य जीवन बिता पाया है। भविष्य में भी मानव रीज़न की मदद लेकर अपने इष्टदेवता की पूजा सात्त्विक भावद्वारा करके क्रमिक रीति से ब्रह्म-ज्ञान की ओर बढ़ सकता है। यही कारण है कि शंकर और रामानुज दोनों ने शास्त्र को ही ब्रह्म-ज्ञान का एकमात्र आधार माना है तो भी दोनों ने दार्शनिक आधार अथवा रीज़न का सहारा लिया है। इसलिये इस पुस्तक में भी दार्शनिक आधार को धर्मदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के लिये तथा उसकी लक्ष्यपूर्ति के लिए आवश्यक समझा गया है।

तुलनात्मक अध्ययन का दार्शनिक आधार

तर्कबुद्धि (रीज़न) की आवश्यकता : यह ठीक है कि धर्म आस्था का विषय है जिसमें भाव विशेष रूप से पाया जाता है। पर भाव क्षणभंगुर और आत्मनिष्ठ (विषयनिष्ठ—Subjective) होता है। अतः, भाव पर आधारित धार्मिक अनुभूति अतिशीघ्र विलीन हो जाती है। भक्त को आवश्यक हो जाता है कि वह अनुभूति को इस प्रकार अंकित कर ले कि वह अपनी अनुभूति को बार बार याद करे और उसका स्मरण कर उस पर ध्यान करे। पर यह कैसे संभव हो सकता है ? किसी भी अनुभूति को स्थायी बनाने के लिये उसे प्रत्ययों (Concepts, ideas) में परिणत करना पड़ता है और प्रत्ययों की रचना तर्कबुद्धि के आधार पर की जाती है। अतः, भाव प्रधान रहने पर भी धार्मिक अनुभूति को स्थायी रखने के लिये स्वयं भक्त को ही तर्कबुद्धि की आवश्यकता पड़ती है।

पर इतने ही से किसी भी भक्त को संतोष नहीं होता है। वह चाहता है कि वह अपने आनंद को दूसरों को भी बताये और उन्हें सिखाये कि उसकी अनुभूति इतनी अधिक आनंदपूर्ण और संतोषजनक है कि उसकी तुलना में सभी व्यावहारिक जीवन की अनुभूतियाँ झूठी और क्षीण मालूम देती हैं। इस धार्मिक अनुभूति को वह किस प्रकार अन्य लोगों को बताये ? उसे फिर प्रत्ययों की, दृष्टान्तों की, विरोधाभासों की, उलटी वाणियों की, मिथक की तथा प्रतीकों की मदद लेनी पड़ती है। पर मिथक, प्रतीक, कथानक इत्यादि अंत में तर्कबुद्धि की ही उपज हैं। अतः धार्मिक अनुभूति को सभी व्यक्तियों के लिये संभाषण (dialogue) और संप्रेषण (communication) अर्थात् अनुभूति के आदान-प्रदान के लिये तर्कबुद्धि की कोटियों (Categories) की सहायता लेनी पड़ती है।

फिर जो भी अनुभूति भाषाबद्ध हो जाती है वह कालगति में दुरुह हो जाती है। उदाहरणार्थ सिखों की प्रसिद्ध धर्मपुस्तक 'गुरु ग्रंथ साहिब' कही जाती है। इसकी भाषा अनेक भाषाओं से रची गयी है, अर्थात् इस पुस्तक में अरबी, फारसी, संस्कृत, ब्रजभाषा, पंजाबी इत्यादि के अनेक शब्द काम में लाये गये हैं। उनका उपयोग भी उस समय के प्रचलित अर्थों में ही किया गया है। इस धर्मपुस्तक को आधुनिक युग में समझने के लिये फिर तर्कबुद्धि की आवश्यकता पड़ जाती है। इसी प्रकार ईसाइयों की धर्मपुस्तक बाईबिल कही जाती है। इस धर्मपुस्तक में ईसाई अनुभूति को भूत-प्रेत, कुँवारी मरयम से यीशु के जन्म, मृतकों के जी उठने, स्वर्गारोहण इत्यादि के मिथक (myth) के द्वारा व्यक्त किया गया है। इस आधुनिक युग में बाईबिल को समझने के लिये तर्कबुद्धि की सहायता लेनी पड़ती है। विद्वानों को समझना पड़ता है कि एशियाई भाग में दो हजार वर्ष पूर्व इन मिथकों का क्या सही अर्थ होता था और फिर प्रचार की इस पुस्तक का उद्देश्य क्या था जिसमे यह उस युग की धार्मिक माँगों की पूर्ति करना चाहती थी।

अब शंकर और रामानुज, दोनों ने अपने धर्म दर्शन के लिये पवित्र शास्त्रों को ही आरंभ-बिन्दु माना है। दोनों के अनुसार ब्रह्म के असली स्वरूप को जानने के लिये उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के साथ वेद-पुराणों की सहायता लेनी चाहिये। तो भी इन धार्मिक पुस्तकों के असली संदेश को समझने के लिये दोनों ने तर्कबुद्धि को गौण रूप से आधार माना है।

अंत में, वर्तमान युग में विशेषकर भारतीय महादेश में अनेक धर्म देखे जाते हैं। उनमें एक दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह और धार्मिक तनाव भी पाया जाता है। ऐसा क्यों, जब सभी धर्म मानव के प्रति प्रेम और विश्व-सौहार्द की शिक्षा देते हैं तब धार्मिक कलह क्यों? सर्वप्रथम, धर्म विचारक धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं। फिर अपने धर्म को छोड़कर अन्य धर्मों को समझने में असमर्थ होते हैं। वे समझते हैं कि धर्म वैज्ञानिक कथनों के समान सत्य-असत्य होते हैं। वे यह नहीं समझते कि अधिकांश लोग किसी धर्म को इसलिये अपनाते हैं कि उनके माता-पिता उस धर्म को स्वीकारते थे। दूसरे शब्दों में धर्म के स्वरूप, धर्म-भाषा, धर्म के उत्स और इतिहास इत्यादि से अनभिज्ञ रहने पर ही धार्मिक कलह और तनाव उत्पन्न होता है। इसलिए तर्कबुद्धि की आवश्यकता होती है कि धर्मों के स्वरूप, भाषा इत्यादि का अध्ययन कर वह धर्म-समन्वय का मार्ग प्रशस्त करे। चूँकि बिना तर्कबुद्धि की सहायता से तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन नहीं हो सकता है, इसलिये दार्शनिक उपकरणों (tools) की भी आवश्यकता हो जाती है।

इस तुलनात्मक धर्म दर्शन में दो बातों पर मुख्य बल दिया गया है अर्थात् धर्म मानव का स्वभाव-गुण है और सभी धर्मों में अज्ञात, अतीत सत्ता को जानने का प्रयास किया जाता है। यदि अतीत सत्ता अज्ञेय हो तो इसके किसी प्रकार के ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। यदि धर्म-ज्ञान वैज्ञानिक न हो तो इसे सत्य-असत्य भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'सत्य-असत्य' मूल्य केवल वैज्ञानिक प्रकथनों के ही लिये उचित रूप से व्यवहृत किये जा सकते हैं। अब यदि धार्मिक प्रकथन सत्य-असत्य नहीं हो सकते तो किसी एक अमुक धर्म को सत्य समझकर अन्य किसी भी धर्म को असत्य कहकर ठुकराना बड़ी भूल है। धर्म मानव की मनोवैज्ञानिक रचना और उसके संस्कार पर निर्भर करता है। अतः यहाँ प्रश्न सत्यता-असत्यता का नहीं, वरन् अपने लिये, किसी भी व्यक्ति विशेष के लिये तथा समाज-देश के लिये उपयुक्त—अनुपयुक्त अवश्य हो सकता है। अंत में, ऐसी धर्म दार्शनिक धारा हो सकती है जो धर्मों की अनेकता, सापेक्षता तथा विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी उनमें एकता ला सकती है। हम देखेंगे कि शंकर की अद्वैतवादी अभेद मूलक धर्मदार्शनिक विचारधारा सभी धर्मों की विशिष्टता को मानते हुए भी उन्हें उस लक्ष्य की ओर आलोड़ित कर सकती है जहाँ सभी धर्म एक हो जाते हैं।

अब उपर्युक्त दोनों बातों पर ध्यान रखते हुए प्रथम समस्या पर ध्यान दिया जायगा, अर्थात् धर्म मानव का स्वभाव-गुण है ।

धर्म मानव का स्वभाव-गुण है (Religion a priority)

धर्म मानव का स्वभाव-गुण है। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार भूख-लगना, श्वास-लेना मानव का स्वभाव-गुण है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर किसी न किसी धर्म को अपनाना भी मानव का स्वभाव-गुण है । आगे चलकर हम देखेंगे कि जो परं-परागत धर्मों को नहीं स्वीकारते हैं, वे भी किसी न किसी मानवतावादी धर्म को अपनाते हैं । यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है । लगभग सन् ८५० में हनुमाननाटक में ईश-वंदना में यह बात कही गयी है । सर्वविदित ही है कि जैन और पूर्वमीमांसी ईश्वर को नहीं स्वीकारते हैं, तो भी इस ईश-वंदना में कहा गया है कि एक हरि को शैव शिव के रूप में, वेदान्ती ब्रह्मरूप में, बौद्ध बुद्ध भगवान् के रूप में, तर्कविद् (न्यायवैशेषिक) सृष्टिकर्ता के रूप में, जैन अर्हत्-सिद्धान्त के रूप में तथा मीमांसी कर्म के रूप में पूजते हैं । ठीक इसी प्रकार लगभग सन् ९२४ में उदयनाचार्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक कुसुमांजलि के अध्याय, १, कारिका २ में लिखा है कि सभी किसी न किसी रूप में एक परम सत्ता की पूजा करते हैं । यहाँ तक कि मीमांसी उस परम सत्ता को यज्ञ के रूप में और चार्वाक उसी को लोक व्यवहार-सिद्ध रूप में पूजते हैं ।

पाश्चात्य जगत् में भी इसकी ध्वनि स्पष्ट मिलती है । सिकंदरिया के फाइलो ने (ई० पू० ३०—सन् ५०) तथा क्लिमेंट ने (सन् १५०-२१४) कहा है कि ईश्वर की प्रकाशना सभी जातियों में पायी जाती है और इन दोनों ने भारतीय ज्ञेयवादियों (gnostics) की भी चर्चा की है कि इन्हें भी ईश्वर-ज्ञान था और अपने स्तर पर ये भी धार्मिक व्यक्तियों में गिने जायेंगे । स्वयं बाइबिल में लिखा है कि एक ही ईश्वर ने सभी मानवजातियों की सृष्टि की है (प्रेरितों की क्रिया १० : ३४-३५; १७ २६) । फिर संत पॉल ने बताया है कि ईश्वर ने अपनी आत्मा की छाप सभी के मन पर अंकित कर दी है और इसलिए हमारा मन ईश्वर-पिता को ढूंढ़ता रहता है । इसी प्रकार संत अगस्टिन ने लिखा है कि ईश्वर ने मानव को अपने लिये रचा है और जब तक हम ईश्वर को प्राप्त नहीं कर लेते, हमें शांति नहीं मिलती है। फिर धर्मदार्शनिक जस्टिन ने (लगभग सन् १००-१६०) कहा है कि धर्म मानव की सर्वव्यापक व्यवस्था है क्योंकि सभी विश्वास 'एक' आदि शब्द से जुटा हुआ है । इस संदर्भ में कूज़ा के निकोलस की युक्ति भी उल्लेखनीय है । उन्होंने बताया है कि एक ही ईश्वर विभिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न नामों से, भिन्न भिन्न नबियों और धर्मशिक्षकों के द्वारा भिन्न भिन्न युगों में पूजित होता आया है ।

इस संदर्भ में दो प्रश्न उठते हैं, अर्थात् मानव के अन्दर कौन ऐसी प्रेरणा है जिसके रहने से मानव बिना किसी न किसी धर्म के नहीं रह सकता है, और फिर एक ही परम

सत्ता को मानव क्यों भिन्न रूप देकर पूजता है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर क्रमशः स्पष्ट हो जायगा। अब प्रश्न लें, मानव के अंदर कौन ऐसी प्रेरणा है जिसके बिना किसी धर्म को अपनाये हुए वह चैन नहीं ले सकता है ?

दार्शनिक स्तर पर पाश्चात्य और प्राच्य, दोनों परंपराओं में माना गया है कि मानव आत्मा नित्य, शुद्ध और बुद्ध है, पर किसी न किसी कारण से वह शुद्ध आत्मा इस मानव शरीर में वास कर इस संसार में भ्रमण करती है। प्लेटो ने फीडो और फिड्रस में बताया है कि मानव आत्मा अमर और नित्य है। उन्होंने मानव के आवागमन की भी बात कही है। पर विशेष बात उनकी यह है कि मानव को ऐहिक जीवन में अपनी पूर्व-स्थिति का अनुस्मरण (reminiscence) होता है और यही याद मानव को उत्प्रेरित करती है कि वह अपनी पूर्व नित्यता और परिशुद्धता को प्राप्त करे। यही याद मानव की प्रेरक होकर मानव को किसी न किसी धर्म को अपनाने के लिये बाध्य करती है। जो बात प्लेटो के दर्शन में बतायी गयी है वही बात भारतीय जैन, सांख्य-योग तथा वेदान्त के संदर्भ में भी कही जा सकती है।

जैन, सांख्य-योग तथा वेदान्त (विशेषकर विशिष्टाद्वैत) के अनुसार मानव आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य एवं चैतन्यपूर्ण है। पर अज्ञानवश यह संसार-चक्र में फँस कर दुःख भोगती है। अब मानव की शुद्ध आत्मावस्था उसे इस बंधन में नहीं रहने देती है। वह मानव को अपनी पूर्ण अवस्था प्राप्त करने के लिये आलोड़ित करती रहती है। अतः, मानव अपनी पूर्व पूर्णावस्था को प्राप्त करने के लिये देवी-देवताओं तथा अन्य धार्मिक व्यापारों की ओर मुड़ता रहता है। यही कारण है कि धर्म मानव का स्वभाव-गुण रहता है।

वर्तमान युग में दार्शनिक परंपरा का अनुसरण कर पॉल तीलिख (सन् १८८६-१९६६) ने बताया है कि मानव बिना धर्म के रह ही नहीं सकता। जब कोई एक प्रकार के धर्म को छोड़ देता है तब वास्तव में कोई अन्य धर्म होता है उसी को अपनाकर वह अपने पूर्वधर्म को छोड़ता है।

God can be denied only in the name of god. One God can deny the other one. A God disappears; divinity remains, the act of faith includes the denial of God. But ultimate concern cannot deny its own character as ultimate.

अतः, तीलिख के अनुसार मानव बिना किसी न किसी धर्म के चैन नहीं पाता है।

बीसवीं शताब्दी में अनेक विचारकों ने बताया है कि मानव के अंदर पूर्णत्व (holism) की भावना है और यही भावना मानव को अनुप्रेरित करती रहती है कि मानव अपने को पूर्ण बनावे। अरस्तू, शामुएल अलेक्जाण्डर, जे० सी० स्मट्स, पॉल

तीलिख इत्यादि इस जैविक पूर्णता के सिद्धान्त के समर्थक हैं। परन्तु इस दार्शनिक कल्पना को वैज्ञानिक रूप देने का स्थान हान्स ड्रिश (सन् १८६७-१९४०) को दिया जा सकता है। उन्होंने देखा कि यदि भ्रूणावस्था में भ्रूण को कुछ क्षति होती है तो उस भ्रूण के सभी शेष अंग मिलकर उस भ्रूण को पूर्ण होने में सहायक होते हैं। अत, प्रत्येक भ्रूण में पूर्णत्व की प्रेरणा पायी जाती है ताकि इस प्रेरणा के आधार पर प्रत्येक भ्रूण कालगति में एक स्वस्थ पूर्ण जीव बन जाय।

जो बात जैविक विज्ञान में देखी गयी है उसको मनोविज्ञान में भी पुष्ट कर इस पूर्णत्व के सिद्धान्त की आवृत्ति की गयी है। सी० जी० युंग ने बताया है कि मानव के अन्दर एक केन्द्रीयकरण की भावना है जो मानव को अपनी पूर्णता-प्राप्ति के लिये उद्वेलित करती रहती है। प्रत्येक उद्‌बुद्ध मानव के प्रथम पूर्वार्द्ध में व्यावहारिक जीवन की समस्यायें प्रमुख हुआ करती हैं। जब उद्‌बुद्ध मानव इस पूर्वार्द्ध की समस्याओं के प्रति सफल रूप से अभियोजित हो जाता है, तब उसे ऐसा मालूम देता है कि उसके जीवन की सांसारिक सफलता निरर्थक है। उसे अब अपना सफल जीवन अर्थहीन प्रतीत होने लगता है। क्यों? क्योंकि ऐसे उच्चकोटि के मानव ने अब तक अपनी आत्मा की ओर ध्यान नहीं दिया था। पर मानव केवल चित्त (बाह्यमुखी अभियोजन-कार्य हेतु चेतना) ही नहीं है। उसमें अवचेतन और अचेतन भी हैं जिसे भी मानव को ज्ञात रहना चाहिये। उद्‌बुद्ध मानव अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अब अपने अवशिष्ट मन के प्रति जागरूक हो जाता है और उसकी समस्याओं का समाधान कर अपने को पूर्ण बनाता है।

बाह्य समस्याओं से निपटकर अपनी आन्तरिक समस्याओं से अभियोजित होने के प्रयास में चार अवस्थान (Stages) देखने में आते हैं। इन चार अवस्थानों को दुरात्मा (Shadow), नारी-नर, आद्यप्रतिमा (anima-animus archetype), शक्तिपुंज व्यक्ति (mana personalities) और मंडल-अनुभूति (mandala experience) की संज्ञा दी गयी है। प्रत्येक आद्यप्रतिमा के निपटने में तीन प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, अर्थात् आरोपण (projection), तादात्म्यीकरण (identification) और स्वांगीकरण (पचा लेना, समझ लेना, assimilation)। सर्वप्रथम जब साधक अपने अचेतन में प्रवेशकर उसकी गुत्थियों को सुलझाने लगता है तब सबसे पहले दुरात्मा या शैडो उसके स्वप्न, दिवा-स्वप्न तथा कल्पना में आने लगती है। आरोपण की स्थिति में साधक को मालूम देता है कि वह सब ओर से भूत-प्रेत, शैतान, पिशाच इत्यादि से घिरा हुआ है। ऐसी स्थिति में वह तंत्र-मंत्र इत्यादि से अपनी सुरक्षा करने लगता है। यह स्थिति सन्तोषजनक समझी नहीं जायगी क्योंकि वास्तव में दुरात्मा मानव के अन्दर की अचेतन

आद्यप्रतिमा का ही रूप है। अतः, व्यक्ति अपनी शक्ति को आरोपित कर फिर अपनी ही शक्ति से उसके प्रति अभियोजन करने लगता है। इसलिये यह स्थिति अंतर्द्वन्द्व की है। जिससे मानव अपनी शक्तियों को खोता है और कुछ प्राप्त नहीं कर सकता है। दूसरी स्थिति तादात्म्यीकरण की है जिसमें साधक दुरात्मा से टक्कर न लेकर उसके साथ आत्मसात् कर लेता है। वह स्वयं दुरात्मा का कोई न कोई रूप धारण कर लेता है। वह कापालिक, अघोरी इत्यादि हो जाता है। अचेतन के समझने और उसके प्रति अभियोजन-कार्य में यह असफल होने की स्थिति है। तीसरी स्थिति में साधक समझने लगता है कि वास्तव में दुरात्मा उसी के अन्दर, उसकी कुत्सित वासनायें एवं पाशविक तृष्णायें हैं। ऐसा ज्ञान हो जाने पर साधक को अब कोई शत्रु नहीं दिखाई देता है। अब इस स्थिति को स्वांगीकरण कहा जाता है क्योंकि दुरात्मा में लिपटी हुई मानसिक शक्तियाँ शैडो-गाँठ से मुक्त होकर व्यक्ति के चेतन में चली आती हैं और अब उसको इस पर अपना आधिपत्य हो जाता है। अब साधक दूसरे अवस्थान अर्थात् नर-नारी सम्बन्धी आद्यप्रतिमाओं का सामना करने लगता है। नारी को नर की आद्यप्रतिमा और नर साधक को नारी की आद्यप्रतिमा उन सबों के चित्त में आ धमकने लगती हैं। इस अवस्थान में भी आरोपण, तादात्म्यीकरण और स्वांगीकरण की तीन स्थितियाँ होती हैं। आरोपण में नर साधक सुन्दर नारी की खोज में डॉन जुआन हो जाता है, तादात्म्यीकरण में साधक सखी-सम्प्रदाय के सदस्यों के समान नारी का रूप धारण कर लेता है और वास्तव में स्वांगीकरण में ही साधक लैंगिक तृष्णाओं से मुक्त होकर देवी-देवता तथा ईश्वरोपासना के तीसरे अवस्थान में पहुँचता है। यहाँ भी आरोपण, तादात्म्यीकरण की अपेक्षा स्वांगीकरण को ही तीसरे अवस्थान में सफल रहने को कहा जायगा। अन्तिम अवस्थान मण्डल अनुभूति कही गयी है। इस अवस्थान के आरोपण में साधक मानव को ही आराध्य देवता समझने लगता है तथा तादात्म्यीकरण में अपने को ही भगवान् (रजनीश के ऐसा) कहने लगता है। पर सफल एकांगीकरण की वह स्थिति है जिसमें देवी-देवता लुप्त हो जाते हैं और मानव अपनी आत्मपूर्णता की प्राप्ति कर लेता है।

पाठक समझ ले सकते हैं कि इसके अन्तर्गत भारतीय साधना परिलक्षित होती है। युंग के व्यक्तीयन-सिद्धान्त के आधार पर कहा जा सकता है कि पारसी धर्म में अहूर मज़दा के साथ अहरिमन का प्रत्यय दुरात्मा का आरोपण का उदाहरण हो सकता है। इसी प्रकार भारतीय और सूफी मत की परम्पराओं में पाशविक वृत्तियों पर आत्मविजय को स्वांगीकरण का उदाहरण बताया जा सकता है। पर इस सन्दर्भ में युंगीय मनोविज्ञान की व्याख्या और उसके महत्त्व पर बल नहीं दिया जा रहा है। यहाँ इतना ही भर कहा जा रहा है कि युंग के अनुसार प्रत्येक मानव में पूर्णता-प्राप्ति की भावना पायी जाती है। यही पूर्णता-प्राप्ति की प्रेरणा मानव को किसी न किसी

धर्म, देवी-देवता इत्यादि को ग्रहण करने के लिये विवश करती है। यही कारण है कि मानव बिना किसी धर्म के न रहने पर चैन नहीं ले सकता है।

संभवतः युंग को प्रयोगात्मक मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जायगा, पर गोल्डस्टाइन, अंग्याल, मास्लोव, लेकी, रौजर्स इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व का परीक्षणमूलक अध्ययन किया है। इन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार आत्म-साकारीकरण की प्रेरणायें सभी व्यक्तियों में पायी जाती हैं। चेतन के स्तर पर आत्म-साकारीकरण का भाव एक आदर्शरूपी बिंब में प्रतीत होने लगता है। इसलिये इन मनोवैज्ञानिकों की खोज के अनुसार कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना आदर्श रूप ही ईश्वर, या, निराकार रूप में ब्रह्म-निर्वाण का आधार होता है। अतः, कहा जा सकता है कि मानव के व्यक्तित्व-विकास में निहित ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रेरणा पायी जाती है जो उसे किसी न किसी धर्म को अपनाने को बाध्य करती है।

यद्यपि 'धर्म मानव का स्वभाव-गुण है' यह दार्शनिक चिंतन एवं मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध और पुष्ट होता है तो भी एक विशेष आपत्ति उठायी जाती है। यदि धर्म मानव का स्व भाव-गुण है, तो क्या वे सब व्यक्ति जो किसी भी धर्म को अपनाने में असमर्थ होते हैं, या, सभी धर्मों की आलोचना करते हैं तो क्या इन धर्म-निंदकों को भी 'धार्मिक' संज्ञा दी जा सकती है ? इस आपत्ति का संतोषजनक प्रत्युत्तर शांकर मत के संदर्भ में ही दिया जायगा। यहाँ केवल इतना ही भर कहा जा सकता है कि धर्म-निंदक प्रायः वे व्यक्ति होते हैं जिन्हें आधुनिक ज्ञान के आलोक में उनका परंपरागत धर्म ग्राह्य नहीं प्रतीत होता है (उदा० फ्रायड), अथवा जिन्हें धर्मों का दुरुपयोग देखकर धर्मों के प्रति अनास्था हो गयी है। फिर युंग के विचारों के संदर्भ में हम लोगों ने देखा है कि धर्म-विकास में कुछ ऐसी सीढ़ियाँ हैं जहाँ विकास न होकर मानव-ह्रास भी हो सकता है। धर्म की ही खोज में व्यक्ति औघड़ हो सकता है तथा काम विकृत (pervert) भी हो जाता है। यह बात बौद्धधर्म के तांत्रिकों में पायी गयी थी। इसलिये कुछ विचारक प्रत्येक युग में धर्मों के आलोचक रहे हैं। आधुनिक युग में 'ईश्वर-निधन-धारा' इसलिये फैली कि आधुनिक युग में पुराने मिथक अग्राह्य हो गये हैं। फिर धर्म विश्व-सौहार्द न फैलाकर हिंसा और घृणा करना भी सिखाते हैं। हमारे ही देश में धार्मिक कलह और तनाव सभी धर्मों के बीच देखा जाता है। इस संदर्भ में हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि प्रेम और घृणा अवियोज्य रूप से लिपटे रहते हैं। जहाँ कोई अमुक धर्म अपने धर्मावलंबियों के प्रति प्रेम और सौहार्द की शिक्षा देता है वहाँ अन्य धर्मों और उनके अनुयायियों के प्रति घृणा और हिंसा का भी पाठ सिखाता है। जेहाद, ईसाइयों के बीच रोमन कैथलिक—प्रोटेस्टेंट युद्ध इत्यादि भी इस बात के समर्थक हैं। अतः, इन स्थलों पर सावधानी की आवश्यकता है और समझ रखना है कि धार्मिक दुरुपयोग भी उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार धर्म का सदुपयोग। पर मानव

बिना किसी न किसी धर्म के चैन नहीं पा सकता है। हमें याद रखना चाहिए कि उदयनाचार्य ने मीमांसकों और चार्वाकों को भी धर्म-विहीन नहीं माना है। पाशविक वृत्तियों के परिमार्जन और शिक्षण के लिये धर्म एकमात्र मानव साधन है। बिना धर्म के मानव पशुवत् हो जायगा। यदि मानव को मानव रहना है तो उसे किसी न किसी धर्म को अपनाना ही पड़ता है। पर मानव बनने के प्रयास में मानव दानव भी बन सकता है, जैसा साम्प्रदायिक दंगों के अवसर पर देखा जाता है। कुछ लोग परंपरागत धर्मों को छोड़कर 'विज्ञान' को ही धर्म का रूप दे रहे हैं। परिणाम? परमाणु बम और मानव का भावी-विलयन। विज्ञान का वरदान भस्मासुर का रूप ले सकता है। अतः, यह भूल है कि धर्म से केवल मानव अभ्युदय ही होता है। नहीं, धर्म से मानव-संहार और उसका विनाश भी हो सकता है। इसलिये गीता के अनुसार तामसिक धर्म भी हो सकता है और किसी भी धर्म को तामसी रूप में लिया जा सकता है। धर्म चाहे तामसिक हो या सात्त्विक, पर बिना धर्म के मानव चैन नहीं पा सकता है।

अब इस पुस्तक के दूसरे दार्शनिक आधार पर भी दृष्टिपात किया जायगा जिसके अनुसार एक अतीत परम सत् है जिसे किसी न किसी रूप में धर्मों में अपनाया जाता है।

सभी धर्मों की आधारभूत सत्ता अतीत और अज्ञेय है

उपनिषदों में बताया गया है कि एक आधारभूत सत्ता है जो सभी वस्तुओं और घटनाओं में अंतर्निहित है (तैत्ति २:८;३,१०,४)। यह वह सत्ता है जो अग्नि में है, मानव हृदय में (मैत्री ६:१७;७:७) और इन सब वस्तुओं से भी परे है (बृहदा. ३.७.१;५.१५)। इसलिये यदि कोई इस आधारभूत सत्ता को जान ले तो वह सब को जान लेगा (बृहदा. १.४.७)। इस संदर्भ में छान्दोग्य का कहना है कि जिस प्रकार कोई मिट्टी के स्वरूप को जान लेने पर मिट्टी के बर्त्तनों के आधारभूत उपादान को जान लेता है; जिस प्रकार वह लोहे के स्वरूप से अवगत हो जाने पर लोहे से बनी सभी वस्तुओं के उपादानात्मक स्वरूप को जान लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म को जान लेने पर सभी अन्य विशिष्ट वस्तुओं और जीवों को जानने में व्यक्ति समर्थ होता है (छान्दोग्य ६:१.४–७)। ब्रह्म इस समस्त संसार का आधारभूत सार है (छान्दोग्य ६:९–१६)।

यह दार्शनिक चिंतन विकासवाद के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक धारा के अनुसार सर्वसम्मति से स्वीकारा जाता है कि निर्जीव पदार्थों से लेकर जीव और चेतन जगत् में विकास होता आया है और इस विकास क्रम की अवस्थायें अभी भी जारी हैं। इस विकासगति का न तो आदि और न अंत मानवों को ज्ञात है। अतः, वह शक्ति जो सभी वस्तुओं और जीवों के विकास की आधारभूत सत्ता है उसके अस्तित्व को स्वीकारा जा सकता है, पर उसके स्वरूप का और अंतिम लक्ष्य का परिज्ञान संभव नहीं है।

उपनिषदों के अनुसार भी समस्त जगत् की आधारभूत सत्ता अर्थात् ब्रह्म अज्ञेय है। इसे हम केवल नकारात्मक रीति से नेति, नेति ही बता सकते हैं, क्योंकि यह मानव बुद्धि की पकड़ से बाहर है (बृहदा. २.३.६;३.९.२६;४.२.४)। मैत्री उपनिषद् में बताया गया है कि ब्रह्म अज्ञात और अज्ञेय ही हो सकता है, क्योंकि हमारा ज्ञान उद्देश्य-विधेय, ज्ञाता-ज्ञेय के द्वयात्मक कैटिगरी के द्वारा ही संचालित होता है और जगत् की आधारभूत सत्ता जो ब्रह्म है, वह अद्वैत है। इसलिये ब्रह्म ज्ञान-परिधि से परे और अतीत है। इसी प्रकार बृहदारण्यक की प्रसिद्ध उक्ति है कि केन ज्ञाता ज्ञायते, अर्थात् सभी चेतना, सभी प्रकार के देखने, सुनने, समझने और जानने का आधार ब्रह्म ही है। उसी के कारण हम मानव सुनते, देखते और जानते हैं और जो किसी एक व्यक्ति विशेष और अन्य सभी मानवों में भूत, वर्तमान और भविष्य में एक रूप रह कर प्रत्यक्षीकरण, स्मरण तथा पहचानने इत्यादि का एकमात्र आधार है, वह किसी एक काल में अथवा किसी एक व्यक्ति विशेष की ज्ञान प्रक्रिया के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। ठीक इसी प्रकार कांट ने बताया है कि synthetic unity of apperception जो सभी लोगों की ज्ञान प्रक्रियाओं से एक समान आधारभूत रहता है, वह स्वयं मानव के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है। इसलिये उपनिषदों का निष्कर्ष है कि मानव मन और शब्द ब्रह्म-प्राप्ति में असमर्थ होते हैं : यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अतीत आधारभूत सत्ता को केवल निर्गुण, अद्वैत ब्रह्म ही के विषय अज्ञात और अज्ञेय नहीं माना जाता है, पर ईश्वरवादी भी ईश्वर को अदृश्य और अगोचर मानते हैं। यह बात कुछ न्याय वैशेषिक परंपरा में ही उपयुक्त नहीं है, वरन् सिमेटिक धर्मों में भी परमेश्वर को अज्ञात एवं अज्ञेय माना है। बाईबिल के निर्गमन ३:१४ में बताया गया है कि ईश्वर है, पर ईश्वर क्या है, यह अज्ञात एवं अज्ञेय है। फिर अय्यूब की पुस्तक ११. ७–८ में भी ईश्वर को अज्ञेय कहा गया है। संत पॉल ने भी ईश्वर को अगोचर माना है (योहन १.१८; कुलुसियों १:१५)।

यदि धर्म का विषय, चाहे ब्रह्म या निर्वाण या ईश्वर अज्ञात और अज्ञेय हो तो इससे निष्कर्ष क्या निकलता है? निष्कर्ष बहुत सरल रहते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक प्रकथन न तो सत्य हैं और न असत्य। क्यों? क्योंकि उन्हीं प्रकथनों को सत्य और असत्य कहा जाता है जिनका संबंध इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के साथ रहता है। ईश्वर तथा ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। इसलिये ईश्वर-संबंधी प्रकथनों को 'सत्य-असत्य' संज्ञा दी ही नहीं जा सकती है। यह ठीक है कि विज्ञान तथा व्यावहारिक जीवन के संदर्भ में प्रकथन सत्य-असत्य हो सकते हैं, पर धार्मिक प्रकथन सत्य-असत्य नहीं कहे जा सकते हैं। इस बात का यदि थोड़ा भी ज्ञान लोगों को हो जाय तो धर्म के नाम पर कलह और तनावपूर्ण स्थिति रहने नहीं पायेगी। फिर दार्शनिक चख-चुख भी समाप्त हो जायगी। कैसे?

चूंकि ईश्वर तथा ब्रह्म के संदर्भ में सत्यता-असत्यता का प्रसंग नहीं उठता है, इसलिये इस परिस्थिति में सत्यता-असत्यता की कसौटी भी अनुपयुक्त अथवा प्रसंगहीन होगी। सत्यता-असत्यता की कसौटी सत्यापन-मिथ्यापन का सिद्धान्त है। फ्लू, जे. सी. सी. स्मार्ट इत्यादि दार्शनिकों ने बताया है कि धार्मिक प्रकथन अर्थात् ईश्वर-संबंधी प्रकथन अमिथ्यापनीय हैं, इसलिये वे अर्थहीन और व्यर्थ के बकवास हैं। पर जब ईश्वर संबंधी प्रकथन सत्य-असत्य नहीं हो सकते हैं तो उनमें इनकी कसौटी भी प्रसंगहीन हो जाती है। अतः, इन भाववादियों (positivists) का निष्कर्ष ही तथ्यहीन तथा प्रसंगहीन है।

उपसंहार : निष्कर्ष यही निकला कि सभी धर्मों के तह में अतीत आधारभूत सत्ता है जो अज्ञात और अज्ञेय है। तो भी यह सत्ता सभी वस्तुओं और जगत् की आत्मा है जो उनमें रहकर उन्हें उद्वेलित करती रहती है। चूंकि यह अतीत सत्ता जगत् में अन्तर्निहित है, इसलिये इसे हम अपनी अनुभूति मूलक शब्दों के आधार पर वर्णित करना चाहते हैं। पर यह प्रयास विफल हो जाता है। उपनिषदों के अनुसार अन्तिम सत्ता ब्रह्म है जो अद्वैत है, परन्तु जनसाधारण की भाषा द्वयात्मक है। अतः, विज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन की भाषा के आधार पर ब्रह्म को नेति, नेति कहकर संतोष कर लेना पड़ता है। बौद्धों के अनुसार निर्वाण-गति में घटना-संघात ही समाप्त हो जाता है जिसके कारण अनात्म हो जाता है। जब अहभाव ही नहीं रहेगा तो शब्द कौन और कैसे प्रयुक्त हो पायेगा। अत, निष्कर्ष निकला 'निर्वाणं शान्तम्'। शंकर के अनुसार, सभी शब्द, अद्वैत वेदान्त की रचना, महावाक्य तथा शास्त्र तक भी अन्तिम ब्रह्मप्राप्ति में लुप्त हो जाते हैं। अतः, ब्रह्म वर्णनातीत है। पॉल तीलिख के अनुसार निरुपाधिक अतीत ही अन्तिम सत्ता है जिसे 'ईश्वर के परे ईश्वर' (God beyond God) कहा जा सकता है। इसकी प्राप्ति कर लेने पर सभी विशिष्ट धर्मों का विलयन हो जाता है। आधुनिक युग के महान् विचारक वित्तगिन्स्टाइन का कहना है कि परम सत्ता विश्व से बाह्य है और इसलिये इसे वैश्विक अनुभूति के आधार पर व्यक्त नहीं किया जा सकता है। अतः ईश्वर के उद्भासन में वह स्थिति हो जाती है जहाँ व्यक्ति को मौन हो जाना पड़ता है। पर इस मूक भाषा में ही सभी धार्मिक संभाषण की समाप्ति हो जाती और सभी धर्मों की एकता परिलक्षित हो जाती है।

तब क्या कान्ट के समान कहा जाय कि ईश्वर विश्वास अथवा फेथ का विषय है, पर ज्ञान का नहीं ? क्या इससे मानव को संतोष हो सकता है ? कान्ट ने स्वयं कहा था कि हमारी ईश्वर-पिपासा हमें अनुप्रेरित करती रहती है कि अज्ञेय ईश्वर को अपनी ज्ञान-परिधि के अन्दर ले आवें, यद्यपि हम जानते हैं कि यह प्रयास निरर्थक है। पर यह ज्ञान हो जाना कि अन्तिम सत्ता वह है जहाँ भाषा मूक हो जाती है, जहाँ संभाषण का अंत हो जाता है, इसे मानव जीवन की बहुमूल्य निधि और अनुभूति कहा जायगा। इसलिये

अज्ञेय को ज्ञेय करने का प्रयास दार्शनिक चिंतन का चरम लक्ष्य कहा जायगा। सभी ज्ञान निरर्थक अवश्य सिद्ध होंगे, भाषा मूक अवश्य हो जायगी पर यह मूक-अनुभूति, पूर्ण नीरवता भी धार्मिक ज्ञान प्राप्ति के लिये महत्वपूर्ण मानी जायगी।

चूंकि परम सत्ता सभी वस्तुओं और जगत् में अंतर्व्याप्त है, इसलिये इस जागतिक अनुभूति के आधार पर उस सत्ता का आभास किया जा सकता है। पर इस भान अथवा मात्र आभास को द्वयात्मक ज्ञान का रूप नहीं दिया जा सकता है। इस बातको टामस अक्वाइनस पॉल तीलिख, विट्गिन्स्टाइन और शंकर ने बताया है। अतः, इन युगप्रवर्त्तकों के विचारों की झाँकी प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

साम्यानुमान (Analogy)

संत टामस आक्वाइनस ने (१२२४-१२७४) साम्यानुमान के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। अक्वाइनस की मान्यता है कि ईश्वर अपरिमित और अतीत सत्ता है। उसी ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि की है। इसलिये ईश्वर को विश्व का कारण माना जा सकता है। अक्वाइनस (Aquinas) अरस्तूवादी हैं और 'कारण' प्रत्यय को भी अरस्तू के अर्थ में व्यवहृत करते हैं। अतः, ईश्वर इस विश्व का सृष्टिकर्ता रहने के कारण वह इस विश्व का उपादान, निमित्त और उद्देश्यमूलक कारण है। यदि किसी कहानी, कविता तथा अन्य कला का कोई उद्देश्य जान जाय तो वह इन कला-कृतियों से फलाकार के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर लेगा। जैसे कहा गया है,

खुलता किसी पर क्यों मेरे दिल का मुआमला,
शेरों के इंत्खान (चयन) ने रुसवा किया मुझे॥

चूंकि ईश्वर इस विश्व का उद्देश्य मूलक कारण भी है, इसलिये इस सृष्टि पर ध्यान देने से ईश्वर के संदर्भ में उसके विषय में ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस प्रसंग में अक्वा-इनस की तीसरी मान्यता है कि मानव ईश्वर का अस्तित्व जानते हैं, पर ईश्वर का हम सारतत्व (essence) नहीं जानते हैं, अर्थात् बाईबिली उक्ति के अनुसार मानव इतना ही जानते हैं कि ईश्वर है, पर वे नहीं जानते कि वह क्या है (We know that God is, but not what he is), अर्थात् हमें ईश्वर के गुण का ज्ञान नहीं होता है।

चूंकि ईश्वर, मानव और सृष्टि से अतीत है, इसलिये मानव को सांसारिक वस्तु और अनुभूति के आधार पर ईश्वर-ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। फिर चूंकि ईश्वर अपरिमित है और मानव सीमित जीव है, इसलिये सीमित मानव असीम ईश्वर के विषय में ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। दर्शन में इस स्थिति को अज्ञेयवाद (agnosticism) कहा जाता है, अर्थात् इस स्थिति में हम ईश्वर का मात्र अस्तित्व जानते हैं, पर उसके ज्ञान के विषय में पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं। परंतु धार्मिक दृष्टि के अनुसार यदि हम इतना

ही भर जानें कि ईश्वर है, पर यह न जानें कि वह मानव की प्रार्थना सुनता है, उसका प्रत्युत्तर करता है, करुणामय और प्रेमी है इत्यादि तो इस प्रकार का ईश्वर शायद ही उपास्य कहा जायगा। उदाहरणार्थ, जैनियों के लिये भगवान् महावीर शाश्वत और नित्य हैं, पर वे किसी भी भक्त की न प्रार्थना सुनते और न उसकी ओर प्रतिक्रियाशील होते हैं। इस दृष्टि से भगवान् महावीर की कोई उपासना नहीं करता है। पर ईसाई धर्म में ईसाई ईश्वर की पूजा करते हैं, उससे प्रार्थना करते हैं और ईश्वर को दयालु और प्रेमी मानते हैं। अतः, अक्वाइनस अज्ञेयवाद की स्थिति में नहीं रह सकते थे।

अक्वाइनस के अनुसार ईश्वर अपरिमित और अतीत अवश्य हैं और उसे सांसारिक वस्तुओं एवं अनुभूति के अनुसार अक्षरशः, अर्थात् अन्य सीमित वस्तुओं के समान सही-सही नहीं जाना जा सकता हैं। तो भी मानव को अपने टूटे-फूटे शब्दों के द्वारा ईश्वर का असाक्षात् एवं लाक्षणिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार के असाक्षात् ज्ञान को अक्वाइनस ने साम्यानुमानिक ज्ञान की संज्ञा दी है। साम्यानुमानिक ज्ञान को अनुपातमूलक कहा गया है और यह अनुपात वस्तुओं के बीच सादृश्यमूलक संबंध पर निर्भर करता है। सामान्य रूप से साम्यानुमानिक ज्ञान वह ईश्वर-संबंधी ज्ञान है जिसे मानव अपनी क्षमता के अनुसार ईश्वर द्वारा सृष्ट वस्तुओं के क्षमता-अनुपात से जान सकता है। सर्वप्रथम मानव सीमित है और इसलिये ईश्वर-संबंधी ज्ञान भी सीमित ही हो सकता है। द्वितीय, यह ज्ञान उतनी ही दूर संभव है जितनी दूर सृष्ट वस्तु अपने सृष्टिकर्ता ईश्वर को परिलक्षित करने में समर्थ मानी जा सकती है।

साम्यानुमानिक ज्ञान की चर्चा पहले ही कर दी गयी है[1]। इसलिये यहाँ अति-संक्षेप में इसका उल्लेख किया जायेगा। यह वह ज्ञान है जो वस्तुओं के आपसी संबंध के साम्य के अनुपात से प्राप्त होता है। यह दो प्रकार का माना जाता है, अर्थात् अनुपातमूलक साम्यानुमान (analogy of proportionality) और विशेषणात्यक साम्यानुमान (analogy of attribution)। अनुपातमूलक साम्यानुमान के अनुसार ईश्वर और सृष्ट वस्तुओं का धर्म उनके सारतत्त्व के अनुपात से जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ,

कुत्ते की बुद्धि	: :	मानव बुद्धि	: :	ईश्वरीय बुद्धि
कुत्ते का सारतत्त्व	: :	मानव का सारतत्त्व	: :	ईश्वरीय सारतत्त्व

यह ठीक है कि कुत्ते और मानव, दोनों में बुद्धि का धर्म पाया जाता है। पर कुत्ते की बुद्धि उसके अपने अनुपात से ही समझी जा सकती है। कुत्ता कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो वह न्यूटन तथा किसी भी ज्ञानीके समान बुद्धिवाला नहीं कहा जा सकता है अब हमलोग मानव और ईश्वर, दोनों को बुद्धिमान कहते हैं। पर मानव कितना ही

---

१. देखें, 'सामान्य धर्मदर्शन'।

बुद्धिमान क्यों न हो वह ईश्वर की बराबरी नहीं कर सकता है। ईश्वर की तुलना में मानव बुद्धि तुच्छ कही जायगी अथवा मूर्खता। वास्तव में ईश्वर इतना महान् है कि हम ईश्वर की बुद्धि का अंदाजा भी नहीं लगा सकते हैं। इस स्थिति में हम ईश्वर के गुणों को नेति, नेति कहकर मूक हो जाते हैं। अनुपातमूलक साम्यानुमान अंत में नकारात्मक ज्ञान का रूप ले लेता है। इसका कारण है कि ईश्वरीय बुद्धि ईश्वरीय सारतत्व पर निर्भर करती है। पर अक्वाइनस के अनुसार ईश्वर का स्वरूप अर्थात् उसका सारतत्व अज्ञात अज्ञेय रहता है। इसलिये मानव ईश्वरीय बुद्धि/ईश्वरीय सारतत्व को जानने में हमेशा विफल रहेगा। यही कारण है कि अनुपातमूलक साम्यानुमानिक ज्ञान अंत में अज्ञेयवाद का रूप धारण कर लेता है। इस स्थिति से बचने के लिये संत टामस ने विशेषणात्मक साम्यानुमान भी प्रस्तुत किया है जिसे साम्यानुमानिक ज्ञान का क्षीण रूप कहा गया है।

विशेषणात्मक साम्यानुमान में वे गुण जो उपयुक्त रूप से केवल मानव स्तर पर ही सही कहे जा सकते हैं, वे ईश्वर के संदर्भ में केवल लाक्षणिक रीति से व्यवहृत किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, कहा जाता है कि ईश्वर प्रेमी हैं या दयालु। अब मानव अवश्य एक-दूसरे के साथ प्रेम करता है, जैसे, पिता-पुत्र का प्रेम, माँ-बेटी का प्रेम, स्त्री-पुरुष का प्रेम, इत्यादि। पर क्या ईश्वर मानव से उसी प्रकार का प्रेम रखता है जो पिता पुत्र से, गुरु अपने शिष्य से, चित्रकार अपनी चित्रकारी से प्रेम रखता है। यहाँ कहा जाता है कि ईश्वर मानव से प्रेम रखता है, यह केवल रूपात्मक वर्णन है। ईश्वरीय प्रेम के तह में जाने के लिये नकारात्मक परिशोधन (refinement or purification by negation) की आवश्यकता पड़ जाती है। हमें कहना पड़ता है कि ईश्वरीय प्रेम, स्त्री-पुरुष का नहीं, पिता-पुत्र का नहीं, चित्रकार-चित्रकारी का नहीं। इस स्थिति में अंत में सभी ज्ञात प्रकार के प्रेम संबंध को नकारा जाता है और हम कितनी ही दूर तक इसे नकारते हुए ईश्वरीय प्रेम को परिशुद्ध क्यों न करें हम कभी भी इस ईश्वरीय प्रेम को भावात्मक रूप से व्यक्त नहीं कर सकते हैं। इसका मुख्य कारण है कि ईश्वर मानव से इतनी ऊँचाई-गहराई पर है कि सृष्ट वस्तु इतनी दूर पहुँच ही नहीं सकती है। यही कारण है कि God-talk is killed by a thousand qualifications.

निष्कर्ष क्या निकला ? यही कि मानव ईश्वर का साक्षात् ज्ञान कभी भी नहीं प्राप्त कर सकता है। इसका कारण है कि ईश्वर मानव से परे और अतीत है और ईश्वर-मानव का कहीं साक्षात् संबंध नहीं पाया जाता है। अतः, अक्वाइनस की ऐसी मान्यता ही है कि ईश्वर-संगोष्ठी संभव नहीं हो पाती है। इसलिये ईश्वर के दुराव को हटाने का प्रयास करना चाहिए ताकि मानव ईश्वर-आलाप में समर्थ हो सके। कारण-कार्य के संबंध के द्वारा सृष्टिकर्ता और सृष्टि के बीच ऐसा संबंध नहीं होता है कि

सृष्ट के आधार पर सृष्टिकर्ता को समझा जा सके। इसलिये ईश्वर की दूरी को कम कर मानव का ईश्वर के साथ साक्षात् संबंध रचकर पॉल तीलिख ने साम्यानुमान को परिष्कृत कर प्रतीक-सिद्धान्त (theory of Symbols) की मदद ली है। पर हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि साम्यानुमानिक ज्ञान के द्वारा मानव ईश्वर के संदर्भ में उसे टटोलना चाहता है और अपने टूटे-फूटे शब्दों के द्वारा ईश्वर का आभास प्राप्त करता है। यह आभास पॉल तीलिख के प्रतीकात्मक ज्ञान में कुछ दृढ़ अवश्य हो जाता है। अतः, अब पॉल तीलिख के प्रतीक-सिद्धान्त का अतिसंक्षेप में उल्लेख किया जायगा।

पॉल तीलिख़ का प्रतीकवाद (Symbolism) :

संत टामस की मुख्य देन है कि उन्होंने बताया है कि अतीत ईश्वर का ज्ञान ही संभव नहीं है और इसलिये ईश्वरानुभूति के विषय सत्य-असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता है। यही बात पॉल तीलिख (सन् १८८६-१९६६) के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है।

पॉल तीलिख़ भी ईश्वर को अतीत मानते हैं और कहते हैं कि ईश्वर का सत्त स्व-निहित है। उसे किसी वस्तु के समान वास्तविक नहीं समझना चाहिए। यह ठीक है कि ईश्वर को सर्वोच्च तथा परम पूर्ण सत्ता की संज्ञा दी जाती है। पर ये सभी शब्द प्रतीकात्मक हैं। कितने ही उच्चतम गुणों को ईश्वर में आरोपित क्यों नहीं किये जायँ, अंत में उच्चतम आरोपित गुण भी ईश्वर की महानता की तुलना में तुच्छ ही समझे जायँगे। अब कितना ही अधिक सीमित और अपरिमित के संबंध को अनुपातमूलक क्यों न कहा जाय, पर वास्तव में दोनों के बीच अत्यंत गहरी खाई है।

यदि ईश्वर एकदम अतीत हो तो ईश्वर और मानव के बीच किसी प्रकार का संबंध स्थापित नहीं हो पायेगा और भगवान् महावीर के समान ईश्वर भी उपास्य नहीं रह पायेगा। ईश्वर के संदर्भ में उसके प्रति अज्ञेयवाद और संदेहवाद (Scepticism) ही संभव हो पायेगा। तीलिख इस बात को समझते थे। इसलिये उन्होंने ईश्वर और जगत् के बीच संबंध भी स्थापित करने का प्रयास किया है। तीलिख के अनुसार ईश्वर, मानव (तथा कोई भी सीमति सृष्ट वस्तु) और मानव-ज्ञान में उभयनिष्ठता अथवा उभयतोमुखता (ambiguity) पायी जाती है।

ईश्वर स्वनिहित सत्ता अवश्य है, पर उसे स्वप्रकाशना में मानव की इस प्रकाशना को ग्रहण करने की क्षमता पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक सीमित वस्तु ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति पर निर्भर करती है, पर अंत में सभी सीमित वस्तु से ईश्वर अपरिमित रूप से परे और अतीत रहता रहता है। दूसरे शब्दों में ईश्वर स्व-निर्भर और अतीत अवश्य है, पर सृष्टिकर्ता रहने की हैसियत से उसे सीमित वस्तुओं

और मानवों में अंतर्हिहित एवं अंतर्लिप्त रहना पड़ता है। इसी प्रकार सीमित वस्तुयें ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति पर निर्भर रहती हैं, पर ईश्वर सर्वोच्चतम सीमित अभिव्यक्ति से परे, अतीत और अतिक्रमित रहता है।

चूँकि ईश्वर और जीव, दोनों में यह उभयतोमुखता पायी जाती है, इसलिये मानव का इश्वर-ज्ञान भी इसी उभयनिष्ठता का विषय हो जाता है। मानव-ईश्वर के मुखामुखी होने अथवा भिड़न्त में मानव की चेतना में ईश्वर का ऐसा बिंब उत्पन्न होता है जो ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। पर यह बिंब जिसे प्रतीक कहा जा सकता है, एक ओर ईश्वर का प्रदर्शक होता है तो दूसरी ओर इसे अधिक से अधिक मात्र प्रतिनिधिक ही कहा जा सकता है, अर्थात् ईश्वर-प्रतीक ईश्वर के असली स्वरूप का द्योतक नहीं होता है। अत, प्रत्येक प्रतोक भी उभयतोमुखी होता है। एक ओर ईश्वर का प्रदर्शन करता और फिर उसका साक्षात् बोधक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक सीमित वस्तु ईश्वर की तुलना में इतनी तुच्छ है कि वह ईश्वर को साक्षात् रीति से दिखाने में असमर्थ होती है। अतः, प्रत्येक प्रतीक ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता, पर अंत में ईश्वर का मात्र प्रतिनिधित्व होता और कभी भी वह ईश्वर का न तो कोई साक्षात् अंश हो सकता है और न उसका अक्षरशः या साक्षात् परिचायक हो सकता है।

प्रत्येक प्रतीक उभयतोमुखी होता है। एक ओर प्रतीक सीमित वस्तु को ईश्वरमुखी कर देता है और फिर इसी सीमित रूपी प्रतीक के द्वारा अपरिमित सत्ता को सीमित तल पर खींच लाता है। ऐसा करने से स्वयं प्रतीक में व्यवहृत सीमित वस्तु का उन्नयन हो जाता है। उदा० ईश्वर को प्रतीकात्मक रीति से 'पिता' कहा जाता है। इस प्रकार ईश्वर को पिता कहने पर ईश्वर मानव तल पर चला आता और वह उपास्य हो जाता है। दूसरी ओर मानव पिता का स्थान भी पवित्र होकर उत्कर्षित हो जाता है। पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न है : क्या सीमित वस्तु अतीत ईश्वर का प्रतिनिधित्व कर सकती है? हाँ, क्योंकि प्रत्येक सीमित वस्तु अतीत एवं अपरिमित सत्ता में भागी होती है पर केवल सीमित रीति से। इसलिये सीमित और सृष्ट स्तर पर जितनी दूर तक सीमित वस्तु अतीत सत्ता को व्यक्त करने में समर्थ होती है, उतनी ही दूर तक प्रतीक भी ईश्वर को व्यक्त करने में समर्थ होता है। पर याद रखना चाहिए कि ईश्वर सभी सीमित वस्तुओं से परे और अतीत रहता है।

अतः, तीलिख के प्रतीकवाद में अक्वाइनस के साम्यानुमान की झलक आ जाती है और स्वयं तीलिख इसे स्वीकारते हैं। दोनों धर्म विचारकों के अनुसार सीमित वस्तु असीमित सत्ता को बोध कराने में असमर्थ होती हैं। अंतर यह है कि तीलिख स्वीकारते है कि ईश्वर भी अपनी प्रकाशना सृष्ट वस्तुओं के द्वारा करता है और फिर सीमित एवं सृष्ट वस्तुयें परम सत्ता में भागी होती हैं। इसलिये ईश्वर कितना ही अधिक दूर और

अतीत क्यों न हो वह अंत में सीमित वस्तुओं में अभिव्यक्त होता है। यही अभिव्यक्ति सीमित और असीमित को जोड़ती है। हाँ, सीमित अभिव्यक्ति कभी भी पूर्ण ईश्वर को साक्षात् रूप से व्यक्त नहीं कर सकती है।

न तो सीमित केवल सीमित है और न ईश्वर स्वनिहित ही है। सीमित वस्तु ईश्वर के संपर्क में आकर अपरिमित की ओर उत्कर्षित होती है और फिर ईश्वर भी उसी अनुपात में सृष्ट वस्तु के स्तर पर चला आता है। अतः, मानव और ईश्वर, दोनों की ही गति उभयतोमुखी रहती है और फिर ईश्वर का प्रतीकात्मक ज्ञान भी उभयतोमुखी हो जाता है। इस स्थिति में प्रतीक न तो शुद्ध ज्ञान है और न पूर्ण अज्ञान। क्या यह शंकर की 'माया' के समान अनिर्वचनीय है, अथवा सदसद-विलक्षण है? कुछ इसका आभास अवश्य है, पर इस प्रश्न का उत्तर बिना तीलिख के प्रतीक-सिद्धान्त की व्यख्या किये हुए संभव नहीं कहा जायगा। इसलिये अब प्रतीक-सिद्धान्त को स्पष्ट किया जायगा।

प्रतीक-सिद्धान्त

तीलिख की मान्यता है कि व्यापक अर्थ में धर्म मानव का स्वभावगुण है। इनके अनुसार मानव के अन्दर एक सतत पिपासा, जिज्ञासा, लगन और धुन है जो मानव को उसकी परम सत्ता के साथ संपर्क स्थापित करने के लिये उसे उद्वेलित एवं प्रेरित करती रहती है। संभव है कि कोई अमुक व्यक्ति अपनी जिज्ञासा के प्रति जागरुक न रहकर तटस्थ जीवन व्यतीत करे और अपने को एक बनावटी मानव की नकल बना ले। इस उदासीन मानव अवस्था को मानव की सच्ची अवस्था नहीं कही जायगी। इस दशा में मानव अपने को ही नहीं जानता है और न जानने का प्रयास ही करता है। अपनी समस्याओं से अनजाने हो जाने पर व्यक्ति प्राणी अवश्य रहता है, पर वह सच्चा मानव का रूप नहीं हो सकता है। भारतीय आधारभूमि में सच्चा और जागरुक व्यवित वह है जो प्रश्न करता है :

कोऽहं, कस्त्वम् कुतः आयातः।

पर जैसे ही व्यक्ति अपनी अंतिम धुन से अनुप्रेरित होकर अपनी परम सत्ता के साथ संपर्क स्थापित करने लगता है तब परम सत्ता का उसे बिंब, झलक दिखाई देने लगता है। जब परम सत्ता जो मानव का आधार है, व्यक्ति के संपर्क में आती है तब सत्ता का विभिन्न रूप उस व्यक्ति को आभासित होने लगता है और इसके समरूप वह व्यक्ति भी उत्थित होकर (ऊपर की स्थिति में आकर) एक परिवर्तित जीव हो जाता है। एक ओर परम सत्ता की प्रकाशना होती और दूसरी ओर समरूप ही मानव में भी उसे उत्थित कर उस प्रकाशना को ग्रहण करने योग्य शक्ति हो जाती है। इस अवस्था

में जो बिंब या शब्द प्रयुक्त होते हैं उसे प्रतीक कहते हैं । प्रतीक उभयतोमुखी होते हैं । एक ओर प्रतीक-द्वारा मानव के अंदर एक नया आयाम खुल जाता, वह त्रिनेत्र हो जाता और दूसरी ओर परम सत्ता का झरोखा खुल जाता और वह एक नयी दिव्य ज्योति में दिखायी देता है । पर प्रतीक कितना ही अधिक मानव को त्रिनेत्री और जागरुक क्यों न बनावे, इस उन्नत एवं उत्थित अवस्था में भी मानव परम सत्ता का साक्षात् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है । फिर अतीत सत्ता की झलक कितनी अधिक प्रतीकों के द्वारा क्यों न हो, वह सभी प्रतीकों का सामान्य आधार रहता हुआ सभी प्रतीकों के परे रहता है ।

प्रतीकों के द्वयार्थक अथवा उभयतोमुखी स्वरूप को समझते हुए प्रतीकों के निम्न-लिखित लक्षण बताये जा सकते हैं ।

१. ठीक जिस प्रकार से शंकराचार्य शिव या विष्णु भगवान् को प्रतीक समझते हैं, उसी प्रकार तीलिख़ भी ईसा को परम अतीत का प्रतीक ही समझते हैं । इस बात को ध्यान में रखकर कहा गया है कि प्रतीक अपने से परे परम सत्ता की ओर निर्देश करता है और वह स्वयं परम सत्ता का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है । इसलिये 'ईसा' को भी परम सत्ता नहीं कहा जा सकता है । इस रूप में प्रतीक चश्मे के लेन्स के समान है जिसके द्वारा परम सत् का आभास मिलता है, पर जो स्वयं आभास का विषय नहीं होता है । अतः, प्रतीक आत्मनिषेधक (Self-negating) कहा जा सकता है । यह परम अतीत का उद्भासन मात्र करता है, पर प्रतीक स्वयं उद्बोधन का विषय नहीं होता है । यह परम सत् के उद्बोधन का मात्र साधन होता है, न कि लक्ष्य ।

२. प्रतीक तभी प्रतीक कहा जा सकता है जब इसके द्वारा साधक को परम सत् की बोधि प्राप्त हो, उसमें दिव्य-ज्योति जागृत हो, उसमें अदम्य बल का संचार हो—

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़ै गिरिवर गहन ।

इस अर्थ में 'राम-नाम' को प्रतीक कहा जायगा, क्योंकि संत तुलसीदास को इसके द्वारा नयी ज्योति और नयी शक्ति प्राप्त हुई थी । इस रूप में तीलिख़ के अनुसार मानव प्रतीक की उस शक्ति को प्राप्त करता है जो परम अतीत से निकलती है । अन्तिम रूप में परम सत् ही सभी वस्तुओं का और प्रतीक का भी आधार होता है । अतः, प्रतीकों के द्वारा मानव की आधारभूत सत्ता और उसकी शक्ति भी साधक को प्राप्त होती है ।

३. बिना प्रतीकों के परम सत्ता की झलक नहीं प्राप्त हो सकती और न परम सत्ता का नया आभास । 'अल्लाह' नाम में ही ऐसा जादू था कि पैग़म्बर मुहम्मद को

परम सत्ता के संदर्भ में उसका एकेश्वरवादी रूप प्रगट हुआ। इसी प्रकार 'ईसा' के प्रतीक के द्वारा संत पॉल को परम सत्ता के क्षमाशील प्रेम का आभास प्राप्त हुआ। अतः, प्रतीकों के द्वारा साधक का ही रूप उदात्त हो जाता और इसी उदात्त रूप के आधार पर परम सत् का उसे भिन्न-भिन्न, नया आभास मिलता है। बिना भक्त के भगवान् नहीं, और भगवान् के बिना भक्त नहीं।

४. प्रतीकों के द्वारा साधक में नयी ज्योति इसलिए चली आती है कि प्रतीक साधक के अचेतन के बन्द द्वार को खोलने में समर्थ हो जाता है। मानव की अधिकांश शक्तियाँ अचेतन में सुप्त और दमित रूप में रहती हैं जिसके कारण मानव को अपनी पूर्ण शक्ति नहीं प्राप्त होती है। अचेतन के पट खुलते ही मानव को अपनी ही दबी हुई शक्ति प्राप्त हो जाती है।

ध्यानयोग्य यह बात है कि प्रतीक किसी समाज और धर्म के लोगों को ही सशक्त बनाने में ही समर्थ होते हैं। राम-नाम का महामंत्र केवल राम-भक्तों को होता है। यहूदी, ईसाई, इत्यादि अन्य धर्मावलंबियों को इस मंत्र से कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार 'क्रूश' से ईसाई ही और त्रिशूल से शैव्य ही प्रभावित होता है। यही कारण है कि किसी अमुक धर्मभाषा का ज्ञान और उसका प्रभाव उस धर्मविशेष के समुदाय ही में सीमित रहता है। इसी कारण के रहने पर धर्मों में आपसी समझ और मेल नहीं हो पाता है।

५. चूँकि प्रतीक मानव के सामूदायिक अचेतन से निकलता है। इसलिए कालगति में इसका उदय और अस्त होता है। जब परिस्थिति अनुकूल होती तो किसी अमुक प्रतीक का उदय होता, उसका प्रचार-प्रसार होता है। परन्तु ज्ञानवृद्धि तथा अन्य कारण से जब परिस्थिति बदल जाती है तो उस प्रतीक-विशेष का विलयन भी हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक समय पाश्चात्य जगत् में साँढ़ और लिङ्ग की पूजा होती थी, पर कालगति के साथ यह पूजा वहाँ लुप्त हो गयी। इसी प्रकार अरब देश में भी अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी, पर इस्लाम के उदय के साथ वे देवी-देवता विलुप्त हो गये हैं। अभी इस युग में भी ईसा का कुँवारी से जन्म लेना, ईसा का स्वर्गारोहण इत्यादि वैज्ञानिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के साथ इन मिथकों का विलयन हो रहा है।

मिथक अनेक प्रतीकों को मिलाकर कथा के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। अतः, मिथक प्रतीक-माला कहा जा सकता है। इसलिए धार्मिक मिथक युग और संस्कृति-निर्भर रहते हैं। पर धर्म का विलयन नहीं होता। एक मिथक बदल कर दूसरे मिथक का रूप धारण कर लेता है, पर कोई न कोई मिथक अवश्य रहता है।

अतः, प्रतीक एवं मिथक कालगति और संस्कृति पर निर्भर करते और इसलिए उन्हें सापेक्ष (relativc) कहा जा सकता है। चूँकि प्रतीक मानव के अचेतन से निकलते

हैं और यह सामुदायिक अचेतन परिवर्तनशील होता है, इसलिए प्रतीक भी परिवर्तनशील रहते हैं। तीसरी बात है कि प्रतीक में आन्तरिक असन्तुलन रहता है। एक ओर प्रतीक अपरिमित सत्ता का निर्देश करता है और इसके द्वारा उसका उद्भासन भी साधक को को प्राप्त होता है, पर अपरिमित सत्ता प्रतीकों का निषेध भी करती है क्योंकि अपरिमित सत्ता सभी सीमित वस्तुओं से परे और अतीत होती है और सीमित प्रतीक उसे सम्पूर्णतया कभी भी छू नहीं सकता है। चूँकि प्रतीक सापेक्ष, परिवर्तनशील और आन्तरिक रीति से असंतुलित रहते हैं, इसलिए किसी भी धर्म में विरोधी तत्त्व अवश्य होंगे। कालगति में अथवा प्रगतिशील संस्कृति में प्रतीकों का क्षीण होना, उनका प्रबुद्ध विचारकों द्वारा विरोध करना आवश्यक प्रतीत होता है। फिर यदि प्रचलित प्रतीकों का विरोध न किया जाय तो साधन-रूप प्रतीक, परम सत्ता का स्थान ग्रहण कर धर्म का चरम लक्ष्य बन जाता है। इसे ही मूर्तिपूजा (idolatry) कहा जाता है जिसमें कोई सीमित प्रतीक को भ्रमवश अपरिमित सत् स्वीकार कर लिया जाता है। अब आवश्यक है कि धार्मिक विकास के क्रम में प्रचलित मूर्तिपूजा का विरोध किया जाय। इसी विरोधविधि (protestant) को मूर्तिभंजन (iconoclasm) भी कहा गया है। इसी मूर्तिभंजन के क्रम में मानव अनुभूति गहरी और ऐसी पैनी हो जाती है कि उसे परम सत्ता का आभास स्पष्ट होता जाता है।

तीलिख के अनुसार ईश्वर-प्रत्यय के भी दो पक्ष हैं। एक पक्ष जो ईश्वर के विषय बिना किसी प्रतीक के, साक्षात् रीति से कहा जा सकता है, वह है कि ईश्वर है। पर इस एक कथन को छोड़कर जो कुछ ईश्वर के गुण इत्यादि के विषय में कहा जाय वह प्रतीकात्मक होगा। अब तीलिख का कहना है कि हमारी धर्मानुभूति इतनी दूर तक पहुँचनी चाहिये जिसमें हम ईश्वर-संबंधी प्रतीकात्मक प्रकथनों का खंडन कर उस परम ईश्वर तक पहुँच सकें जो सभी प्रतीकों से परे और अतीत है, अर्थात् God beyond God. वास्तव में यह ईश्वर वही हो जाता है जिसे शंकर ने निर्गुण, निराकार ब्रह्मन् कहा है। प्रतीकात्मक ईश्वर (अर्थात् सगुण) से परे जब निर्गुण अथवा शुद्ध अतीत ईश्वर का हमें आभास मिलता है तब यह वह सत्ता प्राप्त होती है जिसे शब्द तथा प्रत्ययों के आधार पर वर्णित नहीं किया जा सकता है। इस सत् का न कोई नाम है, न इसकी कोई मंडली (धर्मसभा) है, न शास्त्रीय क्रियाकलाप है और न कोई धर्मदर्शन। परंतु यह वह सत् है जो सबके तह में उनका सामान्य आधार है। इस संदर्भ में शंकर और तीलिख का मत एक हो जाता है क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान में सभी धर्मों, सभी देवी-देवताओं, धर्मशास्त्र एवं वेदान्ती महावाक्यों तक का विलयन हो जाता है।

प्रतीकात्मक प्रकथनों की सत्यता का प्रश्न

उन्हीं प्रकथनों को 'सत्य-असत्य' कहा जाता है जिनका संबंध इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं

के साथ रहता है। ईश्वर अथवा अतीत परम सत् इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिये परम अतीत सत् के प्रसंग में प्रकथनों को सत्य और असत्य नहीं कहा जा सकता है। फिर उन्हीं प्रकथनों को सत्य-असत्य कहा जा सकता है जो सिद्धान्ततः सभी मानवों के लिये एकरूप तथ्य हों। पर प्रतीक किसी एक धर्मावलंबियों के लिये ही प्रभावशील रहता है। इसलिये धार्मिक प्रकथनों को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है। अपितु, उन्हीं प्रकथनों को सत्य-असत्य कहा जाता है जो विषयनिष्ठ अथवा बाह्यनिष्ठ हों, पर प्रतीकात्मक प्रकथन ज्ञाता-ज्ञेय के सम्मिश्रण से उभयनिष्ठ होते हैं। इसलिये प्रतीकात्मक प्रकथनों को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है। फिर तार्किकतः उन्हीं प्रकथनों को सत्य-असत्य कहा जाता है जो सभी कालों में एक-समान हों। पर प्रतीकात्मक प्रकथन कालगति में उदित होकर अस्त हो जाते हैं। अतः, प्रतीकात्मक प्रकथनों को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है कि तीलिख ने कहा है कि तथ्यात्मक प्रकथनों के समान प्रतीकात्मक प्रकथनों को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है।

यदि प्रतीकात्मक प्रकथन सत्य-असत्य नहीं होते तो इन्हें किन मूल्यों से आँका जा सकता है? तीलिख के अनुसार प्रतीकात्मक प्रकथन सच्चा-मिथ्या हो सकते हैं; उन्हें पर्याप्त-अपर्याप्त कहा जा सकता तथा उन्हें दिव्यात्मक-दुष्टात्मक (divine-demonic) की संज्ञा दी जा सकती है। 'सच्च' को सत्य से भिन्न समझना चाहिये। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं कि यह मोती सच्चा, अर्थात् खोटा नहीं है। इसी प्रकार प्रतीकात्मक प्रकथनों को सच्चा या मिथ्या कहा जा सकता है। उसी प्रतीकात्मक प्रकथन को सच्चा कहा जायगा जिसे सामूहिक अचेतन ग्रहण करे और जो किसी अमुक धर्म-समूह के द्वारा स्वीकृत हो। फिर इसे ऐसा रहना चाहिये जिसके आधार पर अतीत परम सत् के आभास को प्राप्त किया जा सके। यदि प्रतीक को ही परम सत् के स्थान पर ग्रहण किया जायगा तो इसे मूर्तिपूजा कही जायगी। चूँकि प्रतीकों का संबंध आदिमानस से रहता है जहाँ से मानव मानसिक शक्ति प्राप्त करता है, इसलिये सच्चे प्रतीकात्मक प्रकथनों से भक्तों को बल मिलता है। फिर चूँकि प्रतीकात्मक प्रकथनों का संबंध परम अतीत सत् के साथ रहता है और परम अतीत सत् ही सभी सृष्ट वस्तुओं को उनके अस्तित्व में स्थिर किये रहता है, इसलिये प्रतीकात्मक प्रकथनों के द्वारा भक्तों में शक्ति का संचार होता है। इसलिये 'सच्चे' (authentic) प्रतीकात्मक प्रकथन वे हैं जिनके आधार पर किसी अमुक धार्मिक समुदाय के अनुयायियों में जीवन में संबल और शक्ति प्राप्त होती है। अन्यथा मिथ्या प्रतीकात्मक प्रकथन केवल जिह्वाप्रयोग है, उदा० मुँह में राम-राम, बगल में छुरी। सच्चे प्रतीकात्मक प्रकथनों से भक्त अनुप्राणित होता है, पर मिथ्या प्रतीकात्मक प्रकथनों से व्यक्ति के अंदर किसी प्रकार का अंतर नहीं होता है।

इसी प्रकार प्रतीकात्मक प्रकथनों को पर्याप्त-अपर्याप्त (adequate-inadequate) कहा जाता है। उस प्रतीक को पर्याप्त कहा जाता है जिसके आधार पर भक्त अतीत सत् के दर्शन (दिव्यज्योति) को व्यक्त करने में समर्थ होता है। पैग़म्बर मुहम्मद को जब अल्लाह का दिव्यदर्शन हुआ तो क़ुरान की अनुपम भाषा में वह व्यक्त हो गया। इसी प्रकार वाल्मीकि को दोहे का रूप प्राप्त हो गया है। अतः, प्रतीकात्मक प्रकथन के द्वारा दिव्यज्योति जब पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाती है तो उसे 'पर्याप्त' कहा जा सकता है, अन्यथा अपर्याप्त।

फिर लोग समझते हैं कि धार्मिक प्रतीक केवल मुद-मंगल-मूला ही होते हैं। ऐसी बात नहीं है। प्रतीक कल्याणकारी—अकल्याणकारी दोनों हो सकते हैं। उसी प्रतीकात्मक प्रकथन को दैविक अथवा दिव्यात्मक (divine) कहा जा सकता है जिसके आधार पर व्यक्तित्व का स्वस्थ गठन होता है, अर्थात् जिसके आधार पर चरित्रगठन, विमल विवेक और प्रखर बुद्धि होती है। अन्यथा प्रतीकात्मक प्रकथनों को दुष्टात्मक कहते हैं यदि उनके द्वारा व्यक्ति विक्षिप्तमानस हो जाता है, उदा० औघड़।

अतः, पॉल तीलिख़ के अनुसार धार्मिक प्रकथन सत्य-असत्य नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि प्रतीक कोई छवि नहीं है जिसका मिलान अतीत सत् के साथ किया जा सकता है। परम सत् जो सभी प्रकार के धर्मों के तह में रहता है, उसे कभी भी साक्षात् रूप से नहीं जाना जा सकता है। उसे हम केवल प्रतीकों के द्वारा मानव तल पर ला सकते हैं. पर प्रतीकात्मक प्रकथनों को सत्य-असत्य न कहकर उन्हें सच्च-मिथ्या (आप्त-अनाप्त), पर्याप्त-अर्पाप्त और दिव्यात्मक-दुष्टात्मक ही कहा जा सकता है।

अंत में तीलिख़ ठीक अद्वैतवादी के समान लिखते हैं कि वास्तव में प्रतीक केवल आरोपण ही हैं। पर आरोपण भी किसी न किसी प्रकार के चित्रपट पर ही आरोपित किया जा सकता है जैसे, दीवार या चित्रपट। दीवार या चित्रपट आरोपित नहीं होता है, पर यह वह आधार है जिस पर प्रतीक आरोपित किया जाता है। अपने में चित्रपट का कोई रूप-रंग नहीं होता, आरोपित प्रतीक का रूप-रंग होता है। पर क्या प्रतीक के रूप-रंग के आधार पर चित्रपट का रूप-रंग जाना जा सकता है? कहने का तात्पर्य है कि परम अतीत सत् के विषय आरोपित प्रतीक के द्वारा नहीं जाना जाता है। पर क्या चित्रपट का किसी प्रक़ार का ज्ञानाभास नहीं मिलता? एक बात तीलिख़ ने बतायी है कि प्रतीकों के द्वारा भक्तों के जीवन में परिवर्तन आ जाता है,—वे अपनी गहराई में पहुँचने लगते हैं। इसी बात को बहुत-कुछ विट्गिन्स्टाइन ने भी कहा है। वे भी बताते हैं कि धार्मिक सत् का हम चित्रण करते हैं, पर इस चित्रण को किसी सत् का सत्य-असत्य चित्रण नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, धार्मिक विषय किसी भी प्रकार की वास्तविकता नहीं है जिसके विषय कहा जाय कि धार्मिक चित्रण यथार्थ

या अयथार्थ है। अतः, अब विट्गिन्स्टाइन के मत का अतिसंक्षेप में उल्लेख किया जायगा।

विट्गिन्स्टाइन और धर्मभाषा :

विट्गिन्स्टाइन २० वीं शताब्दी के प्रमुख दार्शनिक हैं जिनके विचारों से अभी तक आँग्लभाषी विचारक प्रभावित रहते आये हैं। इनकी तीन प्रमुख पुस्तकें इनके विचारों की तीन अवस्थाओं में लिखी गयी थीं, अर्थात् Tractatus Logico-philosophicus, Blue and Brown Books और Philosophical Investigations, साक्षात् रूप से इन्होंने धर्मभाषासंबंधी कोई लेख नहीं प्रस्तुत किया है, पर इनके व्याख्यानों के आधार पर इनके विद्यार्थियों ने इनके विचारों को संकलित किया है। इन्हीं विद्यार्थियों के विचारों के आधार पर W. Donald Hudson ने 'Wittgenstein and Religious Belief' सन् १९७५ में प्रस्तुत की है जो इस संदर्भ में उपादेय पुस्तक है।

ट्रैक्टेटस में विट्गिन्स्टाइन ने दो प्रकार के प्रकथनों का उल्लेख किया है। एक प्रकार के प्रकथन विज्ञानों और जनसाधारण के तथ्यों (facts) में पाये जाते हैं जिन जिन तथ्यों का ये प्रकथन वर्णन करते अथवा उनके विषय सूचना देते हैं। ट्रैक्टेटस में इस प्रकार के प्रकथनों की उन्होंने विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। पर इस पुस्तक के अंत में उन्होंने बताया है कि रहस्य भी है जो मानव संगोष्ठी से परे और अतीत है। तो क्या रहस्यमय (the mystical) को अर्थहीन मानकर उसे त्याग दिया जाय ? नहीं। पर चूँकि इस पुस्तक में विट्गिन्स्टाइन ने वैज्ञानिक अथवा तथ्यात्मक प्रकथनों पर बहुत अधिक बल दिया था, इसलिये उनके अनुयायियों ने वैज्ञानिक अथवा तथ्यात्मक प्रकथनों की ही व्याख्या को विट्गिन्स्टाइन का एकमात्र सही सिद्धान्त समझा और भाववादी (posittivist) बनकर रहस्यमय के विषय प्रकथनों को वे अर्थहीन बकवास समझने लगे। इसका कारण था।

विट्गिन्स्टाइन ने तथ्यात्मक प्रकथनों की अर्थपूर्णता की कसौटी सत्यापन-असत्यापन और मिथ्यापन (Falsifiability) बताया था। एर, फ्लू इत्यादि भावबादियों ने बताया कि ईश्वर-सम्बन्धी प्रकथन न तो सत्यापित किये जा सकते हैं और न मिथ्यापित। अब जो प्रकथन न तो सत्यापित और न मिथ्यापित हो सकते हैं, उन्होंने उन प्रकथनों को अर्थहीन बकवास कहकर ठुकरा दिया। अतः, ईश्वर-सम्बन्धी प्रकथनों को भाववादियों ने अर्थहीन बकवास कह दिया। परन्तु इन भाषा-विश्लेषणवादियों ने विट्गिन्स्टाइन के प्रकथनों पर ध्यान नहीं दिया है। विट्गिन्स्टाइन ने तथ्यात्मक और रहस्यात्मक, दो प्रकार के प्रकथनों के बीच भेद किया था। उन्होंने सत्यापन-मिथ्यापन सिद्धान्तों को

तथ्यात्मक प्रकथनों की अर्थपूर्णता के ही लिये उपयुक्त बताया था। पर उन्होंने रहस्य-मय के सन्दर्भ में मूकभाषा का प्रयोग ही सही बताया था। तो क्या वह रहस्यमय जिसके संदर्भ में भाषा मूक हो जाती नकारा जा सकता है ? नहीं। विट्गिन्स्टाइन के लिये भाषा ही एकमात्र साधन है जिसके आधार पर हम जानते हैं कि क्या है और क्या नहीं है। रहस्यमय का सन्दर्भ मूल्य (आदर्श, Value), तर्कशास्त्र, नैतिक आदर्श एवं जीवन के मूल्यों के साथ है। यह स्पष्ट है कि मानव संगोष्ठी का संदर्भ ये सब भी मूल्य हैं। इन्हें हम नहीं नकार सकते हैं क्योंकि मानव संगोष्ठी में ये सब विषय भी सम्मिलित रहते हैं। पर इन दो प्रकार के विषय अर्थपूर्णता की कसौटियाँ भी भिन्न-भिन्न होंगी। रहस्यात्मक प्रकथनों की कसौटी सत्यापन-मिथ्यापन-सिद्धान्त नहीं है। मूल्यों के विषय वर्णानात्मक (descriptive) भाषा प्रयुक्त नहीं की जा सकती है। यहाँ इनकी कसौटी है उद्बोधनात्मकता। मूल्य हैं, पर इन्हें साक्षात् रीति से उँगली दिखाकर इंगित नहीं किया जा सकता है, पर प्रयुक्त भाषा में ये आभासित होते हैं। They can he shown, but cannot be said or directly pointed out.

उदाहरणार्थ, कोई एक अमुक चित्रकारी कोई एक चित्र बनाता है। हम उसके चित्र को देख सकते, उस चित्र का विवरण भी दे सकते हैं ; क्योंकि चित्र एक इन्द्रियग्राह्य वस्तु है। पर चित्रकार किस प्रकार सोचता-विचारता, हाथ डुलाता हुआ चित्रकारी करता है, इसे दिखाया नहीं जा सकता, पर चित्रकार प्रक्रिया में ही वह झलक जाता है। इसी प्रकार ईश्वर को कोई उँगली उठाकर बता नहीं सकता है कि देखो ! ईश्वर यहाँ आसीन हैं। परन्तु धार्मिक व्यक्तियों के द्वारा प्रार्थना करने, उनकी वन्दना तथा आराध्य देवता के प्रसंग में उसकी कथा, उसका माहात्म्य इत्यादि के द्वारा ईश्वर परि-लक्षित होता है।

उदाहरणार्थ, कृष्ण-भक्त उनकी गाथा गाते, उनकी रंगलीला को याद कर गद्गद हो जाते, उनकी माखनचोरी की बात सुनकर 'सजल नयन, पुलकित गात' हो जाते हैं। यदि हम इन भक्तों की कथा, स्तुति, वन्दना इत्यादि पर ध्यान दें तभी कृष्ण-भगवान् का माहात्म्य झलक जाता है। यही बात ईसा के सम्बन्ध में ईसाइयों की धर्मभाषा, बाइबिली दृष्टान्त, क्रूशीय मृत्यु इत्यादि में परिलक्षित होती है। पर यहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता है कि ईसा इस चर्च में हैं या किसी अमुक स्थान में हैं।

The reality of Krishna or Je us shows itse.f.

पर बुद्ध भगवान् अथवा ईसा ऐतिहासिक जीव थे, तो क्या यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं है कि इनका जन्म अमुक अमुक स्थानों में तथा कालों में हुआ ? जहाँ तक बुद्ध भगवान् तथा ईसा ऐतिहासिक व्यक्ति थे वहाँ तक वे पूज्य नहीं हैं। क्योंकि ये व्यक्ति एक समय जीवित अवश्य थे, पर ये अब इस समय पृथ्वी पर नहीं हैं। अब जो है नहीं,

उसकी आराधना ही कोई क्यों करेगा ? बुद्ध भगवान् की पूजा इसलिए है कि धर्मकाय के रूप में वे सभी स्थलों और कालों में विद्यमान हैं। इसी प्रकार ईसा भी ईसाइयों के लिए नित्य और शाश्वत् हैं। परन्तु जो सभी देश, काल और पात्र के लिए हो वह तथ्य नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी तथ्य इन्द्रियग्राह्य होकर किसी देश या काल में सीमित रहता है। पर यदि धार्मिक कथाओं और आराध्य देवताओं के माहात्म्य को तथ्य नहीं समझा जाय तो इन कथाओं, उनके जीवन वृत्तान्तों को क्यों लिखा जाता है ? इनका क्या उद्देश्य होता है ?

इन कथानकों, स्तुतिगान, जीवन-गाथाओं का मुख्य उद्देश्य है कि भगवान् के अस्तित्व को भक्तों में उद्भासित (avoke) करें। जब भगवान् का अस्तित्व इन भक्तों को उद्बोधित हो जाता है तब तो स्वयं भगवान् ही उन्हें मिल जाते हैं। उन्हें अब इन कथाओं की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उदा० सीढ़ियों के सहारे कोई अमुक व्यक्ति कोठे की छत पर चढ़ जाता है, पर वहाँ पहुँचकर फिर उसे सीढ़ियों की आवश्यकता नहीं होती। यह बात अद्वैतवादियों के सिद्धान्त के ही समान है। अद्वैत वेदान्त दर्शन और उसके महावाक्यों का उद्देश्य है कि खोजियों को ब्रह्म-ज्ञान (ब्रह्मप्राप्ति) हो जाय। जब इन महावाक्यों के आधार पर अद्वैतवादी को ब्रह्म-प्राप्ति हो जाती है, तो इन महावाक्यों की फिर कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। ये महावाक्य उन दंडों के समान हैं जिनके सहारे कोई एक लँगड़ा एक स्थान से दूसरे स्थान जाता है। पर अपने लक्ष्य-स्थल पर पहुँचने पर वह दंडों को रख देता है। उसको फिर इस स्थल पर पहुँचने पर इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती है। ठीक सीढ़ी या लँगड़े के दंडों के समान ये कथानक, ये मिथक का काम है कि भक्त अपनी गहराई में भगवान् के अस्तित्व का आस्वादन करें, उसकी विद्यमानता का वे उद्बोधन करें। इन मिथकों और कथानकों के द्वारा भक्तों का जीवन परिवर्तित हो जाता है, जैसा, बाल्मीकि तथा तुलसीदास के जीवन से चरितार्थ हो जाता है। पर इन कथाओं को अथवा ईश्वर-संबन्धी गाथाओं और मिथकों को तथ्यात्मक नहीं समझा जा सकता है। इसी बात को विट्गिन्स्टाइन ने दूसरे शब्दों में भी बताया है।

भक्तों को ईश्वर उनके जीवन का चरम उद्देश्य प्रतीत होता है और सम्पूर्ण ब्रह्मांड का लक्ष्य। पर क्या ब्रह्मांड के लक्ष्य को किसी आनुभविक वस्तु, बिंब इत्यादि के द्वारा बताया जा सकता है ? विट्गिन्स्टाइन बार-बार कहते हैं कि ब्रह्मांड का अर्थ उसके किसी विशिष्ट अंश के द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता है। पूर्ण को उसके किसी अंश के द्वारा आँका नहीं जा सकता है। अतः संपूर्ण ब्रह्मांड का अर्थ ब्रह्मांड में ही विद्यमान अथवा आनुभविक वस्तु के द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता है। विट्गिन्स्टाइन का कहना है कि ईश्वर इस संसार की किसी भी वस्तु में अभिव्यक्त नहीं है।

God does not manifest Himself in the World. यह बात ठीक तीलिख की उक्ति के समान है जिसमें कहा गया है कि परम अतीत किसी भी विद्यमान (Existent) वस्तु में नहीं है और न उसके समान ही है।

फिर विट्गिन्स्टाइन के अनुसार यह विश्व दिक् और काल में है, पर इस विश्व का लक्ष्य विश्व के बाहर है, अर्थात् देश-काल से परे है। पर मानव भाषा सांसारिक अनुभव और देश-काल की वस्तुओं के संदर्भ में ही उपयुक्त और उपयोगी है। अतः, इस विश्व का चरम लक्ष्य ईश्वर में छिपा है और इस ईश्वर को इस सांसारिक वस्तुओं के उपयुक्त भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इसलिये ईश्वर अथवा रहस्यमय के संदर्भ में मौन रह जाना पड़ता है। धर्म सम्बन्धी मूकभाषा के ही द्वारा सभी धर्मों का तनाव, कलह एवं विरोध समाप्त हो जाता है।

आश्चर्य की बात है, पर विश्व के महान् दार्शनिक नागार्जुन, शंकराचार्य, पॉल तीलिख तथा विट्गिन्स्टाइन, उपनिषदों के नेति, नेति अथवा अभेद नीति तथा मूक-भाषा को ही परम तत्त्व के सन्दर्भ में उपयुक्त समझते आये हैं। नागार्जुन के अनुसार सभी विचार–कोटियाँ (Categories) आत्मविरोधी होती हैं, इसलिये वे निर्वाण-स्थिति को व्यक्त नहीं कर पातीं। शंकराचार्य के अनुसार परम तत्त्व ब्रह्मन् अद्वैत है और सभी भाषा उद्देश्य-विधेय तथा अन्य कोटियों के अनुसार द्वयात्मक होती है। इसलिये द्वयात्मक रहने के कारण भाषा अद्वैत ब्रह्म को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार भी भदन्त नागसेन का कहना है निर्वाणं शांतम्। तीलिख़ के अनुसार परम अतीत केवल प्रतीकात्मक प्रकथनों के ही द्वारा व्यक्त किया जाता है, पर परम सत् सभी प्रतीकों से परे है। ठीक इन्हीं विचारकों के अनुसार (विट्गिन्स्टाइन) विश्व का उद्देश्य और अर्थ ईश्वर है जो देश-काल एवं संसार से परे है। इसलिये उसे संसार पर आधृत भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

अतः, सभी भाववादी जो ईश्वर-सम्बन्धी प्रकथनों को आनुभाविक प्रकथनों के लिये उपयुक्त सत्यापन–मिथ्यापन सिद्धान्तों के द्वारा मूल्यांकित कर अर्थहीन बताते थे, उनके सभी प्रयास विफल सिद्ध हो गये। इसका कारण है कि **इन्वेस्टिगेशन** में (विट्गिन्स्टाइन) ने बताया है कि भाषा भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भिन्न नियमों से संचालित होती है। विज्ञान में सत्यापन-मिथ्यापन के नियम ठीक हैं क्योंकि वैज्ञानिक प्रकथनों की अर्थ-पूर्णता इन्हीं कसौटियों से नियंत्रित होती हैं। परन्तु धार्मिक भाषा की अर्थपूर्णता अन्य नियमों से सम्पादित होते हैं। अतः, धर्म भाषा की अर्थपूर्णता सत्यापन-मिथ्यापन की कसौटियों से नहीं जाँची जा सकती है।

धर्मभाषा का व्याकरण धर्मों में निहित परम सत् के चित्रण पर निर्भर करती है। ईसाइयों के लिये ईश्वर जो उनका परम सत् है, ईसा के जीवन, उनकी शिक्षा और

क्रूशीय मृत्यु के चित्रण से जानी जाती है। कृष्ण भक्तों के लिये कृष्ण-गोपी लीला ईश्वर की करुणामय मूर्ति (चित्रण) से आँकी जाती है। यह ठीक है कि ईश्वर का चित्रण कोई फोटोग्राफी नहीं है, अर्थात् ईश्वर कोई विद्यमान देवता नहीं है जिसकी छवि किसी ने देखकर उतारी हो। ईश्वर इस विश्व में नहीं है, और यदि वह इस विश्व से बाहर हो तो हम उसे किसी प्रकार अनुभूत कर ही नहीं सकते हैं। जिस प्रकार आदर्श सुन्दरी नारी का चित्रकार चित्रण करते, पर यह नारी कल्पना की है, न कि कहीं वास्तविक पायी गयी है, उसी प्रकार धार्मिक व्यक्ति भी ईश्वर का चित्रण करते हैं। धार्मिकों के लिए यह चित्रण भाव-तटस्थ नहीं होता, यह चित्रण भक्तों के सम्पूर्ण जीवन को अनुप्राणित करता और उनके जीवन का आद्यन्त संचालित करता है। उनके जीवन की आन्तरिक दशा तथा सम्पूर्ण आचरण, इसी धार्मिक चित्रण से नियन्त्रित होता है। इस चित्रण के आधार पर भक्तों का विश्वास इतना दृढ़ और ध्रुव होता है कि वैज्ञानिक प्रमाणों के विरुद्ध भी इस विश्वास को छोड़ा नहीं जा सकता है। उदाहरणार्थ, ईसाई विश्वासी से कहा जाय कि कुँवारी माता नहीं हो सकती, और कोई भी मरकर फिर नहीं जी सकता है तो इसका प्रभाव उसके विश्वास पर कुछ भी नहीं पड़ता है। यही बात किसी भी धर्म में उपयुक्त ईश्वर के चित्रण से निर्धारित होती है। अतः, धर्मभाषा धार्मिक चित्रण पर आधृत नियमों के द्वारा स्पष्ट होती है। इसलिये धर्मभाषा के भी नियम हैं जो विश्वासी अपने धर्म में प्रचलित चित्रण पर आधारित नियमों के अनुशीलन से प्राप्त करते हैं।

विट्‌गिन्स्टाइन के अनुयायियों में से सर्वप्रथम जॉन विस्डम ने स्पष्ट किया था कि धर्मभाषा के नियम साधारण भाषा से संचालित नहीं होते। यह भाषा न आगमन और न निगमन के नियमों पर निर्भर करती है। यह धर्मभाषा भक्तों के जीवन की स्थायी अभिवृत्ति (attitude झुकाव) पर आधृत रहती है। इसी बात को आर० एम० हेयर ने कहा था कि धर्मभाषा विश्वासियों की दृष्टि (ब्लिक, Blik) पर निर्भर करती है और यह दृष्टि आसानी से वैज्ञानिक खोजों के द्वारा नहीं बदलती है। पर उन्होंने स्वीकारा था कि धार्मिक दृष्टि कालगति में परिवर्तनशील होती है। हाँ, उनके कहने का तात्पर्य यही था कि धर्मभाषा की अर्थपूर्णता धर्म में निहित दृष्टियों पर निर्भर करती है, न कि सत्यापन-मिथ्यापन की कसौटियों पर।

परन्तु यह दृष्टि भक्तों के लिये स्थायी, महत्त्वपूर्ण और उनके सम्पूर्ण जीवन को अभिरंजित करती है, इस बात को बहुत पहले विलियम जेम्स ने कहा था। इसके साथ विलियम जेम्स ने यह भी कहा था कि जो बात धार्मिक दृष्टि के प्रभाव में उस धर्म के विश्वासी को सच और अकाट्य प्रतीत होती है, वह बात अन्य धर्मों के अनुयायियों के लिये सत्य नहीं भी हो सकती है। अतः, धर्मभाषा के नियम किसी अमुक धर्म में व्यव-

हृत ईश्वर के चित्रण पर निर्भर करती है। जब चित्रण बदलेगा तब दृष्टि बदलेगी और जब दृष्टि बदलेगी तब उस धर्म की व्यवहृत भाषा के नियम भी भिन्न-भिन्न हो जायेंगे।

आर० बी० ब्रेथवेट (R. B. Braithwaite) ने बताया है कि धर्म का मुख्य काम है कि वह नैतिक आचरण को बल प्रदान करे और यह बल धार्मिक कथाओं तथ दृष्टान्तों से प्राप्त होता है। इसलिये धार्मिक युक्तियों में तर्कबुद्धि पायी जाती है और धार्मिक अनुष्ठान, नैतिक आचरण और जीवन के अन्य क्रिया-कलाप इसी धार्मिक चित्रण से बौद्धिक समर्थन प्राप्त करते हैं। अतः, विट्गिन्स्टाइन के अनुसार धर्म-विश्वासियों का काम है कि वे धर्मचित्रण पर अपने ध्यान को स्थिर करना सीखें और इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्नलिखित विधियों का उल्लेख किया है।

१. ध्यान रखने की उस मनोवैज्ञानिक विधि को सीखना चाहिये जिससे धार्मिक चित्रण पर ध्यान स्थिर किया जा सके।

यह सर्वविदित है कि योगशास्त्र, जैन और बौद्ध धर्मों में ध्यान टिकाये रखने की विधि को भलीभाँति बताया गया हैं। इन शास्त्रों में बताया गया है कि किस प्रकार धर्म-चित्रण को ध्यान का आलंबन बनाकर ध्यान को स्थिर करना चाहिये। अतः, विट्-गिन्स्टाइन संभवतः इस योगविधि का समर्थन करते हैं।

२. फिर प्रायः इस धार्मिक चित्रण को ध्यान में रखकर धर्मविश्वासी अपने विश्वास का प्रचार-प्रसार करते हैं। उनकी धर्मभाषा का मुख्य उद्देश्य रहता है कि इसके आधार पर उनमें और श्रोतागणों में धार्मिक भाव का उद्भासन हो। मोटे रूप में इसका वही स्थान है जो भारतीय धर्म-दर्शन में श्रवण-मनन का स्थान है।

३. इस धार्मिक चित्रण के आधार पर कुछ मंत्रपद को भी निकाला जाता है, जैसे, ईसाई धर्म में ईश्वर को 'अपना ढाल और तलवार', 'सनातन की चट्टान', 'जीवित जल-स्रोत', इत्यादि कहकर विश्वासी अपने जीवन में बल प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार की बात भारतीय परंपरा में गुरु-मंत्र में पायी जाती है।

४. धार्मिक चित्रणों से निष्कर्ष निकालने में सावधानी बरतनी पड़ती है, क्योंकि धर्मभाषा दृष्टान्त, उपमा, कहानी इत्यादि के द्वारा संपादित होती है। अब बताया जाता है कि ईश्वर देखता-सुनता है, पर विश्वासी को समझना पड़ता है कि ईश्वर बिना किसी शारीरिक आँख-कान के देखता-सुनता है। इसी प्रकार बताया जाता है कि ईश्वर अशरीरी रहते हुए भी व्यक्तिपूर्ण सत्ता है।

अतः, जो कुछ धर्म में बात बतायी जाती है, उन सब बातों का प्रमाण और उनकी युक्तिसंगति इसी धार्मिक चित्रण के आधार पर टिकी रहती है। फिर किसी अमुक

परिस्थिति में किसी समस्या के समाधान के लिये इसी चित्रण की दुहाई दी जाती है। इसलिये धर्मभाषा भी बौद्धिक प्रक्रिया है पर इसका व्याकरण और तार्किक नियम वैज्ञानिक भाषा से भिन्न हैं।

निष्कर्ष : विट्गिन्स्टाइन के धर्मभाषा के सन्दर्भ में निम्नलिखित निष्कर्ष बताये जा सकते हैं।

१. धर्म विश्वासी एक दूसरे में विभिन्न धर्म-चित्रण के कारण एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न होते हैं। पर सभी धर्मविश्वासी अपने धर्म-चित्रण के आधार पर अपने जीवन के समस्त घटनाओं को स्पष्ट करते हैं।

२. प्रत्येक धर्म-चित्रण विश्वासियों के संपूर्ण आचरण को अनुप्राणित करता है। इसी धर्म-चित्रण में विश्वासियों के अंतिम मूल्य और जीवन सम्बन्धी निर्णय छिपे रहते हैं।

३. इसी धर्म-चित्रण के आधार पर विश्वासी का भाव-संवेग का संतुलन निर्भर करता है और जीवन में वह शांति प्राप्त करता, अथवा स्थितप्रज्ञ होता है।

पर अन्तिम रूप में देखा जाय तो विट्गिन्स्टाइन ने ट्रैक्टेटस में बताया था कि रहस्यमय के संदर्भ में भाषा मूक हो जाती है, क्योंकि यह सभी संगोष्ठियों से अतीत और परे रहता है। अब इन्वेस्टिगेशन के आधार पर कहा जा रहा है कि धर्मभाष चित्रण पर निर्भर करती है, पर यह चित्रण किसी वास्तविक महान् सत्ता का नहीं है। तब इस चित्रण का रहस्यमय के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है ? यहाँ कहना पड़ता है कि विट्गिन्स्टाइन ने अपने मत को इतने संक्षेप में अस्पष्ट रीति से कहा है कि कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। पर संभवतः विट्गिन्स्टाइन का धर्म-विचार संत टामस, तीलिख के धर्मदर्शन से बहुत भिन्न नहीं है, अर्थात् परम सत् अथवा रहस्यमय सभी मानव विचार, संगोष्ठी, कथा, चित्रण एवं प्रतीकों से परे है। पर मानव को उस रहस्यमय का आभास मिलता है और वह बिना परम सत् से अपना संबन्ध जोड़े चैन नहीं पा सकता है। अतः, चित्रण के द्वारा वह अपने ईश्वर, अतीत सत् इत्यादि से संबंध जोड़कर अपने जीवन में बल प्राप्त करता है। इसलिये धर्मभाषा इसी चित्रण पर आधृत रहती है। हाँ, विट्गिन्स्टाइन ने इस चित्रण के परिष्कार की बात नहीं कही है। यदि वे चित्रण के परिशोधन की बात कहते तो फिर साम्यानुमान का नकारीकरण, तीलिख का मूर्तिभंजन अथवा विरोधमत्तात्मकता (protestant principle) का सिद्धान्त का प्रश्न किसी न किसी रूप में आ खड़ा होता।

हम देखेंगे कि जिस समस्या से संत टामस, पॉल तीलिख और विट्गिन्स्टाइन लड़ रहे थे वही समस्या शंकराचार्य की भी थी। पर उन्होंने इस संदर्भ में जो बातें कहीं हैं, वे आज भी पाश्चात्य विचारकों की तुलना में अधिक परिपूर्ण हैं।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद

शंकराचार्य के धर्म-दर्शन की व्याख्या हिंदू धर्म के संदर्भ में की जायगी। यहाँ शंकर के उस अद्वैतवादी विचार को प्रस्तुत किया जायगा जिसके आधार पर तुलनात्मक धर्म-दर्शन का अध्ययन उपादेय हो सकता है।

शंकराचार्य का दर्शन एक ही वाक्य में वर्णित किया गया है, अर्थात् ब्रह्म सत्यम्, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः। संत टामस, तीलिख तथा विट्गिन्स्टाइन के समान शंकर भी मानते हैं कि परम सत् अर्थात् ब्रह्म जीव-जगत् से परे और अतीत है। किसी भी सीमित वस्तु तथा शब्दों के द्वारा ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्म को 'सच्चिदानंद' भी कहा गया है। पर सत्, चित् और आनंद ब्रह्म के गुण नहीं हैं। ब्रह्म स्वयं सत्, चित् और आनंद है, पर ब्रह्म किसी प्रकार की वास्तविकता नहीं, उसमें किसी प्रकार के विशिष्ट विषय का चित् अथवा ज्ञान नहीं और न किसी विशिष्ट वस्तु से उत्पन्न आनंद ही है। परन्तु किसी भी व्यक्तिविशेष में किसी भी वस्तु के ज्ञान का आधार यही विशुद्ध चित् है। इस स्थिति में जगत् और जीव का क्या स्थान है?

जगत्-जीव दोनों मायायुक्त मिथ्या हैं। दोनों अनादि हैं, पर दोनों सान्त हैं। ये दोनों हैं और नहीं भी। 'हैं', क्योंकि व्यावहारिक जीवन में इनकी वास्तविकता को नहीं ठुकराया जा सकता है। पर अंत में ये तुच्छ होकर ब्रह्मप्राप्ति के फलस्वरूप असत् सिद्ध हो जाते हैं। इन्हें शंकर ने सदसदविलक्षण तथा अनिर्वचनीय कहा है। जीव-जगत् को 'मिथ्या' कहने से अभिप्राय है कि बह्म इनसे सर्वथा अछूता, परे और अतीत होता है। पर क्या किसी भी प्रकार का संबंध ब्रह्म और जीव-जगत् के साथ नहीं होता?

ब्रह्म वह आधार है अथवा वह सामान्य चित्रपट है जिस पर जीव-जगत् की माया-रूपी छवियाँ आरोपित की जाती हैं। परन्तु इन छवियों के द्वारा ब्रह्मरूप चित्रपट स्वयं सतत् एकसमान, शुद्ध और निर्गुण बना रहता है। पर क्या जीव-जगत् के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है? ब्रह्म विशिष्ट वस्तु नहीं है, और इसलिये उसका सामान्य रूप से साधारण ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। वास्तव में ब्रह्म-ज्ञान अर्जित नहीं हो सकता है। यह सर्वथा अकार्य, नित्य और शाश्वत् रहता है। इसका केवल उद्बोधन-मात्र (जागृति, बोधि अथवा उद्भासन) हो सकता है। जिस प्रकार स्वप्न टूटने पर व्यावहारिक जगत् की चेतना होती है, उसी प्रकार व्यावहारिक ज्ञान-निद्रा के भंग होने पर ब्रह्म-चित् उत्पन्न हो जाता है। जीव-जगत् मिथ्या रहते हुए भी ब्रह्म-ज्ञान के उद्बोधन में सहायक होते हैं।

जगत् मिथ्या है, पर शास्त्र-विहित ईश्वर और बह्म के संदर्भ में बताये गये मार्ग का अनुसरण कर लेने के बाद जगत्-विचार ब्रह्मप्राप्ति में सहायक हो सकता है। शारीरकभाष्य में शंकर ने इस संदर्भ में युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, अर्थात् सत्तामूलक

प्रमाण (ब्रह्मसूत्रभाष्य II. ३. ७), विश्वमूलक प्रमाण (ब्र. सू. भा. I. ४.१) तथा उद्देश्यमूलक प्रमाण (ब्र. सू. भा. II. २.१)। अतः, अज्ञानी जीव जगत् पर विचार कर ब्रह्मज्ञान के प्रति आगे बढ़ सकता है।

जीव, ब्रह्म के बीच अपेक्षाकृत अधिक सन्निकट है, क्योंकि वास्तव में जीव ब्रह्म ही हैं। जिस प्रकार घट, मठ का आकाश, व्यापक आकाश का सम-स्वरूप है, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। अंतर इतना ही भर है कि जीव घट, मठ के समान घिरा हुआ, सीमित चित् है और ब्रह्म एकमात्र चित्र-रूपी सत् है। जिस प्रकार कुंभ का जल कुंभ के फूट जाने पर जल में मिल जाता है, उसी प्रकार जीव के अज्ञान से उत्पन्न सीमितपन के विलयन के फलस्वरूप जीव ब्रह्म में मिल जाता है। अतः, जीव साधना के फलस्वरूप ही ब्रह्म-ज्ञान अपने में जागृत कर सकता है।

ब्रह्म-साधक उपक्रमात्मक रूप से सर्वप्रथम साधन-चतुष्टय की साधना करता है जो निम्नलिखित रूप में बताये गये हैं,

१. **नित्यानित्य-वस्तु-विवेक**, अर्थात् ब्रह्म की एकमात्र नित्यता और सभी अन्य आनुभविक वस्तुओं की अनित्यता का ज्ञान प्राप्त करना।

२. **इहामुत्रार्थ भोग-विराग**, अर्थात् सभी प्रकार के लौकिक और पारलौकिक भोग की वस्तुओं के प्रति वैराग्य-भाव का रहना।

३. **शमदमादि साधन-सम्पत**, अर्थात् संयम (शम), इन्द्रिय-निग्रह (दम), शास्त्रों में श्रद्धा, चित्त की एकाग्रता, उपरति (विरक्ति), शीतोष्ण के प्रति तितिक्षा (अर्थात् सहन में समभाव) के छः साधनों को अपनाना।

४. **मुमुक्षुत्व**, अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिये दृढ़ संकल्प कर लेना।

इन साधनों के फलस्वरूप गुरु-द्वारा ब्रह्मज्ञान का दार्शनिक विवेचन सुनना और तब उन पर विचार-विमर्श करके अंत में ब्रह्म का ध्यान करना। इन्हें श्रवण-मनन-निदिध्यासन बताया गया है।

साधना-चतुष्टय तथा उपाय-त्रय के आधार पर साधक उद्बुद्ध होकर ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। 'ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मैव भवति।' इसका अर्थ है कि साधक सभी अज्ञान-बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्म हो जाता है जिसमें किसी प्रकार की विशिष्टता नहीं रहती, सभी भेद-भाव विनष्ट हो जाता है। इस अवस्था के प्राप्त कर लेने पर—

> 'पिता फिर पिता नहीं दिखता, माता माता नहीं दिखती, सभी लोक अलोकमय हो जाते, देवत्व समाप्त हो जाता है। यहाँ चाण्डाल और तपस्वी दोनों के भेद समाप्त होकर भेदरहित ब्रह्मगति को ब्रह्मज्ञानी प्राप्त होता है।'
>
> (बृहदा० भाष्य ४.३.२२)

शंकर ने ब्रह्म-स्वरूप के तीन अनुभवमूलक प्रमाण दिये हैं, अर्थात् (क) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में कोई भेद नहीं दिखता है, (ख) सुषुप्ति में भी कोई भेदभाव नहीं दिखता है, केवल आनंद भाव का पूर्वाभास मिलता है, पर (ग) तुरीयावस्था में शुद्ध चेतना, बिना किसी वस्तुज्ञान के योगियों को प्राप्त होती है। यह ठीक है कि रामानुजी और आजकल के ज्ञान के आधार पर इन तीनों को स्वीकार नहीं किया जायगा। परंतु शंकर ने आनुभविक उत्कृष्ट उदाहरणों को प्रस्तुत कर लोगों को स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म के स्वरूप को किस प्रकार समझा जा सकता है। शंकर ने यह भी बताया है कि शास्त्र, अद्वैतवादी दर्शन तथा महावाक्यों के आधार पर ब्रह्म-ज्ञान का उद्बोधन साधक में हो सकता है। इन तीनों को शंकर ने पंगु की लाठी के समान बताया है। जब इन महा-वाक्यों के ऊपर ध्यान करते हुए ब्रह्म का उद्भासन हो जाता है, तब इन सहायक दार्शनिक साधनों एवं लाठियों की आवश्यकता नहीं होती। इसी बात को विट्गिन्स्टाइन ने अक्षरशः अपनाया है। पर क्या ईश्वरोपासना के आधार पर ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता ?

शंकर के अनुसार ईश्वरोपासना केवल ब्रह्मज्ञान के उद्देश्य से नहीं की जाती। कोई ईश्वरोपासना स्वर्गप्राप्ति के लिये करते हैं और कोई सांसारिक अभ्युदय के लिये और अन्य कोई ब्रह्म-ज्ञान के लिये भी ईश्वर की उपासना करते हैं। परंतु सभी साधारण ज्ञान के समान, उपासना भी द्वयात्मक होती है। इसलिए अधिक से अधिक, ब्रह्म-जिज्ञासुओं के लिये ईश्वरोपासना ब्रह्मज्ञान के लिये मात्र सहायक होती, जिसे अंत में लँगड़े की लाठी के समान अतिक्रमित (अर्थात् उसके पार उसे छोड़कर आगे बढ़ना) होना पड़ता है। इस संदर्भ में शांकर मत उपादेय समझा जायगा।

गौड़पाद के समान शंकर मानते हैं कि ओऽम्-साधना में ईश्वरोपासना का सब रूप चला आता है। जिस प्रकार विष्णु भगवान् की मूर्त्ति के माध्यम से विष्णु-पूजा होती है, उसी प्रकार 'ओऽम्-उपासना' के द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है (बृ०-उ० भाष्य ५.१.१)। 'ओऽम्' प्रतीक है जिसके द्वारा ब्रह्म तक साधक पहुँच सकता है। 'ओऽम' के 'अ' से विश्व, 'उ' से तैजस, 'म्' से प्राज्ञ और अमात्र से उस अंतिम सत्ता का बोध होता है जहाँ सभी देवी-देवताओं की पूजा का अंत होकर निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। विश्व-पूजा के आधार पर सांसारिक सुख-प्राप्ति, तैजस से ज्ञानवृद्धि तथा प्राज्ञ-पूजा से स्वर्गप्राप्ति होती है। इन सभी प्रकार के देवी-देवताओं के परे उस समाधि की कल्पना की गयी है जिसमें ब्रह्मलाभ होता है।

फिर गीता १७.४ के अनुसार मानव सात्त्विक, राजसी और तामसी, तीन प्रकार के होते हैं। कोई भी व्यक्ति इनमें से किसी न किसी गुणवाला होता है। जैसा मानव का गुण-स्वभाव होगा, वैसी ही उसकी आराध्य वस्तु भी होगी। सात्त्विक पुरुष देवों की,

राजसी पुरुष यक्ष एवं राक्षसों की, तथा तामसी पुरुष प्रेतों एवं भूतों की पूजा करते हैं। अतः, मानव किसी न किसी देवता की या देवतुल्य आराध्य विषय की पूजा करता है और जैसी पूजा होगी, वैसा ही उसका फल भी मिलेगा।

> 'जो-जो भक्त जिस काम-भाव से प्रेरित होकर जिस-जिस आराध्य देवता-तुल्य विषयों की पूजा श्रद्धा तथा भक्ति के साथ करते हैं, उन्हें उसी प्रकार की भक्ति का फल भी मिलता है।' (गीता ७.२१-२३)

साधारणतया भक्त राजसी और तामसी ही होते हैं जो तैजस तथा विश्व-तुल्य देवी-देवताओं की पूजा, अपने स्वभाव गुण अथवा पूर्व कर्म-संस्कार के अनुसार करते हैं, पर सात्त्विक गुणवाले प्राज्ञ के अनुरूप ईश्वर की पूजा करते हैं। पर क्या ईश्वर-पूजा को अंतिम माना जाय ? नहीं। शंकर के अनुसार जहाँ पूजा द्वयात्मक होगी वहाँ कलह और तनाव अवश्य होगा। कोई कहेगा कि ईसा ही ईश्वर है, और कोई कहेगा भगवान् शिव या वासुदेव। अतः, इस स्थिति से भी ऊपर उठकर अमात्ररूपी निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति करनी चाहिए जहाँ पहुँचकर सभी धार्मिक भेदभाव समाप्त हो जाते हैं। निर्गुण-प्राप्ति की वह स्थिति है जहाँ वेद, अद्वैत वेदान्त, महावाक्य, सभी का विलयन हो जाता है।

अतः, ब्रह्म-प्राप्ति में न चर्च रहता और न कोई धर्मदर्शन (तीलिख), केवल साधक को अपनी पूर्णता का भाव रहता है (सी० जी० युंग); मानव केवल इसका परिज्ञान करता है कि यहाँ 'वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' इसलिए इस मूक भाषा में ही सभी धार्मिक भेद, कलह, तनाव सभी का अंत हो जाता है। इतना ही नहीं।

शांकर धर्म-दर्शन के अनुसार, मानव अपने-अपने स्वभाव-गुण से प्रेरित होकर किसी न किसी धर्म को अवश्य अपनायेंगे, यहाँ तक की आसुरी धर्म को (गीता भाष्य १७.६) भी लोग अपनाते हैं। इसलिए ईश्वर के भी भिन्न-भिन्न पुजारी हैं : कोई ईश्वर, कोई शिव भगवान्, कोई वासुदेव और कोई ईसा को पूजते हैं। तो किस प्रकार इस कलह का अंत किया जाय ?

सर्वप्रथम समझना चाहिए कि सभी धर्म न तो सत्य हैं और न असत्य। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म उसके स्वभाव-गुण और उसके संस्कार पर निर्भर करता है। पर इस धार्मिक सापेक्षता के साथ निम्नतर-उच्चतर का भेद भी अवश्य है। तामसी प्रवृत्ति वालों के देवता भूत-प्रेत हैं जिन्हें ईश्वर-धर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। पर ईश्वर की पूजा भी तामसी एवं राजसी रूप से होने पर व्यक्ति अपने को ओऽम् के प्राज्ञ-तुल्य देवताओं के धर्म में नहीं गिन सकता है। तब निम्नतर धर्मों को पार कर उच्चतर को कैसे प्राप्त किया जाय और अंत में उच्चतर से अमात्र-रूप ब्रह्म को कैसे प्राप्त किया जाय ?

केवल धर्म-संगोष्ठियों के ही आधार पर विभिन्न धर्मों का अपना ज्ञान प्राप्त हो सकता है। पर ईश्वर-धार्मिकों के भेद को भी आसानी से समझा जा सकता है और तब उनके बीच की तनावपूर्ण स्थिति को दूर किया जा सकता है। किसी भी ईश्वरवादी धर्म को मिथ्या एवं निम्नकोटिक नहीं कहा जा सकता है, पर अभेदात्मक शांकर नीति को अपनाकर प्रत्येक ईश्वरवादी धर्म अपने बीच के भेदों को दूर कर अन्त में ब्रह्म के अभेदात्मक ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। इसी अभेदमूलक नीति को तीलिख अपनाते हैं। उनके लिये सभी ईश्वर के विभिन्न रूप वे प्रतीक हैं जो अतीत सत् तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं। अन्तिम स्थिति में वे उस स्थान को पहुँचते हैं जो 'ईश्वर से परे ईश्वर' (God beyond God) की स्थिति चली आती है और युंग भी मंडल-अनुभूति की अन्तिम स्थिति में किसी आराध्य ईश्वर को नहीं पाते हैं। पर इनमें तीलिख और युंग, और रहस्य के पुजारी विट्गिन्स्टाइन का नाम भी गिना जा सकता है, ये सभी उच्चकोटि के प्रातिभ व्यक्ति थे। इनकी साधना जनसाधारण की पहुँच से बहुत बढ़कर थी, पर क्या साधारण लोगों को भी शंकर के अभेदमूलक ब्रह्म-ज्ञान के सिद्धान्त से लाभ हो सकता है ?

सर्वप्रथम, सात्त्विक गुणवालों की संख्या ही बहुत कम है, पर ऐसे ईश्वरवादी जो प्राज्ञरूपी ईश्वर की पूजा करते हैं, उन्हें अपने ही धर्म के अनुयायियों में भेदों से परे उठना चाहिए। ईसाइयों को इस अभेदमूलक नीति को अपनाकर प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथलिक, सीरियन इत्यादि के भेदों से ऊपर उठना चाहिए। फिर उनके बीच सांप्रदायिकता के नाम के भेदों को छोड़कर वर्ण-विचार, क्षेत्रीय, भाषायी तथा अन्य भेद भी हैं। जब तक उनके बीच भेदभाव रहेगा वे अपने ही धर्म के ऊँचे शिखर पर नहीं पहुँच सकते, तो उस स्थिति को कैसे प्राप्त करेंगे जो 'ईश्वर से परे परम सत् ईश्वर है ?'

यही बात हिन्दुओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस अभेदमूलक शांकर-सिद्धान्त को अपनाकर शैव्य, वैष्णव, राम-कृष्ण इत्यादि के भेदों से उठकर सभी को एक ईश्वर के उपासकों के रूप में देखें। द्वितीय, जातिभेद को भुलाकर एक परमेश्वर की ही पूजा करें।

> 'परम परमेश्वर स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनियों के व्यक्तियों को भी परम गति प्रदान करते हैं।' (गीता ९.३२)।
>
> फिर ब्रह्म में कोई जाति-भेद नहीं रहता।

जो बात ईसाई, हिन्दू के लिये कही गयी है वही बात मुसलमानों में भी लागू होती है। जब व्यक्ति अपने ही धर्म के अनुयायियों में किसी भेद को स्थान नहीं देगा, तब अंत में अन्य धर्मों के बीच के भेद की खाई भी मिट जायगी।

वास्तव में देखा जाय तो ईसाई धर्म का प्रेम-सिद्धान्त अन्त में शंकर के अभेदमूलक सिद्धान्त से मेल खाता है। ईसा ने कहा कि अपने शत्रु से भी प्रेम करो और तुम्हारा प्रेम ईश्वर के अभेदमूलक प्रेम के समान हो जाना चाहिए। ईश्वर बिना धर्मियों और अधर्मियों के बीच भेद किए, दोनों को एक-समान सूर्य-प्रकाश देता और वर्षा की आशीष भेजता है (मत्ती ५:४३-४५)। अतः, ईसाई धर्म का ईश्वर बिना किसी भेद-भाव के उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार उपनिषदों के ब्रह्म में किसी प्रकार का जाति-भेद नहीं पाया जाता है।

अतः, शंकर के ब्रह्मलाभ में अभेदमूलक नीति अन्तिम है जिसे पॉल तीलिख तथा विट्गिन्स्टाइन के विचारों ने भी पुष्ट किया है। इसलिए धर्मों की सापेक्षता को स्वीकार करते हुए केवल अभेदमूलक सिद्धान्त के आधार पर धर्मों का समन्वय संभव हो सकता है।

शंकर और पाश्चात्य दर्शन :

ब्रैडले, संत टामस, पॉल तीलिख और विट्गिन्स्टाइन के मत शांकर-विचार से बहुत मिलते-जुलते दिखते हैं और इस दृष्टि से ब्रैडले के साथ शांकर विचार का मिलान सर्व-प्रथम लिया जा सकता है।

ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष सत्ता संवेदनशील, सर्वग्राही सामंजस्यपूर्ण है जिसमें मानव के अच्छे-बुरे सभी संवेग-भाव संरक्षित रहते हैं। ब्रैडले परम सत् को निर्गुण और निराकार नहीं मानते हैं और इस भावना की आपने आलोचना भी की है। तब प्रश्न होता है कि क्या व्यावहारिक जीवन की सभी अनुभूतियाँ जिस रूप में पायी जाती हैं उसी रूप में रहेंगी, या उनका रूप परिवर्तित हो जायगा ? कभी ब्रैडले का कहना कि व्यापक दृष्टि के आधार पर सभी परस्पर-विरोधी घटनाओं में वह विरोध नहीं पाया जायगा जो सीमित एवं संकुचित दृष्टि में दिखता है। फिर उनका कहना है कि कुछ हेर-फेर कर लेने के बाद सभी अनुभूतियाँ सर्वग्राही सामंजस्यपूर्ण सत्ता में समाविष्ट हो जायँगी। पर क्या इस प्रकार की सर्वग्राही, सामंजस्यपूर्ण, संवेदनशील सत्ता जानी जा सकती है ? नहीं, क्यों ?

पहली बात है कि मानव-ज्ञान द्वयात्मक है और परम सत् एकत्ववादी पूर्ण सत्ता। इसलिये द्वयात्मक ज्ञान के द्वारा परम सत्ता को नहीं जाना जा सकता है। इस निष्कर्ष के आधार पर शंकर और ब्रैडले, दोनों के बीच अन्तर नहीं है।

फिर ब्रैडले के अनुसार परम सत् सर्वग्राही सत् है और शंकर के अनुसार अन्तिम सत् अर्थात् ब्रह्म निर्गुण, निराकार और अभेदमूलक है। पर क्या ब्रैडले अपने पक्ष का न्यायसंगत रूप से समर्थन कर पाये हैं ? उनका कहना है कि सीमित व्यक्ति परम निरपेक्ष सत् को नहीं जान सकता है। इनके अनुसार सीमित व्यक्ति परम सत्को जानने

का अधिकारी रहने के लिए उसे रहना भी चाहिये और फिर वह परम सत् में संरक्षित रहने के लिए वास्तविक भी नहीं रह सकता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति परम सत् में अपने सीमितपन को खोकर संरक्षित रह सकता है, पर जब सीमित नहीं, तो उसका व्यक्तित्व कहाँ ? ब्रैडले के समान बोसांकेट भी परम सत् में व्यक्तित्व-संरक्षण के सिद्धान्त को नहीं स्वीकारते हैं। ऐसी दशा में अन्त में ब्रैडले और बोसांकेट, दोनों व्यक्तित्व के विलयन को मानते हैं और यह विचार शांकर मत के समान ही है।

ब्रैडले समझते थे कि निर्गुण ब्रह्म का संदेश अंत में शून्यवाद-तुल्य हो जाता है, और शून्यवाद से बचने के लिए आपने परम सत् को सर्वग्राही पूर्णत्व माना है। पर क्या यह सम्भव है ? ब्रैडले के दर्शन में आत्म-विरोध प्रत्यक्ष है।

'निरपेक्ष सत्ता अकालिक है, पर इसमें अनेक इतिहास समाविष्ट हैं।'

पर किस प्रकार काल और काल-निरपेक्षता दोनों एक साथ हो सकता है ?

'Time is retained, and yet transcended'.

ब्रैडले स्वीकारते हैं कि मानव जीवन की सभी अनुभूतियाँ और घटनायें मात्र आभास (appearances) हैं जो सभी किसी न किसी रूप में सर्वग्राही सामंजस्यपूर्ण परम सत् में संरक्षित रहती हैं। पर कैसे ? ब्रैडले ने स्वयं लिखा है।

'यदि सभी आभास परम सत् में संरक्षित रहेंगे तो यह आभास परम सत् का परिवर्तनशील गुण हो जायगा; पर परम सत् अपरिवर्तनशील है। इसके विपरीत यदि आभास परम सत् में संरक्षित और उससे सम्बन्धित नहीं रहता है, तो परम सत् निर्गुण और शून्य हो जाता है।'

ब्रैडले इस उभयतोपाश से नहीं निकल पाये हैं। ब्रैडले की तुलना में शंकर का मत स्पष्ट है। जो आत्मविरोधी है वह सत्य नहीं हो सकता। आभास आत्मविरोधी होता हैं, जैसा नागार्जुन ने स्पष्ट कर दिया था। इसलिये शंकर आभास को 'माया' कहकर तुच्छ समझते हैं और बताते हैं कि इस तुच्छ ज्ञान से किस प्रकार परम सत् को प्राप्त किया जा सकता है। परम सत् देखा नहीं जा सकता, सुना नहीं जा सकता, पर सभी विचार-विमर्श के अन्त हो जाने पर परम सत् का साक्षात हो सकता है। विचार केवल साधन है जो मानव को उनकी पूर्णता की ओर आलोड़ित करता है। वहाँ पहुँच जाने पर विचार-साधन अथवा लँगड़े के दंडों को छोड़ देना पड़ता है। इसे ब्रैडले ने भी स्वीकारा है कि Thought commits a happy suicide in reaching the absolute, पर परम सत् के अभेदमूलक स्वरूप को किस प्रकार धर्मों के समन्वय में अमोघ साधन बनाया जा सकता है, इसे ब्रैडले ने कभी नहीं सोचा।

ब्रैडले महान् विचारक थे। उन्होंने शंकर के समान ईश्वर को सर्वोच्च आभास माना था, पर उन्हें यह नहीं प्रतीत हुआ था कि ईश्वरोपासना केवल द्वयात्मक ही नहीं है,

वरन् यह कलह और तनावपूर्ण स्थिति का मूल कारण भी है। यही कारण है कि ईश्वरोपासना से ऊपर उठकर अभेदमूलक सिद्धान्त की उन्होंने कल्पना तक न की। यह ठीक है कि ब्रैडले धर्मदार्शनिक नहीं थे। आपकी तुलना में संत टामस और पॉल तीलिख, दोनों धर्मदार्शनिक थे और इनके विचारों के साथ शांकर विचार की तुलना की जा सकती है।

संत टामस और पॉल तीलिख

संत टामस और पॉल तीलिख, दोनों ही ईश्वर को परम सत् और अतीत मानते हैं। इन दोनों में थोड़ा अंतर भी है। वास्तव में देखा जाय तो तीलिख ने शंकर-परम्परा में ईश्वर को परम निरपेक्ष और फिर उपास्य भी माना है। उपास्य ईश्वर परम अतीत सत् नहीं हो सकता और न उपास्य ईश्वर को अतीत कहा जा सकता है। तीलिख ने उपास्य ईश्वर को परम सत् न कहकर, उसे परम सत् का मात्र प्रतीक कहा है। पर संत टामस ने ईश्वर के दोनों रूपों में अंतर नहीं माना है। ईश्वर को उन्होंने अतीत कहा है। अब यदि ईश्वर विश्वातीत हो तो ईश्वर धार्मिकों के लिये किस प्रकार ज्ञेय और उपास्य होगा? संत टामस ने कारण-कार्य के सिद्धान्त के आधार पर विश्व को कार्य मानकर और ईश्वर को इसका कारण कहकर, विश्व और ईश्वर के बीच संबंध स्थापित किया है। पर कारण-कार्य का ऐसा नियम नहीं है जिसके आधार पर कार्य के द्वारा कारण के स्वरूप को जाना जा सकता है। यही कारण है कि कारण-कार्य पर आधृत साम्यानुमान ईश्वर-ज्ञान की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाया है। अतीत कारण-कार्य के आधार पर अज्ञेय ही हो जाता है। इस दोष से बचने के लिये पॉल तीलिख ने प्रतीक-सिद्धान्त की स्थापना की है।

(क) पॉल तीलिख के अनुसार ईश्वर का अतीत पक्ष ही परम सत् है जिसे 'ईश्वर से परे ईश्वर' की संज्ञा दी जा सकती है। परम सत् रूप में ईश्वर स्वसत् (Being-itself) है जिसमें शब्द-भेद, धर्मदर्शन-भेद तथा पूजा-भेद, सभी का विलयन हो जाता है। इस रूप में शंकर और पॉल तीलिख के विचार में साम्य है।

(ख) पर संत टामस को ध्यान में रखकर तीलिख विश्व और विश्वातीत सत के साथ संबंध भी जोड़ते हैं। तीलिख के अनुसार सभी वास्तविकता के आधार में परम सत् ही उनकी आधारभूत सत्ता है। वही सभी वास्तविकता को उनकी स्थिति में उन्हें स्थिर किये हुए रहता है। चूँकि उनमें अन्तर्व्याप्त रहकर भी वह उनसे अनुक्रमित रहता है, इसलिये परम सत् की तुलना में सभी प्रतीक तुच्छ ठहरते हैं (Superlatives become diminutives)। इसलिये शंकर के समान तीलिख स्वीकारते हैं कि प्रतीक द्वारा सभी प्रकार की पूजा, एक-एक करके अंत में सभी का अंत हो जाता है। यहाँ तक कि उपास्य ईश्वर की पूजा भी 'ईश्वर से परे ईश्वर' (God beyond God) अर्थात् निर्गुण ब्रह्म में विलीन हो जाती है।

(ग) तीलिख ने स्वीकारा है कि प्रत्येक प्रतीक में आत्मविरोध पाया जाता है। एक ओर प्रतीक परम सत् का उद्बोधक होता है, और फिर दूसरी ओर वह उसका मात्र प्रतिनिधित्व करता है, अर्थात् जिसे परम सत् साक्षात् रीति से ग्रहण नहीं कर सकता है। फिर प्रतीक किसी एक काल में उदय होकर, बाद में कालक्रम में अस्त हो जाता है। सीमित असीमित के सम्मिश्रण के कारण प्रत्येक प्रतीक आत्म-अतिक्रमण से ग्रस्त रहता है।

अतः शंकर और तीलिख, दोनों स्वीकारते हैं कि ईश्वर-पूजा भी अन्तिम धार्मिक गति मानवों की नहीं हो सकती है। पर शंकर और तीलिख दोनों के मतों का मिलान करने पर प्रतीत होता है कि शांकर विचार अभी भी आगे है।

(क) तीलिख ने 'ईश्वर से परे ईश्वर' की कल्पना अवश्य की है, पर उन्होंने नहीं बताया है कि किस प्रकार इसे प्राप्त किया जा सकता है। शंकर ने साधना-चतुष्टय तथा उपाय-त्रय (श्रवण-मनन-निदिध्यासन) की विधि बतायी है। साथ ही साथ शंकर ने ईश्वरोपासना की त्रुटियाँ भी बतायी हैं। ईश्वरोपासना से ऊपर उठने के लिये उन्होंने गौड़पाद की प्रणवोपासना का क्रम भी बताया है। शंकर के अनुसार विश्व, तैजस, प्राज्ञ और अमात्र-ध्यान के आधार पर 'ईश्वर से परे ईश्वर' को प्राप्त किया जा सकता है।

(ख) शंकर और तीलिख दोनों स्वीकारते हैं कि मानव बिना अतीत-प्राप्ति के चैन नहीं पा सकते हैं। तीलिख के अनुसार परम सत् में निहित अतिक्रमण-शक्ति मानव को अपनी ओर आलोड़ित करती रहती है। पर इस गति-दिशा के पदानुक्रम का बोध उन्होंने नहीं कराया है। इस कमी की तुलना में शंकर ने गीता के आधार पर बताया है कि मानव तामसी, राजसी और सात्त्विक होते हैं। जैसा मानव का स्वभाव गुण होगा, वैसा ही उसका देवता होगा। जैसा उसका देवता होगा और जैसी उसकी उस देवता में भक्ति होगी, वैसा ही उसकी पूजा का फल भी मिलेगा। अतः, शंकर ने मानव-स्वभावगुण के अनुरूप धर्मों की सापेक्षता बतायी है। सांख्य के त्रिगुणात्मकता को आधुनिक प्रचलित भाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों की वास्तविकता उनके संस्कार पर निर्भर करती है। यही बात युंग ने व्यक्तित्व-प्रकार के सिद्धान्त को स्वीकार कर धर्मों की विविधता स्वीकार की है। अतः, शंकर का मत आधुनिक विचारधारा से मेल खाता है। फिर धर्म की सापेक्षता के साथ शंकर ने धर्मों की पदानुक्रमिता भी स्थिर की है। भूत-प्रेत की पूजा को निकृष्ट एवं अधम, देवी-देवताओं की पूजा को मध्यम श्रेणी का और ईश्वरोपासना को उत्तम बताया है। तो भी सबसे श्रेष्ठ शंकर ने ब्रह्म-साधना को ही बताया है, क्योंकि ईश्वर-पूजा सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी द्वयात्मक मानी जायगी। जहाँ द्वयात्मकता होगी वहाँ कलह और तनाव होगा। अतः सभी धर्मों का अन्तिम संकेत इसी ब्रह्मप्राप्ति की ओर है।

अतः, शांकर-सिद्धान्त तीलिख-विचार से अधिक प्रभावशाली माना जायगा। शांकर-सिद्धान्त विट्गिन्स्टाइन के मत से भी मेल खाता है जिसे यहाँ उल्लिखित किया जाता है :

विट्गिन्स्टाइन बीसवीं शताब्दी के मुख्य विचारक माने जाते हैं। आप वे दार्शनिक थे जिन्होंने भाषीय-विश्लेषण के आधार पर परम सत् का स्वरूप निर्धारित किया है।

१. विट्गिन्स्टाइन के अनुसार ईश्वर वर्णित नहीं किया जा सकता है, पर ईश्वर-संबंधी संगोष्ठी (talk) में ईश्वर परिलक्षित होता है। ईश्वर-सम्बन्धी भाषा अन्त में मूक-भाषा ही हो सकती है। जहाँ ईश्वर को वर्णित किया जायगा, वहाँ ईश्वर को तुच्छ, हल्का और नगण्य सत्ता में परिणत कर दिया जायगा। अतः, विट्गिन्स्टाइन की ईश्वर-संबंधी मूक-भाषा शंकर के मत से मेल खाती है। ऐसा क्यों ?

२. विट्गिन्स्टाइन के अनुसार ईश्वर इस विश्व का अर्थ है और जहाँ इस विश्व का चरम उद्देश्य खोजा जायगा, वहाँ इसका रहस्य इस विश्व से अतीत रहना पड़ेगा। यह विश्व दिक् और काल में है और इसके उद्देश्य को जानने के लिये हमें दिक् और काल से बाहर जाना पड़ेगा (ट्रैक्टेटस ६.४१, ६.४३१२, ६.४३२)। परन्तु हमारी भाषा का सन्दर्भ दिक् और काल में सीमित रहता है। अतः दिक् और काल से परे ईश्वर को भाषा के द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता है। विट्गिन्स्टाइन का यह मत कांट से मिलता-जुलता है, क्योंकि कांट ने भी कहा है कि हमारा ज्ञान प्रातिभासिक जगत् का है और इसलिये मानव को बिना भाषा-भ्रम एवं विडम्बना में पड़े पारमार्थिक सत्ता अर्थात् ईश्वर का ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है।

३. परन्तु विट्गिन्स्टाइन ने यह भी कहा है कि ईश्वर वर्णन का नहीं, वरन् परिलक्षण का विषय है। धार्मिक प्रार्थना, भाषा तथा अन्य व्यवहार में ईश्वर परिलक्षित होता है (Shows itself)।

४. परन्तु यदि धार्मिक भाषा पर ध्यान दिया जाय, तो आभासित होता है कि धर्म-भाषा में ईश्वर चित्रित होता है। ऐसा लगता है कि अतीत ईश्वर केवल चित्रों के ही द्वारा उपासकों को अनुभूत होता है। चूँकि विभिन्न धर्मों में ईश्वर-विषयक चित्र विभिन्न रहते हैं, इसलिये धर्म भी एक-दूसरे से विभिन्न हो जाते हैं।

विट्गिन्स्टाइन का मत न तो विस्तारपूर्वक कहीं बताया गया है और न ईश्वर इनकी संगोष्ठी का विशिष्ट विषय रहा है। पर यदि ईश्वर चित्रण ही द्वारा परिलक्षित होता है, तो एक ओर शंकर और तीलिख के प्रतीकवाद से इसका मेल खाता है और दूसरी ओर चित्रण-सिद्धान्त इस बात का भी बोध कराता है कि चित्रण में परिष्कार हो सकता है। यद्यपि ईश्वर का चित्रण फोटोग्राफी नहीं है तो भी चित्रकार का चित्रण विविध रूप से मूल्यांकित हो सकता है। चूँकि ईश्वर-चित्रण फोटोग्राफी नही है, इसलिये

इस सन्दर्भ में सत्य-असत्य, यथार्थ-अयथार्थ का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि ईश्वर के चित्रण में सुधार की बात कही जायगी, तो यहाँ भी खण्डन-सिद्धान्त (protestant principle), नकारात्मक तथा परिशोधन-विचार भी खड़ा हो जायगा।

अन्त में सभी मुख्य विचारकों के बीच मतैक्य है कि अतीत ईश्वर के बिना मानव नहीं रह सकता। द्वितीय, ईश्वर-संबंधी प्रकथन सत्य-असत्य नहीं हो सकते। ईश्वर प्रतीकों और चित्रण का विषय होता है। अतः, धार्मिक आलाप और संगोष्टियों के ही आधार पर ईश्वर-चित्रण परिष्कृत किया जा सकता है। ईश्वर-विषयक संगोष्ठी तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन में सम्भव हो सकती है। अतः, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है।

अध्याय : २

भारतीय धर्म-परम्परा

प्रचलित धर्मों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग को भारतीय धर्म और द्वितीय भाग को सेमिटिक अथवा पैग़म्बरी (Prophetic) धर्म कहा जा सकता है। भारतीय धर्मों में जैन, बौद्ध, ब्राह्मणवाद तथा सिख धर्म गिने जा सकते हैं। इन्हें व्यापक अर्थ में 'हिन्दू धर्म' की संज्ञा भी दी जा सकती है क्योंकि इनके आधारतत्त्व या मूल अभिधारणायें (Postulates) एकदम समान हैं। इसके विपरीत पैगम्बरी धर्म में यहूदी और ईसाई तथा इस्लाम गिने जा सकते हैं क्योंकि इन धर्मों के प्रवर्तक नबी (पैगम्बर, prophet) बताये जाते हैं। यहूदीवाद, खीष्टीयता तथा इस्लाम, इन तीनों को एकेश्वर-वाद (monotheism) की संज्ञा दी जा सकती है। चूँकि यहूदी धर्म से ही ईसाई धर्म और इस्लाम निकले हैं, इसलिये इन तीनों में एक समान आधारतत्व हैं। अब इन सातों धर्मों का अलग-अलग और तुलनात्मक अध्ययन भी किया जायगा। प्राचीनता और मौलिकता की दृष्टि के आधार पर भारतीय परम्परागत धर्मों का सर्वप्रथम अध्ययन किया जायगा।

भारतीय धर्मों की मूल अभिधारणाएँ

भारतीय धर्मों में वैदिक और अवैदिक दो प्रकार के धर्म हैं। अवैदिक एवं अनार्य धर्मों में अजीविकावाद, जैन और बौद्ध धर्म गिने जा सकते हैं। चूँकि आजीविकावाद जैन धर्म में मिल गया है, इसलिये अब इसका स्वतंत्र प्रचार दृष्टिगत नहीं होता है। आगे चलकर सिख धर्म का प्रादुर्भाव हुआ जिसे अवैदिक ही कहा जायगा। अवैदिक धर्म वह है जो वेद को अपना धर्म-ग्रंथ नहीं गिनते हैं। परंतु व्यापक अर्थ में इन सभी धर्मों को 'हिंदू-धर्म' कहा जायगा, क्योंकि इन सभी धर्मों में चतुष्पदी समान अभिधारणायें हैं—कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति। चार्वाक को छोड़कर कोई भी ऐसा भारतीय धर्म नहीं है जिसमें ये चारों अभिधारणायें नहीं पायी जाती हैं। चूँकि ये अभिधारणायें अवैदिक हैं जिन्हें ब्राह्मणवाद ने भी स्वीकार लिया है, इसलिये इन सभी धर्मों को 'हिंदू' की संज्ञा दी जा सकती है।

फिर सभी भारतीय धर्मों में दुःख को अनादि तथा सान्त माना है। यह बात दूसरी है कि दुःख के निवारण और निवारण की अंतिम गति के विषय में उनमें आपसी मतभेद अवश्य है। इस प्रकार का भेद तो कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति विचार में भी पाया जाता है।

अपितु, चार्वाक वास्तव में किसी शृङ्खलाबद्ध दर्शन का नाम नहीं है, पर यह सभी प्रकार के धर्म-दर्शनों की मात्र आलोचना है। अब न तो चार्वाक विचार और न बौद्धों के अनुसार स्थायी आत्मा है, पर अन्य सभी भारतीय धर्म-दर्शनों में आत्मा की नित्यता और उसकी अमरता को स्वीकारा गया है।

सभी भारतीय धर्म-दर्शनों में तपस् और योग को मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना गया है।

जैन, बौद्ध, सांख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनों को वेद-बाह्य माना गया है[1]। महामहोपाध्याय गोपीनाथ ने वैष्णव धर्म को भी वेद-बाह्य माना है[2]। अतः इस रूप में गीता का ईश्वर भी वेद-बाह्य हो जाता है।

अब अदि उपरोक्त षट्दर्शनों को अवैदिक मान लिया जाय तो ब्राह्मणवाद में रह क्या जाता है ? अतः, मेरी समझ में जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव्य तथा ब्राह्मणवाद इत्यादि सभी भारतीय धर्म-दर्शनों को 'हिंदू' संज्ञा देनी चाहिये। यह सुझाव भारतीय धर्मदर्शन के इतिहास, राष्ट्रीय एकता तथा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से सर्वथा समीचीन समझा जायगा।

ब्राह्मणवाद	**अवैदिक जैन, बौद्ध, सिख धर्म**
१. इसमें वेदों को अपौरुषेय धर्म-शास्त्र माना गया है।	१. इन अवैदिक धर्मों में वेदों की दुहाई नहीं दी गयी है।
२. ब्राह्मणवाद में जातिभेद को स्वीकारा गया है।	२. इन धर्मों में वर्ण-विचार को प्रश्रय नहीं दिया गया है।
३. वैदिक कर्म-अनुष्ठान को स्वीकारा गया है।	३. वैदिक कर्म पर ध्यान नहीं दिया गया है।
४. ब्राह्मणवाद में गार्हस्थ्य को जीवन का मुख्य आश्रम गिना गया है।	४. इसमें संन्यास को अंतिम मोक्ष के लिये आवश्यक माना गया है। शंकर के साथ यहाँ सीधे संन्यास को स्वीकारा गया है।

ईश्वर-विचार के संदर्भ में भारतीय धर्म-दर्शन की स्थिति आश्चर्यजनक कही जायगी। जैन, बौद्ध, सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक सूत्र तथा आदिमीमांसकों ने ईश्वर को स्थान नहीं दिया है। इस आश्चर्यजनक स्थिति का मुख्य कारण है **योग का प्रचार**। सिद्धान्ततः

---

१. महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० ८९, १२०, १२६, २१६-१७।

२. वही, पृ० १२६।

योग के द्वारा मानव अपना निःश्रेयस् अपने ही परिश्रम से प्राप्त कर सकता है। इसलिये योगाभ्यासी के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। जब योगाभ्यास में कठिनाई जान पड़ी तो सफलता हेतु पातंजल योग के अष्टांगिक साधन के एक अंश में ईश्वर-प्रणिधान की चर्चा की गयी है। यहाँ भी ईश्वर न तो सृष्टिकर्ता है और न कैवल्य-ज्ञान का फलदाता है। अतः, योग में ईश्वर का स्थान विशेष नहीं है। हाँ, न्यायदर्शन के विकास के साथ ईश्वर के अस्तित्व के लिये प्रबल प्रमाणों को प्रयुक्त किया गया है। पर गौतम के न्यायसूत्र के ४. १. १९-२१ के ईश्वर-संबंधी सूत्रों को ईश्वरवादी रूप स्पष्टतया नहीं दिया जा सकता है। इन्हें कर्मवाद के पक्ष में निरीश्वरवादी सूत्र माना गया है ऐसा मानने के कई आधार हैं।

सर्वप्रथम, न्याय तर्कशास्त्र है, न कि तत्वमीमांसा और ईश्वर-विचार तत्व-मीमांसात्मक कहा जायगा। अतः, ईश्वरवाद को न्यायदर्शन के लिये गौण समझा जायगा। फिर ईश्वर अधिक से अधिक जगत् का न्यंता और शिल्पकार माना जा सकता है। न्याय में ईश्वर को उपादान का रचयिता नहीं माना गया है। ईश्वर को निमित्त कारण मात्र माना है। परंतु इसके विपरीत शंकर ने ईश्वर को निमित्त और उपादान, दोनों प्रकार का कारण माना। सुतरां, न्यायशास्त्र में ईश्वर का स्थान विशेष नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में तो मुक्त जीव को चैतन्यशून्य माना गया है। चेतनाविहीन आत्मा वास्तव में आत्मा है ही नहीं। इसलिये शंकर ने वैशेषिकों को अर्धभौतिकवादी कहा है।

वास्तव में इन अवैदिक (सांख्य-योग, जैन, न्याय-वैशेषिक) दर्शनों में आत्मा की नित्यता और अमरता स्वीकारी गयी है। तब ईश्वर को जीवों का सृष्टिकर्ता नहीं माना जा सकता है।

अब निरीश्वरवाद-प्रधान धर्म-दर्शन की रचना क्यों हुई? योगाभ्यास इसका एक कारण माना जा सकता है। पर कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तंभों पर विचारने के फलस्वरूप मालूम देगा कि कर्मवाद का सिद्धान्त निरीश्वरवाद के पक्ष में विशेष रहा होगा।

कर्मवाद के अनुसार, मानव अपने पूर्व जन्म के कर्म के अनुसार इस जन्म में फल पाता है। जैसा कर्म, वैसा फल। अब यदि कर्म के अनुसार फल होता रहे तो ईश्वर तथा अन्य शक्ति का हाथ मानव जीवन में कहाँ आता है? ईश्वर को न्यायसूत्र ४:१: १९-२१ में कर्मफ़लदाता के रूप में माना गया है। अब निरीश्वरवादियों की आपत्ति है कि यदि कर्म के अनुसार फल मिलता है तो क्या ईश्वर ऐसा कर सकता है कि दुष्कर्म का फल अच्छा हो? किसी भी ईश्वरवादी ने यह नहीं स्वीकारा है। वास्तव में मानव जीवन में दुःख-सुख देखकर निरीश्वरवादी यह आक्षेप करते हैं कि ईश्वर पूर्णतया

पक्षपातरहित नहीं दिखता है। किसी को अच्छे कुल में सुखमय जीवन प्रदान करता है तथा अन्य किसी को निम्न कुल में दुःखमय जीवन प्रदान करता है। इस आक्षेप का प्रत्युत्तर कर ईश्वरवादी कहते आये हैं कि मानव स्वयं अच्छे और बुरे का उत्तरदायी है क्योंकि जैसा उसने कर्म किया है वैसा ही उसको संसार में जन्म लेना पड़ता है। यदि कर्म के वश सब जीव हैं तब ईश्वर की क्या आवश्यकता है ?

ईश्वरवादी इस आपत्ति का प्रत्युत्तर करते आये हैं। यहाँ इतना ही कहना है कि कर्मवाद को स्वीकारने पर दैववाद, नियतिवाद तथा निरीश्वरवाद को बल मिलता है। ब्राह्मणवाद के विकास में सर्वप्रथम बताया गया है कि कर्म के अनुसार फ़ल मिलता है, पर अदृष्ट एवं अपूर्व (अर्थात् पूर्व जन्मों के संस्कार-रूप में कर्मों का समूह) को ईश्वर संचालित करता है, क्योंकि अपूर्व स्वयं अचेतन है और अचेतन-द्वारा सुव्यवस्थित रीति से कर्म का फल नहीं कार्यान्वित हो सकता है। ईश्वर की कृपा के अनुसार अच्छे कर्मों का उदय होता और बुरे कर्मों को दबाकर रखा जा सकता है। आगे चलकर विशेषकर भक्तियोग में बताया गया है कि ईश्वर का आधिपत्य कर्मवाद पर भी है। ईश्वर अपने भक्तों के सम्पूर्ण अपूर्व को नष्ट कर देता है और भक्तों को अपनी शरणागति प्रदान करता है। अतः, कर्मवाद ऐसा मुख्य सिद्धान्त है जो निरीश्वरवाद और ईश्वरवाद में स्पष्ट रीति से दिखाई देता है। निरीश्वरवादी जैन धर्म में तपस्, योग तथा ज्ञान पर बल दिया गया है ताकि मानव को अपने कर्मों से मुक्ति मिले। अहिंसा पर विशेष बल देकर ध्यानयोग को प्रतिपादित किया गया है। जैन धर्म के अनुसार मानव अपने ही पुरुषकार के फलस्वरूप अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म में भी मानव को अपने भाग्य का विधाता माना गया है। यहाँ 'अप्पो दीपो भव' का मुख्य मन्त्र प्रचारा गया है जिसके अनुसार मानव बिना पारलौकिक सत्ता का आह्वान् किये हुए अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

इसके विपरीत ईश्वरवादियों ने ईश्वर के अनुग्रह के फ़लस्वरूप कर्मनाश को स्वीकारा है। शंकर ने ईश्वर-भक्ति को कर्मनाश तथा मुक्ति-प्राप्ति के लिए साधन-मात्र समझा है। ईश्वर-भक्ति से चित्तशुद्धि होती, विवेक विमल होता और तब ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग खुल जाता है। पर केवल ब्रह्म-ज्ञान से ही सभी कर्मों का विनाश होता और ब्रह्म-रूप प्राप्त कर लेने पर मानव मुक्ति होती है।

अत, स्वीकारना होगा कि कर्मवाद भारतीय धर्मों में विशेष स्थान रखता है। ईसाई धर्म तथा इस्लाम में भी दैव और पुरुषकार के अन्तरद्वन्द्व में कर्मवाद देखने में आता है।

कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तंभ भारतीय धर्म-दर्शन की सामान्य अभिधारणा है जो हिन्दू धर्म को पैगम्बरी धर्म से विभिन्न करती है। यह ठीक है कि सभी भारतीय धर्मों में, यहाँ तक कि ब्राह्मणवाद में भी इन चारों चरणों की व्याख्या में मत-मतान्तर

है। उदाहरणार्थ, सांख्य-अद्वैत के अनुसार कर्म अज्ञान द्वारा उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत रामानुज के अनुसार कर्म सर्वप्रथम है और कर्म के ही द्वारा कर्म का विनाश हो सकता है। इसी प्रकार ज्ञान और मुक्ति के स्वरूप के संदर्भ में भी मतभेद है। शंकर के अनुसार मात्र ब्रह्म-ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है। इसके विपरीत, रामानुज के अनुसार कर्म-ज्ञान-भक्ति-समुच्चय के ही द्वारा मुक्ति संभव है।

फिर शंकर-मत के अनुसार जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं उसी प्रकार मुक्ति-दशा में जीव भी ब्रह्म में विलीन होकर ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है। इसके विपरीत रामानुज के अनुसार मोक्ष-गति में भक्त ईश्वर के कैंकर्य-भाव (दास-भाव तथा नौकर के रूप में) की स्थिति में संरक्षित रहते हैं। इन दोनों से विपरीत, जैन-सांख्य में शुद्ध चैतन्यरूप में जीव की मोक्षगति रहती है। इनसब से भिन्न बौद्ध आत्मा की अमरता, क्षणिकवाद तथा अनात्म सिद्धान्त के अनुसार नहीं स्वीकारते हैं। वे निर्वाण-गति को नकारात्मक रूप से अहंकारविहीन शून्य के रूप में स्वीकारते हैं। पर कर्म-संसार जो दुःख-स्थिति है, इसके अनादि और सान्त के संदर्भ में सभी भारतीयों में मतैक्य है।

दुःख अनादि और सान्त—सांख्य ने त्रिविध ताप तथा बुद्ध भगवान् ने इसे जरा-मरण के नाम से स्वीकारा है कि मानव जीवन दुःखमय है। इस बात को सभी भारतीय धर्म-दर्शन मानते हैं, पर किसी भी धर्म-दर्शन में इसकी तत्त्वमीमांसात्मक व्याख्या नहीं की गयी है। बुद्ध भगवान् ने बताया है कि तत्त्वमीमांसात्मक खोज कभी भी निश्चयात्मक नहीं हो सकती है। इसलिये इस प्रश्न को अव्याकृत-संज्ञा देकर इस बात पर बल डाला है कि इस दुःख का अन्त किया जाय। यही बात लगभग सभी भारतीय धर्मदर्शन में देखने में आती है। यदि दुःख-निवारण के मार्ग द्वारा दुःख शान्त हो जाय तो इस मार्ग को यथार्थ समझकर सभी साधकों को इसे अपनाने की सलाह दी जा सकती है। अतः, दुःख-निवृत्ति-विचार के सन्दर्भ में भारतीय धर्म-दर्शन में चिकित्सीय (therapeutic) उपयोगितावाद पाया जाता है। अतः यह प्रश्न कि अनादि दुःख कैसे हुआ, इसे भारतीय विचारक अनधिकृत चर्चा बतायेंगे। इसलिए न तो पूछा जा सकता है कि ईश्वर ने क्यों दुःखमय सृष्टि की रचना की, या पूर्णतया शुद्ध ज्योति रूप ब्रह्म में दुःख-रूपी तम कहाँ से आया है। दोनों प्रकार की आपत्तियाँ अपयुक्तियाँ बतायी जाएँगी। उल्लेखनीय है कि ईश्वरवादी भारतीय धर्म-दर्शन में सृष्टि-रचना और उसके विनाश का चक्र चलता रहता है और प्रथम सृष्टि का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। इसलिये इस सन्दर्भ में ईश्वर कर्म-फलदाता के रूप में मानव-दुःख का कारण नहीं बताया गया है। मानव का अपना ही कर्म उसके सुख-दुःख का कारण होता है।

सारांश : भारतीय धर्मदर्शनों को वैदिक और अवैदिक दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रारम्भ में इनमें विशेष भेद थे, पर कालगति में अवैदिक धर्मदर्शन को ब्राह्मणों ने स्वीकार कर लिया और अब इनमें मौलिक भेद नहीं है। सामान्यतः—

१. सभी भारतीय धर्मदर्शन में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तम्भ को स्वीकार कर लिया गया है, यद्यपि इनके महत्त्व और व्याख्या में मतभेद देखा जाता है।

२. सभी दर्शनों में दुःख को धर्मचिंतन का आरम्भ-बिन्दु स्वीकारा है और इसे अनादि मानकर इसे सान्त समझा है।

३. प्रायः तपस् और योग को मोक्ष का साधन माना गया है।

४. अधिकांश अवैदिक धर्मदर्शन (उदा० जैन, बौद्ध) निरीश्वरवादी हैं और सूत्ररूप में अधिकांश धर्मदर्शन निरीश्वरवादी तथा कर्मवाद के पोषक कहे जा सकते हैं। बाद में चलकर आधुनिक युग में हिन्दू धर्म में ईश्वरवाद देखा जाता है और ईश्वर के अनुग्रह से कर्म के विनाश होने को स्वीकारा गया है।

अद्वैतवाद में ईश्वर का स्थान सर्वेसर्वा नहीं है और मूलतः ईश्वर-भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मात्र स्वीकारा गया है। केवल ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के फलस्वरूप ही मुक्ति की सम्भावना मानी गयी है (ज्ञानं बिना न मुक्तिः)।

बौद्ध धर्म अन्त तक सिद्धान्ततः निरीश्वरवादी रहा है और समाधिमूलक ज्ञान-प्राप्ति के फलस्वरूप ही मोक्ष स्वीकार किया है। अद्वैतवाद की तुलना में बौद्धों के मोक्ष को नकारात्मक ही समझा जायगा, क्योंकि यह नैरात्मक धर्म-दर्शन है।

५. प्रारम्भ में अवैदिक धर्म संसार-विरक्ति तथा कर्म-संन्यास का धर्म था और इसकी तुलना में वैदिक धर्म स्वर्ग-प्राप्ति के लक्ष्य को स्वीकार कर सांसारिक जीवन को यथार्थ और महत्त्वपूर्ण समझता था। पर अब हिन्दू धर्म 'मोक्ष' को स्वर्ग-प्राप्ति के स्थान पर रखने के बाद संसार के प्रति पलायनवादी कहा जायगा। अवैदिक जैन और बौद्ध धर्म की तुलना में कर्म और गार्हस्थ आश्रम को भी विशेष स्थान दिया जाता है। इसलिए हिन्दू धर्म को पूर्णतया संसार-विरक्तिमार्गी नहीं कहा जायगा।

६. प्रचलित हिन्दू धर्म में जातिवाद को स्वीकार कर लिया गया है, पर सिद्धान्ततः अभी भी अवैदिक जैन और बौद्ध धर्म में जातिभेद का विचार नहीं है।

७. प्रारम्भ में वैदिक धर्म में पशु-बलि की प्रथा थी, पर जैन-बौद्ध धर्मों में अहिंसा को 'परमोधर्मः' कहा है; अब हिन्दू धर्म में कहीं-कहीं पशुबलि की प्रथा है, पर सामान्यतः हिन्दू धर्म में 'अहिंसा' को ही अपनाया गया है।

८. सम्भवतः वैदिक धर्म में मूर्तिपूजा नहीं थी और मूर्तिपूजा को अनार्य कहा जायगा। वर्तमान युग में हिन्दू धर्म में मूर्तिपूजा पायी जाती है।

उपरोक्त विवेचन में व्यापक अर्थ में हिन्दू धर्म के व्यापक लक्षणों और समस्याओं को ही वर्णित किया गया है।

९. निरीश्वरवाद के साथ ही साथ सभी भारतीय दर्शनों में मानवों के पारलौकिक अध्यात्मवाद को स्वीकारा गया है और इसमें ऐहिकतावाद को नहीं अपनाया गया।

अब भारतीय धर्मों की व्याख्या अति संक्षेप में अलग-अलग की जायगी। ●

अध्याय : ३

जैन धर्म

जैन धर्म अवैदिक है और भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व का यह प्राग्वैदिक धर्म है । अतः, इसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है । इसकी मुख्य मान्यता मोक्ष-प्राप्ति की है, न कि स्वर्ग-प्राप्ति की । वेदों से भिन्न इनके धर्मशास्त्रों को आगम कहा जाता है जिसके अन्तर्गत आते हैं—अंग, उपांग, प्रकीर्णक, मूलसूत्र, नंदीसूत्र इत्यादि । अंग प्राचीनतम धर्मग्रन्थ कहे जाते हैं ।

जैन धर्म बुद्धिवादी है और अपनी मान्यताओं को यह शुद्ध तर्क की कसौटी पर कसने का आदेश देता है । हिन्दू धर्म इसके विपरीत शास्त्र को अन्तिम प्रमाण तथा तर्क को गौण प्रमाण स्वीकारता है ।

हिन्दू धर्म के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को हिन्दू धर्म का प्रवर्त्तक नहीं माना जाता है । इसके विपरीत जैन धर्म में २४ तीर्थंकर स्वीकारे जाते हैं और भगवान् महावीर (ई० पू० ५९९–५२७) को अन्तिम २४वाँ तीर्थंकर माना जाता है । भगवान् वृषभ मुनि को प्रथम तीर्थंकर कहा जाता है ।

पुनः जैन धर्म में सृष्टि को नित्य और शाश्वत स्वीकारा जाता है । पर हिन्दू धर्म में सृष्टि और उसके विनाश का चक्र ही नित्य कहा जा सकता है ।

जैन धर्म का दार्शनिक आधार

जैन दर्शन के अनुसार सभी द्रव्यों को छः प्रकार का माना गया है, अर्थात् काल, जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल, जिन्हें निम्नलिखित तालिका द्वारा व्यक्त किया जा सकता है ।
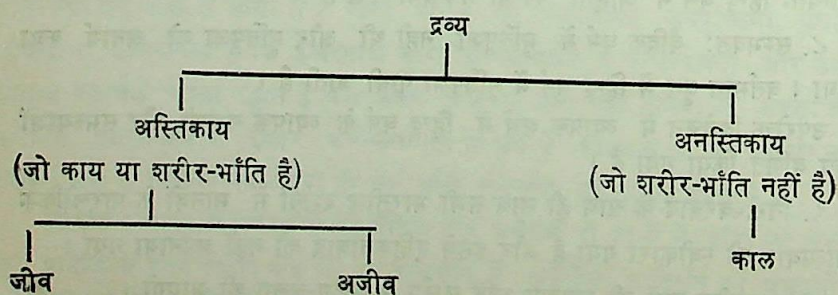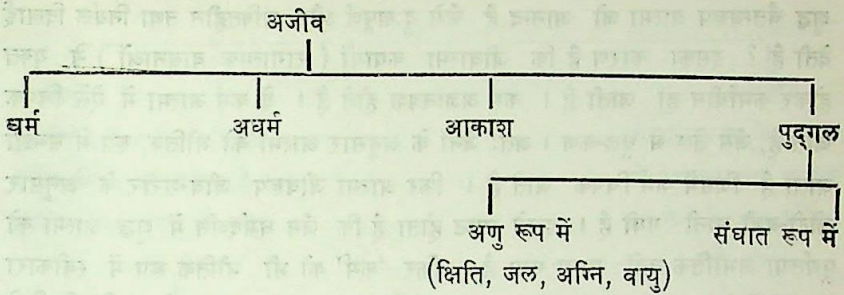
'धर्म' और 'अधर्म' को विचित्र अर्थ में व्यवहृत किया गया है। धर्म गति देता है और अधर्म गति में रुकावट डालकर विश्राम (rest) पैदा करता है। पुद्गल से भौतिक द्रव्य समझा जा सकता है। यह सांख्य की प्रकृति के समान है। अन्तर यही है कि सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक और क्रमबद्ध विकासात्मक है। इसके विपरीत पुद्गल के विकास में कोई क्रम-व्यवस्था नहीं स्वीकारी गयी है।

जीव

मुक्त — बद्ध

मुक्त:
- सामान्य सिद्ध जीव
- तीर्थंकर जिन्होंने मार्गदर्शन और मुक्ति-शिक्षा दी। इनकी संख्या २४।

मानवबद्ध जीव

- तपस्वी
- श्रावक (अर्थात् गृहस्थ जैनधर्मी)

तपस्वी:
- अर्हत (मुक्ति के सन्निकट)
- अनार्हत

अनार्हत:
- आचार्य (जो संन्यासियों के गुरु रहते)
- उपाध्याय (विशेषतया शिक्षक एवं उपदेशक)
- साधु
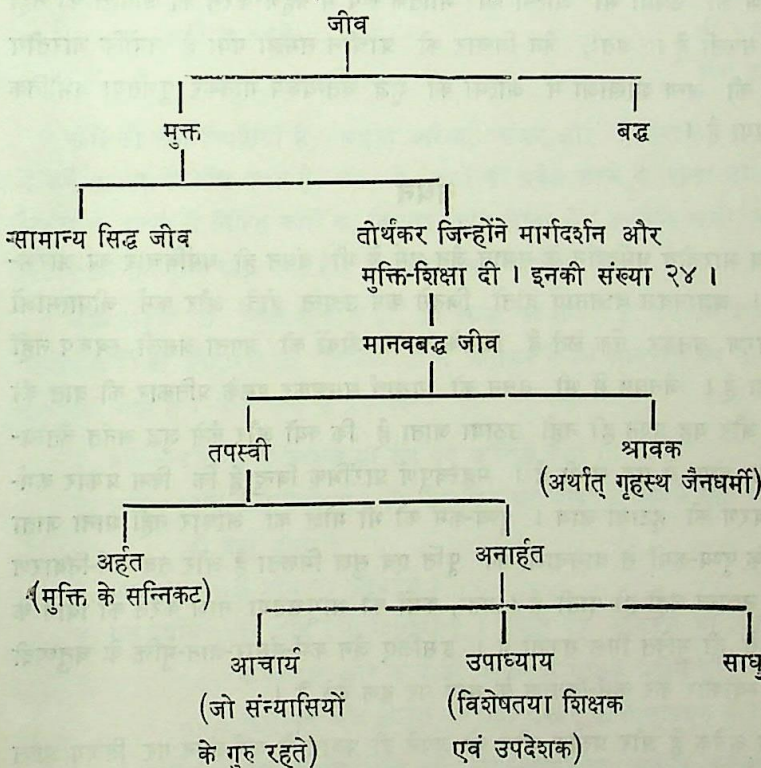
मुक्त जीव में अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत आनंद पाया जाता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा का असली स्वरूप सर्वज्ञ होता है। तब सर्वशक्ति-संपन्न,

शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा जो आनन्द है कैसे दुःखपूर्ण और शक्तिहीन तथा निर्बल दिखाई देती है ? इसका कारण है कि जीवात्मा कषायों (रागात्मक वासनाओं) से युक्त होकर कर्माधीन हो जाती है । कर्म अज्ञानवश होते हैं । ये कर्म आत्मा में ऐसे चिपक जाते हैं, जैसे तेल में धूल-कण । अतः जैनों के अनुसार आत्मा को भौतिक रूप में समझा जाता है जिसमें कर्म चिपक जाते हैं । फिर आत्मा जीवरूप जीव-शरीर के अनुसार छोटी-बड़ी मानी गयी है । इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्मदर्शन में शुद्ध आत्मा को पूर्णतया अभौतिक नहीं माना गया है । फिर 'कर्म' को भी भौतिक रूप में स्वीकारा गया है जिसे आवरण कहा गया है । अतः कर्मों का प्रक्षालन करना मोक्षप्राप्ति के लिये आवश्यक है ।

आत्मा के भौतिकरूप को विनम्र करने के लिये बताया जाता है कि जिस प्रकार दीपप्रकाश संपूर्ण कमरे में व्याप्तकर संपूर्ण कमरे को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार शरीर में व्याप्त होने के फलस्वरूप आत्मा को छोटा-बड़ा कहा गया है । पर इस दीपप्रकाश की उपमा भी आत्मा को भौतिक रूप में ग्रहण करने की आपत्ति को नहीं दूर कर सकती है । अतः, जैन विचार को प्राचीन समझा गया है क्योंकि भारतीय धर्मदर्शन की अन्य शाखाओं में आत्मा को शुद्ध चैतन्यरूप मानकर पूर्णतया अभौतिक समझा गया है ।

बंधन

अन्य भारतीय धर्मदर्शन के समान जैन धर्म में भी बंधन ही धर्मविचार का आरंभ-बिन्दु है । अज्ञानवश वासनायें होतीं जिनसे कर्म उत्पन्न होते और कर्म जीवात्माओं को आवरण बनकर ढँक लेते हैं जिसके कारण जीवों को अपना असली स्वरूप नहीं ज्ञात होता है । जैनधर्म में भी बंधन को यथार्थ समझकर इसके प्रतिकार की बात की जाती है और यह प्रश्न ही नहीं उठाया जाता है कि क्यों और कैसे शुद्ध अनंत चैतन्य-रूप आत्मा बंधन में पड़ जाती है । महत्त्वपूर्ण प्रारंभिक बिन्दु है कि किस प्रकार कर्म-रूपी आवरण को हटाया जाय । पुण्य-कर्म को भी मोक्ष का आधार नहीं माना जाता है क्योंकि पुण्य-कर्मों से वासनाओं की पूर्ति एवं सुख मिलता है और तब कर्म-निवारण की गति उत्पन्न नहीं हो पाती है । अतः, कर्मों को आमूलतया नाश करने की विधि के अनुसरण से ही मुक्ति मिल सकती है । इसलिए जैन कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तंभ को स्वीकार कर कर्म-विनाश के मार्ग पर बल देते हैं ।

जीव अनेक हैं और प्रत्येक जीव को अपने ही प्रयास से कर्म-बंधन पर विजय प्राप्त करना पड़ता है । चूँकि कर्म आवरण हैं, इसलिए इनकी तालिका को भी इस प्रकार जाना जा सकता है ।
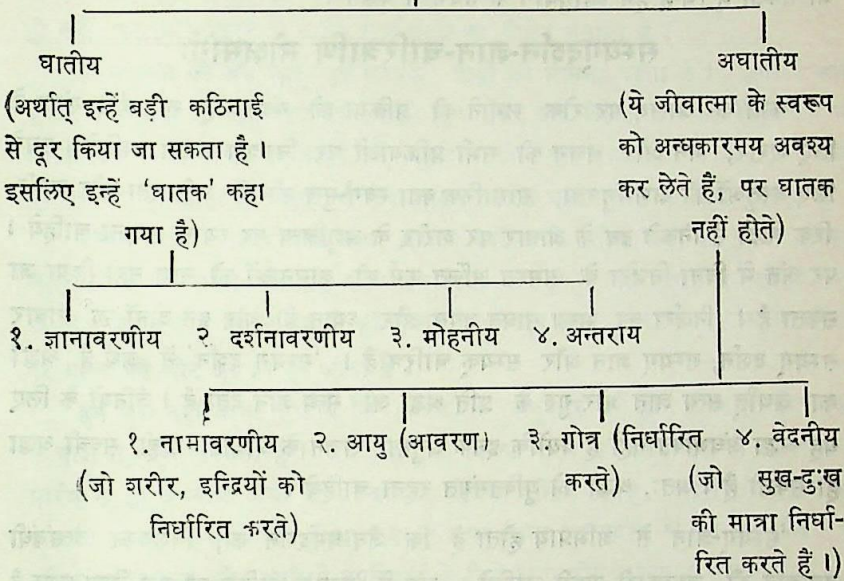
कर्मों की तीन स्थितियाँ हैं, अर्थात् आस्रव, संवर और निर्जरा। आस्रव-स्थिति में कर्म आत्मा में प्रवेश करते हैं, संवर में कर्मों को प्रवेश करने से रोका जाता है और निर्जरा में आत्मा में निहित कर्मों का विनाश किया जाता है। इसलिये सभी कर्मावरण-विनाश को ही मुक्ति कहा गया है (सर्वावरण-विमुक्तिर्मुक्तिः)।

चूँकि अज्ञान को **केवल ज्ञान** से ही दूर किया जा सकता है, इसलिए ज्ञानावरणीय घातीय कर्मों के निवारण की विधियों को न बताकर केवल आवरणों का उल्लेख मात्र कर दिया गया है। ये हैं ज्ञान के प्रकार—

१. मति—इन्द्रियों से उत्पन्न या उन पर आश्रित ज्ञान।

२. श्रुति—श्रुति के असली अर्थ को ढँक लेने का आवरण जिससे सही शास्त्र-ज्ञान भी नहीं होता।

३. अवधि—परोक्ष ज्ञान पर आवरण।

४. मनःपर्याय—दूर ज्ञान (telepathy) अर्थात् वह आवरण जो दूसरे के मन के विचार और भाव को जानने में बाधक प्रतीत होता है। इसमें ऋजुमति और विपुल मति दो प्रकार के ज्ञानावरण हैं।

५. केवल-ज्ञान—शुद्ध चैतन्यपूर्णता जो जीवात्माओं का असली स्वरूप है जिसे कर्मावरण नहीं जानने देते हैं।

आवरणों के क्रमशः हट जाने पर इन्हें ज्ञान-प्राप्ति की क्रमिक अवस्थायें भी कहा जा सकता है जिन्हें हम ध्यानयोग के संदर्भ में देखेंगे ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

कर्मों के आस्रव पर रोक लगाने की प्रक्रिया को संवर कहा गया है। संवर के लिए शरीर, मन और वचन की सभी प्रक्रियाओं पर नियंत्रण रखना चाहिये । इसके लिए वस्तुओं की क्षणभंगुरता, सांसारिक क्या स्वर्ग-सुख की भी अनित्यता और शारीरिक छिद्रों से निकले द्रव के आधार पर शरीर के अशुचित्व पर ध्यान रखना चाहिये । पर अंत में बिना निर्जरा के समस्त अर्जित कर्म की वासनाओं को नाश नहीं किया जा सकता है। निर्जरा का मुख्य साधन तपस् और ध्यान है और इन दोनों का आधार सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। 'सम्यग् दर्शन' से अर्थ है श्रद्धा का, अर्थात् सत्य ज्ञान और गुरु के प्रति श्रद्धा जो सत्य ज्ञान देता है । जैनियों के लिए यह श्रद्धा अंधभक्ति नहीं है क्योंकि इनके अनुसार रीजन के आधार पर ही सच्ची श्रद्धा हो सकती है । अतः, श्रद्धा को युक्तिसंगत रहना चाहिये ।

'सम्यग्-ज्ञान' से अभिप्राय होता है कि जैन धर्मदर्शन का, विशेषकर तत्संबंधी तत्वज्ञान की जानकारी रहनी चाहिये। अंत में सम्यक् चारित्र पर बल दिया गया है क्योंकि बिना नैतिक आचरण की शुद्धता से सम्यग्-ज्ञान वृथा और श्रद्धा झूठी कही जायगी । चरित्र की परिशुद्धि के लिए तपस् और पंचमहाव्रत के पालन की आवश्यकता हो जाती है। पंचमहाव्रत के अंतर्गत अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, सत्य और ब्रह्मचर्य गिने जाते हैं ।

'सत्य' से अभिप्राय है कि आप्तवचन बोलें। साथ ही साथ कटु, अप्रिय सत्य तथा कठोर वचन को काम में न लाएँ । सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् अप्रियं सत्यं ।

'अस्तेय' से तात्पर्य है कि वह वस्तु जिसका स्वामित्व किसी अमुक भिक्षु अथवा श्रावक को नहीं है तो वह उस वस्तु को काम में न लाये ।

'अपरिग्रह' से समझना चाहिये वस्तुओं के स्वामित्व का पूर्ण त्याग । अतः, भिक्षु के लिए सर्वधनत्याग और पूर्ण संन्यास और श्रावकों के लिए धन के न्यास (trusteeship) का मात्र अधिकारी माना गया है। गांधी जी ने न्यास-सिद्धान्त को जैनी अपरिग्रह से ही प्राप्त किया था ।

'अहिंसा' से अर्थ होता है कि जीव एवं जीवन के प्रति सम्मान का होना । हिंसा करना सबसे बड़ा पाप समझा गया है और अहिंसा को परमोधर्मः माना गया है । इसलिये जैन और बौद्ध दोनों धर्म वैदिक पशु-बलि के विरुद्ध रहे हैं ।

'ब्रह्मचर्य' का संदेश भी जैन भिक्षुओं के लिये महत्वपूर्ण कहा जायगा । संभवतः,

पहले चार व्रत तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा बताये गये थे, पर मेखलि गोसाल द्वारा ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन न करने पर भगवान् महावीर ने 'ब्रह्मचर्य' से अर्थ व्यभिचार-निषेध ही नहीं, पर सभी प्रकार के अवैध काम-संबंध का निषेध बताया है।

पंचमहाव्रत को जैन भिक्षु एवं श्रावक, दोनों को मानना पड़ता है। इसलिये सभी प्रकार के जैनियों में समानता देखी जाती है। फिर इस पंचमहाव्रत को हिंदुओं ने भी स्वीकारा है। आगे चलकर देखेंगे कि यहूदियों की 'दस आज्ञाओं' में इन पाँचों व्रतों का समावेश हो जाता है। अतः, ये पंचमहाव्रत समस्त मानवजाति के लिये उपादेय हैं।

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के तीन रत्नों के द्वारा समस्त व्यक्तित्व के आध्यात्मिक विकास पर ध्यान दिया गया है। जब साधक इन तीनों रत्नों के द्वारा केवल ज्ञान का अधिकारी हो जाता है तब वह तपस् और ध्यान-योग के आधार पर मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाता है।

हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि जैनियों के अनुसार कर्म ही बंधन हैं और इन्हीं के नाश से मुक्ति मिलती है। अतः, कर्म को विनष्ट करने के लिये तप की आवश्यकता प्रारंभ से ही अपनायी गयी थी। अत्यल्प भोजन, इन्द्रिय-निग्रह, शारीरिक यातनाओं, इत्यादि को तप में सम्मिलित किया गया है। पर बिना ध्यानयोग के तप से सिद्धि होना कठिन प्रतीत हुआ और इसलिये तपस्वियों के लिये ध्यानयोग अनिवार्य समझा गया है।

आचार, योग तथा समाधि से परिपूर्ण होकर अपवर्गज्ञान की प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतः, बिना आध्यात्मिक विकास के सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है और इस आध्यात्मिक विकासमार्ग को 'गुणस्थान' संज्ञा दी जाती है।

गुणस्थान-सिद्धान्त :

गुणस्थान चौदह सीढ़ियों का सोपानक्रम है और इन्हें चार वर्गों में बाँटा जा सकता है।

१. सर्वप्रथम, बन्धन की अवस्था होती है। इसमें जीव राग-द्वेष आदि आवेशमय वृत्तियों से संचालित रहता है। इस दशा में जीव मोक्षगति से कोसों दूर रहता है।

२. बाद में विचारविमर्श की अवस्था आती है जिसमें कुछ निश्चित उद्देश्य एवं लक्ष्यों की प्राप्ति की बात उठती है। लेकिन इस अवस्था में भी न तो मोक्षप्राप्ति का लक्ष्य और न मोक्षमार्ग का ही सही ज्ञान होता है।

३. तीसरी अवस्था में प्रज्ञा अथवा मति (wisdom),[1] विवेक तथा श्रद्धा का उदय होता है।

---

१. इसे वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न समझना चाहिए क्योंकि मति में प्रज्ञा द्वारा आदर्शों का ज्ञान तथा उनका साकारीकरण भी झलकता है।

४. अन्त में मोक्ष का लक्ष्य स्थिर हो जाता है तथा मोक्षमार्ग का भी निश्चित ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में सभी वासनाओं एवं एषणाओं को सूत्रबद्ध कर इनमें निहित शक्तियों को संयोजित कर जीव बोधि की ओर अग्रसर होता है। जैसे ही सही ज्ञान का उदय होता है वैसे ही कर्म से उत्पन्न सूक्ष्मतम पुद्गल का भी तिरोभाव हो जाता है और सभी आवरणों के हट जाने पर आत्मा अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त कर शुद्ध चेतना एवं सर्वज्ञता को पा लेती है।

जैनविचारकों ने सच्चे ज्ञान को 'त्रिरत्न' संज्ञा दी है जिसमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य तीनों एक साथ पाये जाते हैं। बिना समुचित दृष्टि, अटूट श्रद्धा तथा विमल चरित्र के आध्यात्मिक विकास सम्भव नहीं होता। अब हम **आत्मिक विकास** की चौदह सीढ़ियों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे, जिस सोपानक्रम को 'गुणस्थान' संज्ञा दी गयी है।

१. **मिथ्यादृष्टि**—आत्मा का अपना नित्य स्वरूप ही ऐसा है कि इसमें शुद्ध चेतना एवं सर्वज्ञता पायी जाय। चूँकि जीवों में शुद्ध चेतना एवं सर्वज्ञता अज्ञान के कारण नहीं पायी जाती है इसलिए आत्मा में अपने स्वरूप को प्राप्त करने के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति बनी रहती है। इस स्वाभाविक उत्प्रेरणा को 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण संज्ञा दी जाती है। अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण की प्रवृत्तियों के उभरने पर रागात्मक वृत्तियों की शक्ति में क्षीणता आ जाती है। तो भी मुक्तिप्रवृत्ति केवल अल्पकालीन रहती है और अन्तिम लक्ष्य ओझल रहता है। फिर भी कहा जा सकता है कि जीव में आत्मविकास की इतनी शक्ति चली आती है कि इसके द्वारा वह आगे बढ़ सके।

२. **सास्वादन-सम्यग्दृष्टि**—इस अवस्था में सही विश्वास तथा ज्ञान का थोड़ा आस्वादन होने लगता है।

३ **सम्यग्मिथ्यादृष्टि**—इस अवस्था में समुचित और मिथ्या दोनों प्रकार की दृष्टियाँ पायी जाती हैं। इसलिए भय बना रहता है कि जीव कहीं पीछे न फिसल जाय। इसलिए इसे मिश्रगुणस्थान भी कहा गया है। अतः, इस अवस्था से आगे बढ़ने के लिए अधिक स्थिरता की आवश्यकता पड़ जाती है।

४. **अविरत सम्यग्दृष्टि**—इस अवस्था में जीव को आध्यात्मिक सत्यता में पर्याप्त सूझ प्राप्त हो जाती है, परन्तु उसमें पर्याप्त आध्यात्मिक बल नहीं रहता है। अधिक श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान एवं चारित्र्य के ही द्वारा जीव को पाँचवीं अवस्था में आने के लिए अधिक शक्तिसंचय करना पड़ता है। यदि पर्याप्त मात्रा में जीव के अन्दर आत्मिक बल का संचार न हो तो जीव को पूर्व अवस्थाओं में फिसलने का भय हो जाता है।

५. **देशविरत सम्यग्दृष्टि**—इस अवस्था में सीमित रूप में संयम तथा आत्मनिग्रह प्राप्त हो जाता है। फिर समुचित दृष्टि भी बनी रहती है। लेकिन आगे की प्रगति के

लिए अधिक संयम एवं आत्मनियंत्रण की आवश्यकता होती है ताकि अधिक आत्मिक शक्ति प्राप्त हो जाने पर आध्यात्मिक अक्रियता (inertia) को दूर किया जा सके।

६. **प्रमत्त-संयत**—इस अवस्था में आत्मसंयम प्राप्त हो जाता है, पर प्रमाद (असावधानी) रह जाता है। इसलिए प्रगतिमार्ग पर अग्रसर होने के लिए इस प्रमाद को दूर करना आवश्यक हो जाता है।

७. **अप्रमत्त-संयत**—इस अवस्था में आत्मसंयम में असावधानी (प्रमाद) हट जाती है।

८. **अपूर्वकरण** (या निवृत्ति)—इस अवस्था में पर्याप्त संयम तथा सम्यग्दृष्टि भी प्राप्त हो जाती है। नये कर्मों द्वारा बन्धन का प्रभाव दूर हो जाता है, पुराने (संचित) कर्मों के बाँधने की शक्ति शिथिल पड़ जाती है। इसे इसलिए 'अपूर्व' संज्ञा दी गयी है कि इस अवस्था में अपूर्व शक्ति का अनुभव होने लगता है और इसके बाद आध्यात्मिक विकास द्रुतगति के साथ होने लगता है।

(योग तथा बौद्ध समाधि की उच्चस्तरीय अवस्थाओं में भी योगी एवं मुमुक्षु को अद्भुत शक्ति तथा सिद्धियों की प्राप्ति बतायी गयी है। लेकिन योगी को इन सिद्धियों के प्रपंच में नहीं पड़ने की चेतावनी भी दी गयी है।)

९. **अनिवृत्ति-बादर-सम्पराय**—इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर स्थूल रागात्मक वृत्तियों के चंगुल से छुटकारा मिल जाता है। लेकिन जीव पर सूक्ष्म वृत्तियों का प्रभाव बना रहता है।

१०. **सूक्ष्म सम्पराय**—इस दशा में आत्मा पर सूक्ष्म रागात्मक वृत्तियों का प्रभाव जमा रहता है, विशेषकर देहधारण की लिप्सा रहती है। इसे शरीरप्राप्ति की 'अचेतन लिप्सा' संज्ञा दी जा सकती है।

११. **उपशान्तकषाय**—यहाँ सभी रागात्मक वृत्तियों का तिरोभाव हो जाता है, तो भी कुछ पूर्वकर्म आत्मा को अवगुण्ठित किये रहते हैं जिसे 'छद्मन्' संज्ञा दी जाती है। यहाँ जीव शरीर धारण करने की वृत्ति से पूर्णतया मुक्त नहीं होता है, अर्थात् उसे पूर्णतया 'वीतराग' संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अवगुण्ठन के कारण इस अवस्था को 'उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ' नाम से पुकारा जाता है।

१२. **क्षीणकषाय**—यहाँ सूक्ष्म रागात्मक वृत्तियों को केवल वश में ही नहीं किया जाता, प्रत्युत उनका सम्पूर्ण उन्मूलन कर दिया जाता है। लेकिन सर्वज्ञता नहीं प्राप्त होती है।

१३. **सयोग-केवलिन्-गुणस्थान**—इस अवस्था में सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। अद्वैतवेदान्त तथा बौद्धदर्शन में इस अवस्था को 'जीवन्मुक्ति' संज्ञा दी जाती है। बन्धन में पड़े रहने के पाँच कारणों का उल्लेख किया जाता है, अर्थात् दुराग्रह, असंयम,

आत्मिक अक्रियता, राग और क्रिया। इस चरण में पहले चारों कारणों का लोप हो जाता है इसलिए इस अवस्था को **'सयोगी केवलिन्'** संज्ञा दी जाती है। लेकिन इस क्रिया से कोई कर्मबन्धन नहीं उत्पन्न होता।

१४. अयोग-केवलिन्-गुणस्थान—यहाँ सभी प्रकार के जीवनस्पन्दन समाप्त हो जाते हैं। अयोगकेवलिन् भ्रमातीत अमोघ ज्ञानी हो जाता है। इस अवस्था में जीव शिलावत् निश्चल रूप से दृढ़ हो जाता है। हमलोग देखेंगे कि इसे शुक्लध्यान की अन्तिम सीढ़ी कहा जाता है। केवलिन् की यह अन्तिम घड़ी अल्पकालीन होती है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर केवल ज्ञानी उन्हीं क्षणों तक जीवित रहता है जिसमें क्रमशः पाँच से अधिक अक्षरों का उच्चारण नहीं किया जा सकता है। इस अवस्था को प्राप्त करते ही जीव शरीरहीन होकर मुक्त हो जाता है और अपनी नैसर्गिक सर्वज्ञता तथा सर्वशक्ति-मत्ता की दशा प्राप्त कर लेता है।

ध्यानयोग का स्वरूप

मुक्तिप्राप्ति के लिए जीव को ही विषय-वासनाओं से मुक्त होकर अपना स्वरूप प्राप्त करना होता है। यहाँ जीवों को सम्पूर्णतया परिवर्तित होना पड़ता है। इस सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नवीन रीति से सृष्ट होने के लिए मन, वचन, कर्म को ही नया रूप धारण करना चाहिए। यही कारण है कि बौद्ध तथा जैन मतों के अनुसार जीव में सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र्य रहना चाहिए। इसलिए जीव को सम्पूर्णतया परिवर्तित हो जाने के लिए कोरे ज्ञान से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। यदि ऐसा होता तो कोई भी व्यक्ति जैन धर्म, दर्शन, शास्त्र इत्यादि का अध्ययन कर मुक्ति प्राप्त कर लेता। मुक्तिदायक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैन, बौद्ध तथा शंकरीय अद्वैतवाद में योग, साधना तथा समाधि की आवश्यकता होती है। जिसे बौद्ध-धर्मदर्शन में 'समाधि' संज्ञा दी जाती है उसे 'ध्यानयोग' संज्ञा भी दी जा सकती है। जैन-धर्मदर्शन में 'ध्यान' शब्द अधिक प्रचलित है, इसलिए 'ध्यानयोग' की व्याख्या की जायगी जिसके द्वारा जीव में ऐसा कायापलट होता है कि वह अपने स्वभावलक्षण सर्वज्ञता तथा अनन्त चैतन्य को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ सदैव ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय दर्शन में मुक्तिदायक 'ज्ञान' को कभी कोरा ज्ञान (जो विज्ञान में पाया जाता है) नहीं माना गया है। जब व्यक्ति बदलेगा तब विषयसम्बन्धी ज्ञान भी अपने आप बदल जायगा। बालकों को म्यूजियम लुकाचोरी का स्थान लगता है, पुरानी मूर्त्तियों के चोर को म्यूजियम कमाने-खाने का कर्मक्षेत्र दीखता है और पुरातन युग के विशेषज्ञ को यह लुप्त सभ्यता का अमूल्य इतिहास मालूम देता है। इसलिए जैनधर्म में जीव को पूर्णतया परिवर्तित होने के लिए अहिंसा पर जोर दिया गया है। यही कारण है कि जैन आचार घोर तप का धर्म दिखाई देता है।

लेकिन इसी तप के आधार पर जीव के ज्ञान में भी क्रमिक विकास होता है। इस **ज्ञान-विकास का क्रम** इस प्रकार है—

१. **मति**—यह वह ज्ञान है जो निरीक्षण एवं अनुमान से प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत दैनिक जीवन तथा विज्ञान का ज्ञान भी सम्मिलित कहा जा सकता है।

२. **श्रुति**—वह ज्ञान जो धर्मपुस्तकों, अर्थात् धर्मशास्त्रों से प्राप्त होता है।

३. **अवधि**—भौतिक जगत् की उन वस्तुओं का ज्ञान जो साधारणजनों की इन्द्रियों से परे अथवा अतीत होती हैं।

४. **मनःपर्यय**—वह ज्ञान जो अन्य व्यक्तियों के मन और हृदय में छिपी हुई बातों के जानने के द्वारा उत्पन्न हो।

५. **केवल ज्ञान**—समस्त वस्तुओं का ज्ञान, चाहे वे भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान की हों; देखी या अनदेखी हों।

६. **निर्वाण**—शुद्ध एवं सम्पूर्ण सर्वज्ञता।

बिना घोर आत्मनियंत्रण तथा ध्यानतप के मुक्तिदायक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। नैतिक संकल्प तथा कठिन प्रयास के बिना यह ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि सुभचन्द्र ने चार नैतिक गुणों के रहने को अनिवार्य माना है, अर्थात् मैत्री (सभी जीवों के प्रति सद्भाव), प्रमोद (अन्य व्यक्तियों के सद्गुणों को पहचानना और उन्हें ग्रहण करना), करुणा और माध्यस्थ (कष्टों एवं अनभिमत घटनाओं के प्रति उपेक्षाभाव अपनाना)। नैतिक गुण प्राप्त कर लेने पर ध्यानयोग अपनाया जा सकता है ताकि 'केवल ज्ञान' प्राप्त हो जाय। किसी विषय पर एकाग्रचित्त होने को 'ध्यान' कहा गया है (एकाग्र-चित्त-निरोधः ध्यानम्)। उमास्वामी ने धर्मध्यान को उन विचारों का समुच्चय कहा है जो ध्यान के निमित्त श्रुतिज्ञान (आज्ञा), अपाय (दुःख), विपाक (कर्मफल) और संस्थान (विश्वरचना) पर स्थिर किये जाते हैं। ध्यान में निम्नतर तथा उच्चतर अवस्थाएँ होती हैं। पूर्वपक्षी एवं निम्नतर ध्यान को **धर्मध्यान** और उत्तरपक्षी एवं उच्चतर ध्यान को **शुक्लध्यान** कहा जाता है। उमास्वामी के अनुसार, गुणस्थान की चौथी और सातवीं अवस्थाओं के बीच धर्मध्यान को काम में लाना चाहिए। इनके अनुसार, जब तक मुमुक्षु में समुचित दृष्टि न उत्पन्न हो जाय तब तक उसे ध्यानयोग का अधिकारी नहीं माना जायगा। इसके विपरीत, जिनभद्र के अनुसार, जब तक जिज्ञासु गुणस्थान के सातवें क्रम तक नहीं पहुँचे तब तक उसे धर्मध्यान का अधिकारी नहीं मानना चाहिए। मध्यमार्ग को अपनाते हुए सुभचन्द्र ने कहा कि यदि किसी मुमुक्षु का पूर्वसंस्कार अच्छा हो तो वह गुणस्थान की चौथी और सातवीं अवस्था के बीच ध्यान को अपना सकता है।

धर्मध्यान की क्रमिक अवस्थाएँ

सुभचन्द्र ने धर्मध्यान की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है, अर्थात् १. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत।

१. पिण्डस्थ ध्यान—पिण्डस्थ धर्मध्यान की पहली और प्रमुख अवस्था है और इसके भी पाँच चरण हैं—

(क) **पार्थिवी धारणा**—यहाँ ध्यानी ऐसे सहस्र पंखड़ीदार कमल की कल्पना करता है जो एक विशाल समुद्र के बीच स्थित है। फिर वह कल्पना करता है कि उस-पर आसीन होकर अपने सभी कर्मों का विनाश कर रहा है।

(ख) **आग्नेयी धारणा**—यहाँ ध्यानी कल्पना करता है कि वह मंत्रोच्चारण द्वारा ऐसी अग्नि को प्रज्वलित करता है जो नाभिस्थित कमल तथा हृदयस्थित आठ पंखड़ी-दार कमल की पंखड़ियों को भस्म कर रहा है। यहाँ हृदयस्थित कमल की आठ पंख-ड़ियों से आठ प्रकार के कर्मों का विनाश परिलक्षित किया जाता है। फिर वह कल्पना करता है कि अग्नि उसके शरीर तथा नाभिस्थित कमल को भी भस्म कर रही है। जब इन सब पंखड़ियों तथा शरीर को अग्नि भस्म कर देती है तो कल्पना की जाती है कि वह अपने आप शान्त हो गयी है।

(ग) **श्वसना धारणा**—यहाँ ध्यानी कल्पना करता है कि ऐसा बवंडर उठा है कि पूर्वचरण में अग्नि द्वारा उत्पन्न भस्म को वह उड़ा दे रहा है।

(घ) **वारुणि धारणा**—पिण्डस्थ ध्यान के इस चरण में ध्यानी कल्पना करता है कि भारी वर्षा हो रही है जिससे समस्त भस्म बहा जा रहा है।

(ङ) **तत्त्वरूपवती धारणा**—इस चरण में ध्यानी कल्पना करता है कि वह सातों तत्त्वों से मुक्त हो गया है और सर्वज्ञता प्राप्त कर चन्द्रमा के समान भासमान हो रहा है।

२. पदस्थ ध्यान—इस ध्यान में ध्यानी मंत्रों का प्रयोग करता है। इस अवस्था में ध्यानी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करता है।

इस प्रकार की सिद्धिप्राप्ति का उल्लेख योग तथा बौद्ध धर्मदर्शन में भी पाया जाता है।

३. रूपस्थ ध्यान—इस अवस्था में ध्यानी सर्वशक्तिसम्पन्न एवं महिमायुक्त सर्वज्ञ अर्हतों पर ध्यान जमाता है ताकि अपने आध्यात्मिक विकास में उसे उत्प्रेरणा प्राप्त हो।

जैन धर्म में ईश्वर की पूजा नहीं होती है और न अर्हतों की ही पूजा की जाती है। अर्हत किसी भी पुजारी की प्रार्थना सुनने में असमर्थ होते हैं। लेकिन अर्हत वे हैं जिन्होंने हर अच्छाई को अपने जीवन में साकार कर लिया है और जो धार्मिक सत्यता को स्पष्ट

रूप से प्रचारित करते हैं। परन्तु इन्हें सृष्टिकर्त्ता, पालनहार और विश्व का संहारक नहीं माना जा सकता। हाँ, इनका जीवन और इनका पदचिह्न ध्यानी का मार्गदर्शन अवश्य करता है और उसे मुक्तिप्राप्ति के लिए अग्रसारित करता है।

४. रूपातीत ध्यान—यहाँ ध्यानी ऐसी आत्मा पर ध्यान टिकाता है जो नर्वोच्च, शुद्ध, भ्रमातीत, निराकार है और जो पूर्णचैतन्य तथा आनन्द से युक्त है।

शुक्लध्यान की क्रमिक अवस्थाएँ

धर्मशास्त्रों का ज्ञान तथा स्वस्थ शरीर होना शुक्लध्यान के लिए आवश्यक माना जाता है। गुणस्थान के सातवें चरण में पहुँचने के बाद ही कोई शुक्लध्यान का अधिकारी हो सकता है। शुक्लध्यान की चार अवस्थाएँ हैं, जिनमें पहली दो अवस्थाओं को गुण-स्थान के सातवें से लेकर बारहवें चरण तक में प्राप्त करना चाहिए। शुक्लध्यान की तीसरी अवस्था गुणस्थान के तेरहवें चरण में और चौथी अवस्था चौदहवें चरण में प्राप्त की जाती है।

धर्मध्यान में ध्यानी संसार के सामान्य लक्षणों पर अपना ध्यान लगाता है। इसके विपरीत, शुक्लध्यान में ध्यानी अणु के रूप में सांसारिक वस्तुओं के तत्त्व पर अपना ध्यान जमाये रखता है। शुक्लध्यान की प्रक्रिया को शरीर से मंत्र द्वारा सर्पविष निका-लने की क्रिया के समान माना गया है। पहले मंत्र द्वारा शरीर में फैले विष को शरीर के दंशविन्दु पर एकत्र किया जाता है और अन्त में सम्पूर्ण विष को उस दंशबिन्दु से निकाल लिया जाता है। इसी प्रकार पहले सभी कर्मों से उत्पन्न तत्त्व को अणुरूप में कर लिया जाता है और अन्त में अणुरूप में एकत्र सभी कर्मफलों को विनष्ट कर दिया जाता है। शुक्लध्यान की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हैं।

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान—यहाँ ध्यानी वस्तुविशेष की विभिन्न उत्पत्ति, पालन और विनाश को विभिन्न दृष्टियों से जाँचता है। वह वस्तुओं के पृथक्त्व को वितर्क के आधार पर, अर्थात् विभिन्न प्रत्ययों द्वारा समझता है। यहाँ विचार द्वारा हम वस्तुविशेष के एक पक्ष से अन्य पक्षों की ओर प्रगति करते हैं। इसी से इस अवस्था को 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान' संज्ञा दी गयी है।

२. एकत्व-वितर्कऽविचार शुक्लध्यान—यहाँ न विचार की आवश्यकता होती है और न वस्तुविशेष के एक पक्ष से उसके अन्य पक्षों के प्रति क्रिया होती है। इस अवस्था में ध्यानी वस्तुविशेष को अणु के रूप में लाकर उसके एकत्व पर ध्यान देता है। इसी से इस ध्यान को 'एकत्व-वितर्कऽविचार शुक्लध्यान' कहा जाता है।

३. सूक्ष्म-क्रिया-अनिर्वातन्—मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व इस ध्यान को काम में लाया जाता है। मन, इन्द्रियाँ और बोलने की क्रियाएँ (सूक्ष्म तथा स्थूल) तथा शरीर की भी सभी स्थूल प्रक्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं। लेकिन सूक्ष्म दैहिक व्यापार शेष रह

जाता है। इस अवस्था को इसलिए 'अनिर्वातिन्' कहा गया है कि यहाँ पहुँच जाने के बाद जीव गुणस्थान एवं ध्यान की पूर्वावस्थाओं में नहीं फिसल सकता है, अर्थात् पूर्व की निम्नतर गति में नहीं लौट सकता है। यह ध्यान गुणस्थान के तेरहवें चरण में पाया जाता है।

४. **व्यवच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिन्**—इस अवस्था में सूक्ष्म दैहिक प्रक्रियाएँ भी समाप्त हो जाती हैं और ध्यानी जन्मजन्मान्तर के चक्कर से छूटकर मुक्त हो जाता है। चूँकि वह फिर इस संसार के चक्कर में नहीं पड़ता इसलिए 'अप्रतिपातिन्' संज्ञा दी गयी है। फिर चूँकि सभी क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं इसलिए इस ध्यान को 'व्यवच्छिन्नक्रिया' संज्ञा दी जाती है। यह ध्यान उतने ही काल तक रहता है जिसमें पाँच अक्षर ही उच्चारित किये जा सकते हैं। अन्त में ध्यानी पर्वतशिला के समान निश्चल होकर सिद्ध-लोक को प्राप्त करता है।

जैनधर्म का निरीश्वरवाद

जैनधर्म में ईश्वर को विशेष स्थान नहीं दिया गया है। न तो ईश्वर को विश्व का रचयिता, पालक एवं संहारक माना जाता है और न ईश्वरप्रसाद की आवश्यकता समझी जाती है। यदि कहा जाय कि ईश्वर के अनुग्रह अथवा प्रसाद से भक्त को मुक्ति मिल सकती है तो जैनियों को यहाँ आपत्ति होती है। क्या ईश्वरकृपा मनमानी होती है या भक्त के स्वयं अपने कर्मफल के रूप में प्राप्त होती है? यदि ईश्वरकृपा मनमानी हो तो मनमानी करनेवाले ईश्वर को आराध्य देवता नहीं स्वीकार किया जा सकता है। फिर यदि कर्मफल के ही रूप में ईश्वरप्रसाद प्राप्त हो सकता है तो क्यों नहीं कर्म ही को अपनाया जाय?

जैनियों की आपत्ति को ईश्वरवादी सही नहीं मान सकते हैं क्योंकि भक्ति को साधन माना गया है और भगवद्भक्ति ही 'मुक्ति' संज्ञा मानी गयी है। लेकिन जैनियों की आपत्ति से जैनधर्म का अनीश्वरवाद स्पष्ट हो जाता है। इसे 'मानवतावाद' संज्ञा भी दी गयी है क्योंकि यहाँ मानव केवल अपनी ही चेष्टा से किसी दैवी शक्ति की सहायता के बिना अपना उद्धार कर सकता है। यही बात बौद्धधर्म में भी देखी जाती है। इसलिए जैनधर्म में ईश्वर की वास्तविकता का प्रश्न नहीं उठता, लेकिन इसके मार्ग और मुक्ति-अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न उठाये जा सकते हैं।

यदि जैन धर्म में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है तो जैन मन्दिरों में तीर्थङ्कर महावीर की मूर्ति क्यों बैठायी जाती है? जैनियों का कहना है कि वे भगवान् महावीर की पूजा नहीं करते हैं। जिस प्रकार ध्यान को टिकाये रखने के लिए कोई न कोई आलंबन रहता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर की मूर्ति को जैनियों की उत्प्रेरणा-निमित्त मन्दिरों में स्थापित किया जाता है। पर ईश्वर मुक्त आत्मा के समान ही विश्व से परे, शुद्ध

चैतन्यपूर्ण स्थिति में रहता है। उसे न संसार की ओर न अन्य जैन भक्तों की कोई सुधि रहती है। तो भी भगवान् महावीर की मूर्त्ति की महत्ता रहती है। जिस प्रकार सफेद कांच-ग्लास में निकटस्थ गुलाब की आभा चली आती है, उसी प्रकार शुद्ध चरित्र भगवान् महावीर की स्मृति से सदाचार के लिए प्रोत्साहन मिलता है। पर इसे न तो भगवान् महावीर की आराधना और न मूर्त्ति-पूजा कही जायगी।

जैन धर्म की 'सत्यता' का प्रश्न

धर्मदर्शन विशेषकर तत्त्वमीमांसात्मक हुआ करते हैं और तत्त्वमीमांसा न सत्य होती है और न असत्य। इसके आधार पर एक बौद्धिक विश्वचित्रण किया जाता है और इस चित्रण द्वारा निर्णीत आदर्शविशेष को साकार किया जाता है। इसे दृष्टि में रखकर ज्ञानसिद्धान्त, कर्मपुद्गलसिद्धान्त तथा मुक्तिमार्ग एवं ध्यानयोग को आँका जा सकता है। वैज्ञानिक रीति से न तो अनन्तचैतन्यपूर्ण अनेक आत्माओं के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है और न इस सिद्धान्त को मिथ्यापित ही किया जा सकता है। इसी प्रकार कर्मसिद्धान्त को भी ऐन्द्रिय अनुभूति के आधार पर सत्य या मिथ्या नहीं बताया जा सकता। तब तत्त्वमीमांसा की क्या कसौटी हो सकती है? तत्त्वमीमांसा की कसौटी उससे सम्बद्ध व्यवहारनीति से उत्पन्न होती है और फिर इस व्यवहारनीति को इसके अनुरूप जीवन से मूल्यांकित किया जा सकता है। अन्त में, जीवन का मूल्यांकन किस प्रकार किया जा सकता है? यह प्रत्येक पारखी के अपने स्वतंत्र निर्णय पर निर्भर करता है। जैनधर्म के अनुसार, तीर्थंकरों का जीवन आदर्श जीवन है। ये वे लोग हैं जिन्होंने न केवल पांच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) का पालन किया है बल्कि सम्पूर्ण वासनाओं को जीतकर सभी कर्मों से मुक्त होकर पर्वतशिला के समान लोभ, मोह, लिप्सा, भव इत्यादि से अप्रभावित रहकर अडिग, शान्त एवं निश्चल रहे हैं। तीर्थंकर महावीर के विषय में जैनग्रन्थों में कहा गया है—

> 'आप मन्दारपर्वत के समान दृढ़, समुद्र के समान गम्भीर, चाँद के समान शीतल, सूर्य के समान तेजोमय, सोने के समान खाँटी तथा कमल के समान मोह-माया, क्रोध, द्वेष और रागरूपी जल से अछूते थे। आप अग्नि के समान सर्वदा प्रकाशमान रहे।'

इन तीर्थंकर महावीर के पीछे लड़के कुत्तों को ललकार देते थे, पत्थर फेंककर मारते थे, पागल कहकर शोरगुल मचाते थे, लेकिन आप दिगम्बर शीत, लू, वर्षा, भूख-प्यास में भी अविचल शान्तचित्त रहे। यदि इन तीर्थंकर को कोई अपना आदर्श माने, इनके प्रति आत्मसमर्पण करे और इनके पदचिह्न पर चलकर गुणस्थान के विकास-क्रम को अपने जीवन में साकार होता पाये तो उसके लिए यह जैनधर्म की सत्यता होगी; उस पर आधृत तथा सम्बद्ध तत्त्वमीमांसा भी—जिससे इस प्रकार के प्राप्तिमार्ग का बौद्धिक आधार प्राप्त होता तथा समुचित व्यवहारनीति पुष्ट होती है—कल्याणकारी,

शुभ, उचित तथा 'सच्ची' (genuine) ठहरेगी। परन्तु धर्मदर्शन की सत्यता की इस सामान्य कसौटी के अतिरिक्त जैनधर्म की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिन पर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

जैनधर्म में किसी ईश्वर की कल्पना नहीं की गयी है। इसलिए मुक्तिप्राप्ति के बाद कोई जैनी ईश्वर के अस्तित्व के साक्षात्कार की बात नहीं कहता है। लेकिन जैनधर्म में मोक्ष की अवस्था को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य तथा अनन्त सुख माना गया है। यदि इस मोक्षगति को सत्यापित-मिथ्यापित किया जाय तो इसे अर्थपूर्ण कहा जायगा और नहीं तो दार्शनिक विश्लेषण के अनुसार अर्थहीन माना जायगा। अब, मोक्ष की अवस्था का इन्द्रियों द्वारा कोई सत्यापन-मिथ्यापन नहीं हो सकता और न गुणस्थान के अन्तिम चरण तथा शुक्लध्यान की अन्तिम अवस्था का ही कोई प्रमाणीकरण हो सकता है। बल्कि गुणस्थान के तेरहवें चरण की भी परीक्षा कठिन है क्योंकि इस अवस्था में सूक्ष्म दैहिक प्रक्रियाओं को छोड़कर अन्य सभी प्रक्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं। तो क्या मुक्ति की अवस्था को 'आत्मनिष्ठ आत्मभाव' कहा जाय ? निर्वाण अथवा मोक्ष की अवस्था में आत्मनिष्ठता होना अनिवार्य प्रतीत होता है : भावविहीनता इसकी चरमदशा है। इस अवस्था को ध्यानी प्राप्त करता है या नहीं, इसे असाक्षात् रीति से निर्धारित किया जा सकता है।

१. गुणस्थान तथा इससे सम्बद्ध ध्यान की प्रक्रियाओं में क्रमिक विकास बताया जाता है। यदि इस विकासक्रम को परीक्षाओं द्वारा निश्चित किया जा सकता है तो गुणस्थान की तेरहवीं, चौदहवीं और उसके बाद की अवस्थाओं के सत्य होने की सम्भावना को अनुमानित कहा जायगा। जैनदार्शनिक कुशल मनोविश्लेषक भी थे और उन्होंने प्रत्येक विकास से सम्बद्ध सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। इन सभी प्रक्रियाओं की जाँच अवश्य हो सकती है। अतः, यदि कोई वितराग बनना चाहे तो वीतरागत्व की प्राप्ति के लिए जैनध्यानयोग को परीक्षित एवं विश्वसनीय मार्ग कहा जायगा।

२. फिर ध्यानयोग की पदस्थ अवस्था में अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगदर्शन तथा बौद्ध-समाधियोग में भी अनेक ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति बतायी जाती है। यह ठीक है कि इन सिद्धियों को काम में नहीं लाना चाहिए। लेकिन विकासगति की परीक्षा के लिए इन्हें बाह्य कसौटी कहा जा सकता है।

३. अन्तिम अवस्था के पहुँच की पहचान अधिक सूक्ष्म और कम बाह्य एवं स्थूल रहती है। यहाँ तटस्थता, हर्षविषादातीतत्व, सर्वज्ञता, शुचिता, शान्तभाव आदि को जीवन्मुक्ति की कसौटी समझा जाता है।

४. यह ठीक है कि जैनधर्मदर्शन में सर्वज्ञता को विशेष स्थान दिया जाता है और

इसके अर्थनिरूपण में कठिनाई होती है; लेकिन यहाँ भी जैनदार्शनिकों ने मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान का विकासक्रम हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

जहाँ तक मुक्तिमार्ग अर्थात् गुणस्थान और ध्यान का सम्बन्ध है, उसे विश्वसनीय माना जा सकता है। जहाँ तक उसके लक्ष्य का प्रश्न उठता है, वह दार्शनिक के स्वतंत्र निर्णय का विषय है। यह ठीक है कि जैनियों ने युक्तियों के आधार पर अपने पक्ष की पुष्टि की है; लेकिन धर्मदर्शन की युक्तियाँ अनुनयी होती हैं। अन्त में, तीर्थंकरों का जीवन और उनका शरीरत्याग जैन धर्म की सत्यता की अन्तिम कसौटी है। यदि उनका जीवन-मरण किसी व्यक्ति के हृदय में गुदगुदी मचा दे, उनके जीवन में तूफान खड़ा कर दे, उसे इस गति को प्राप्त करने में अनुप्राणित कर दे तथा सांसारिक विषय-वासनाओं के प्रति उदासीन कर दे, तो उस व्यक्ति के लिए जैन धर्म सत्य है. उसके जीवन की अमूल्य निधि है। ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह जैन धर्म को उसी प्रकार जकड़कर पकड़े रहे जिस प्रकार वह स्वयं इस धर्म की पकड़ में आ गया है।

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म भी है और दोनों में समाधि अथवा ध्यान को निर्वाण-प्राप्ति का आवश्यक मार्ग बताया गया है। अब हम बौद्ध धर्मदर्शन की व्याख्या करेंगे।

अध्याय : ४

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म को 'अवैदिक' कहा जायगा क्योंकि इसमें स्वर्ग-प्राप्ति को धर्म का अन्तिम लक्ष्य नहीं माना गया है। फिर यहाँ उपासना के स्थान पर समाधि को प्रधानता दी गयी है। अपितु, यज्ञ आदि कर्मों को भी मान्यता नहीं दी गयी है। बौद्ध धर्म में जाति-बाद को कोई प्रश्रय नहीं दिया गया है।

बौद्ध धर्म को मध्यमार्गी कहा गया है। बुद्ध भगवान् के समय उच्छेदवाद और शाश्वतवाद दो विशेष दर्शन थे। उच्छेदवाद के अनुसार, आत्मा का पूर्ण उच्छेद अथवा विनाश हो जाता है। इसके विपरीत, शाश्वतवाद के अनुसार, आत्मा नित्य और शाश्वत रहती है। चार्वाकवाद को उच्छेदवाद कहा जा सकता है क्योंकि इसके अनुसार देह के भस्म हो जाने के बाद आत्मा का विनाश हो जाता है : भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। जैन, सांख्य तथा वेदान्त दर्शन में शाश्वतवाद पाया जाता है क्योंकि इन दर्शनों के अनुसार आत्मा नित्य और अजन्मा है। बौद्धमत के अनुसार न तो उच्छेदवाद ही सत्य है और न शाश्वतवाद। यहाँ उच्छेदवाद इसलिए सत्य नहीं माना गया है कि जीवात्माओं के पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। इसलिए, इस दशा में आत्मा के उच्छेद को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। शाश्वतवाद को भी इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि निर्वाण में आत्मा के संरक्षित रहने की बात सही नहीं कही जा सकती है। परन्तु, बौद्धमत को इसलिए स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है कि इसमें आत्मा और निर्वाण के स्वरूप को निर्विवाद रीति से स्पष्ट नहीं किया गया है।

बौद्धमत को इसलिए भी मध्यमार्गी कहा जाता है कि इसमें तपश्चर्या और सुखवाद के बीच का मार्ग अपनाया गया है। बुद्ध भगवान् के समय अनेक पंथ थे और अधिकांश मतों में घोर तप को विशेष मार्ग गिना जाता था। स्वयं बुद्ध भगवान् घोर तपस्वी थे और एकतण्डुल तपस्वी रहने के बावजूद जब इन्हें पूर्ण बोधि नहीं प्राप्त हुई तब इन्होंने इस मार्ग को त्याग दिया था। स्वर्गप्राप्ति के सुख को भी बौद्धमत में अन्तिम लक्ष्य नहीं माना गया है।

अनीश्वरवाद

बौद्धमत की संज्ञा 'मानवतावाद' दी गयी है क्योंकि इसमें देवी-देवता, ईश्वर तथा अन्य किसी भी आराध्य देवता को स्थान नहीं दिया गया है। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के पूछने पर बुद्ध भगवान् ने अन्तिम आदेश दिया था—

'भिक्षुओ ! तुम स्वयं अपने लिए दीप और अपनी शरण बनो। बाह्य किसी भी शरण की सहायता न लो। धर्म ही तुम्हारा दीप और शरण है। तुम अपनी मुक्ति को विना प्रमाद के कठिन प्रयास कर प्राप्त करो। दूसरा सहारा न ढूंढ़ो।'

बौद्धमत में मानव अपने ही प्रयास से अपना निर्वाण प्राप्त कर लेता है। बौद्ध बुद्ध भगवान् की उपासना नहीं करता और न उनसे किसी सहायता की याचना करता है; वह स्वयं प्रबुद्ध हो जाता है। यह ठीक है कि अर्हत् तथा बुद्ध भगवान् श्रद्धा के पात्र हैं और मुमुक्षुओं के लिए अनुप्रेरणा की साकार मूर्तियाँ हैं, पर वे उपास्य देवता नहीं हैं।

बौद्धमत में ईश्वर के अस्तित्व के विरोध में अनेक आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। इनमें ऐसी आपत्तियाँ भी की गयी हैं जिनका उल्लेख पाश्चात्य ईश्वरविरोधी युक्तियों में कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, आपत्ति की गयी है : यदि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता है तो उसने पापियों की क्यों सृष्टि की ? फिर, इसमें कौन-सी बुद्धिमत्ता है कि जीवों में पाप-प्रवृत्ति उत्पन्न की जाय और तब बाद में इसकी निवृत्ति की जाय ?

यह ठीक है कि स्वयं बुद्ध भगवान् ने ईश्वरसम्बन्धी चर्चाओं से अपने को मुक्त रखा था। उनके अनुसार, दस ऐसे विषय हैं जिनके सम्बन्ध में विचार-विमर्श व्यर्थ समझा गया। परन्तु बुद्ध भगवान् ने दुःखनिरोधमार्ग के लिए अष्टांगिक मार्ग बताया तथा इसकी पुष्टि में प्रतीत्यसमुत्पाद का मूलमंत्र स्थापित किया जिसमें कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं दिखाई देती है। सभी घटनाएँ पूर्वघटनाओं से नियंत्रित होती हैं—यह है प्रतीत्यसमुत्पाद का सार। फिर प्रत्येक मुमुक्षु अपने ही प्रयास से आठों मार्ग का अनुसरण कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है। अतः, मानव अपना ही भाग्य-विधाता है। यह बात बौद्ध धर्मदर्शन के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है।

बौद्धमत के तीन मूल सिद्धान्त हैं—

१. सबकुछ दुःखमय है।

२. सबकुछ क्षणिक है। इसलिए स्थायी, शाश्वत एवं नित्य आत्मा नहीं है। इसलिए अन्त में अनात्मवाद ही सत्य है।

३. निर्वाण ही एकमात्र शान्तिगति है—निर्वाणं शान्तम्।

चार आर्यसत्य

१. सांसारिक जीवन दुःख हैं।

२. दुःखों का कारण है।

३. दुःखों का अन्त है, अर्थात् निर्वाणप्राप्ति।

४. दुःखनिरोधमार्ग है।

इनमें से प्रत्येक की थोड़ी व्याख्या वांछनीय है।

सर्वम् दुःखं दुःखम्

प्रायः सभी भारतीय धर्मदर्शनों में माना गया है कि जीवन दुःख से परिपूर्ण है। प्रायः सांख्यदर्शन को अति प्राचीन माना जाता है और इसके प्रथम सूत्र में ही कहा गया है कि जीवन दुःखत्रय मे परितप्त रहता है जिससे बचने का उपाय खोजना चाहिए—

दुःखत्रयाभिज्ञाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

ये तीन प्रकार के दुःख हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख वह है जो मानव की आन्तरिक स्थितियों से उत्पन्न होता है; जैसे—क्रोध, तृष्णा इत्यादि। जो वाह्य कारणों से उत्पन्न हो उसे आधिभौतिक दुःख कहा गया है। आधिदैविक दुःख वे हैं जो देवी-देवता, प्रेत इत्यादि अलौकिक शक्तियों से उत्पन्न होते हैं। चूँकि बौद्धदर्शन में अलौकिक शक्तियों की सत्ता नही स्वीकार की जाती है, इसलिए इस दुःख की व्याख्या कुछ भिन्न है।

बुद्ध भगवान् अनात्मवाद का प्रचार करते थे। जिसे हम स्थायी व्यक्तित्व कहते हैं और फिर जिसके स्थायी सूक्ष्म रूप को आत्मा कहते हैं वह बुद्ध भगवान के अनुसार भूल है। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति पाँच स्कन्धों की सन्ततिमात्र है। सन्तति को संघात, गेस्टाल्ट तथा पैटर्न अथवा आकार की संज्ञाएँ आजकल दी जाती हैं। जैसे बादल के टुकड़ों का संघात नित्य बदलता रहता है, कभी उसमें घोड़े का रूप चला आता है तो कभी साधु का। उसी प्रकार पाँचों स्कन्धों का गठन विभिन्न रूप से होता रहता है। गठन के इन विभिन्न रूपों को ही विभिन्न व्यक्तियों की संज्ञा दी जाती है। **ये पाँच स्कन्ध हैं—**

१. रूप, अर्थात् शारीरिक रूप-रंग, डील-डौल इत्यादि।

२. वेदना जिसके अन्तर्गत हर्ष-विषाद, सुख-दुख चले आते हैं। मनोविज्ञान में इसे **भाव** संज्ञा दी जाती है।

३. संज्ञा, जिसके अन्तर्गत विविध वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान गिना जा सकता है।

४. संस्कार, जो अनेक जन्म-जन्मान्तरों के अनेक कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। इसे **प्रवृत्ति** संज्ञा दी जा सकती है। संवेग तथा आवेश इसके अन्तर्गत माने जाते हैं।

५. चेतना, जिससे **चिद्भोक्ता** की उत्पत्ति होती है।

बुद्ध भगवान् के अनुसार, प्रत्येक स्कन्ध में दुःख भरा हुआ है। इसलिए सम्पूर्ण जीवन दुःखपूर्ण है। क्या इस दुःख को अनुभवजन्य तथा मनोवैज्ञानिक समझा जा सकता है? नहीं।

सांख्य दर्शन के दुःखत्रय से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शन में दुःख को तत्ववैज्ञानिक माना जायगा। चूँकि प्रायः लोग 'दुःख' का अर्थ 'अनुभवधन्य दुःख' लगाते हैं, इसलिए वे समझते हैं कि 'सर्वं दुःखं दुःखम्' सही नहीं है। यह ठीक है कि मनोवैज्ञानिक स्तर पर दुःख के साथ सुख भी पाया जाता है, परन्तु सात्विक दृष्टि के

अनुसार सुख है ही नहीं : जिसे 'सुख' समझा जाता है वह भी दुःखमय है। क्यों ? इसका कारण है कि जो क्षणभंगुर है वह स्थायी तत्व नहीं और जो तत्व नहीं वह दुःख है। क्यों ? क्योंकि जो क्षणिक है उसके विनाश से दुःख उत्पन्न होता है। इसलिए यदि मान लिया जाय कि 'सर्व क्षणिकं क्षणिकम्' तो मानना पड़ेगा कि सभी दुःखपूर्ण हैं। फिर व्यावहारिक जीवन का सुख अज्ञान पर आधृत होता है। यह अज्ञान 'तेरे-मेरे' विचार से, अर्थात् अहंभाव से उत्पन्न होता है। यदि अनात्मवाद को मान लिया जाय तो 'अहंभाव' को 'अज्ञान' कहा जायगा। इसलिए यह समझना कि 'मुझे रसगुल्ले का आनन्द आ रहा है' या 'मुझे संगीत का आनन्द प्राप्त हो रहा है', अज्ञानपूर्ण कहा जायगा। अतः, अहंभाव पर आधृत सुख, जो व्यावहारिक जीवन में पाया जाता है, तात्त्विक दृष्टि से अज्ञानमय होने के कारण 'दुःख' कहा जायगा। अतः, प्रथम आर्यसत्य सम्पूर्ण बौद्धदर्शन पर आधृत है। बिना क्षणिकवाद, अनात्मवाद तथा बौद्धजीवन के इसका परिपूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं कहा जाता है। स्वयं बुद्ध भगवान् को अनेक जीवनों के प्रयत्नशील प्रयासों के फलस्वरूप यह ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसलिए इसकी तात्त्विक गहनता को अनेक प्रयत्नों के बाद ही प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन सर्वसाधारण के लिए निम्नलिखित बातें बतायी जा सकती हैं—

(क) जो किसी एक व्यक्ति का सुख है, वह अन्य व्यक्तियों तथा जीवों का दुःख हो सकता है।

कहावत है, 'चिड़िया की जान जाय, लड़कों का खिलौना।' प्राचीन सामन्तवादी युग में अनेक के दुःख झेलने पर कुछ ही सामन्तों को सुख प्राप्त होता था। आज भी अनेक के शोषण के साथ कुछ ही लोगों को सुखलाभ होता है। क्या ऐसा सुख, जिससे अनेक को कष्ट झेलना पड़े, वांछनीय कहा जायगा ?

(ख) प्रायः सुखभोग भय एवं चिन्ता से ग्रस्त रहता है।

जिस वस्तु से हमें सुखभोग मिलता है उसके खो जाने, छिन जाने तथा अन्य प्रकार से विनष्ट हो जाने का भय रहता है तथा उसे सुरक्षित और अधिकृत रखने की सतत् चिन्ता बनी रहती है।

(ग) सुख-प्राप्ति के साथ तृष्णा बढ़ती है जिससे जरा-मरण के चक्र में व्यक्ति जकड़ जाता है।

इसकी पुष्टि 'द्वादश निदान' से की जायगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि सुख से वासना का शमन नहीं होता, बल्कि इससे वासना उसी प्रकार तीव्र हो जाती है जिस प्रकार आग में घी डालने से आग की प्रचण्डता। यदि वासना को बन्धन का कारण माना जाय और जरा-मरण के चक्रबन्धन को अज्ञानगति कहा जाय तो किस प्रकार सुखभोग को—जिससे वासना बढ़ती है—अभिवांछनीय माना जायगा ?

(घ) सुखभाव मानव की उत्प्रेरणाओं के प्रतिकूल होता है ।

निर्वाणगति मानव की अन्तिम गति है । इसके आनन्द की तुलना में इन्द्रियसुख इतना उच्छिष्ट, इतना निम्नकोटि का होता है कि कोई भी प्रज्ञावान् इसे अपनाने के लिए तैयार नहीं होगा । क्या गंगा को छोड़कर कोई कूप-स्नान को अच्छा कहेगा ? क्या सुसंस्कृत, सुशिक्षित तथा आचारवान् व्यक्ति पशुओं के सुखभोग को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानेगा ?

यदि उपर्युक्त कारणों से हम जीवन को सर्वथा :दुखपूर्ण समझने लग जायँ तो हम अवश्य ही इससे छुटकारा पाने की बात सोचेंगे । परन्तु जब तक हमें दु:ख का कारण नहीं प्रतीत हो, हम इसका अन्त कैसे करेंगे । इसलिए हमें दु:ख के कारण को समझना चाहिए ताकि अन्त में दु:ख का समूल विनाश किया जा सके ।

दु:ख का कारण : द्वादश निदान

बुद्ध भगवान के लिए एक मूल, दार्शनिक सिद्धान्त था जिसे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' संज्ञा दी गयी है । इसके अनुसार, कोई भी घटना बिना किसी कारण के नहीं हो सकती है । आप किसी भी शाश्वत द्रव्य को नहीं स्वीकारते थे । आपके अनुसार संसार एक घटना-संतति है जहाँ एक घटना के बाद दूसरी घटना अनिवार्य रीति से होती है । इसलिए, प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार, इस हेतु अथवा प्रत्यय से वह होता है; इसकी उत्पत्ति से उसका उत्पाद होता है । कोई भी कारण या कार्य नित्य नहीं रहता है । फिर, कारण के हट जाने से कार्य भी समाप्त हो जाता है । अत:, प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त से क्षणिक-वाद की पुष्टि होती है और जिस प्रकार क्षणिकवाद की पुष्टि होती है उसी प्रकार अनात्मवाद की भी पुष्टि होती है क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार किसी कारण या कार्य को नित्य नहीं माना जा सकता है ।

अब, यदि हम सभी घटनाओं की व्याख्या के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद की मान्यता को अपना लें तो हमें स्वीकारना होगा कि दु:ख का भी अवश्य कारण है । दु:ख जीवन की किसी घटना में ही सीमित नहीं रहता है । हमलोगों ने देखा है कि सम्पूर्ण जीवन ही दु:खमय है और जीवन क्या है, अनेक कड़ियों की सन्तति या चक्र । अत:, एक कड़ी से दूसरी कड़ी उत्पन्न होती है और दूसरी से तीसरी इत्यादि । जीवन की इन कड़ियों को बारह वर्गों में बाँटा जा सकता है, जिसे 'द्वादश निदान' संज्ञा दी गयी है । इस द्वादश निदान के अनुसार, भूत संस्कार से वर्त्तमान जीवन की घटनाएँ नियंत्रित होती हैं और फिर वर्त्तमान जीवन के कर्मों के फलस्वरूप भविष्य जन्म अंकुरित होता है । लेकिन, जीवन ही रोग, बुढ़ापा एवं मृत्यु से ग्रस्त होकर दु:खपूर्ण बना रहता है और इसका सांकेतिक नाम है 'जरा-मरण' । जरा-मरण की भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य की कड़ियों को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

१. अविद्या २. संस्कार	भूत जीवन या अतीत में
३. भव ४. उपादान ५. तृष्णा ६. वेदना ७. स्पर्श ८. षडायतन ९. नामरूप १०. विज्ञान	३ से १० तक की कड़ियाँ वर्त्तमान जीवन में पायी जाती हैं। चूँकि 'भव' अर्थात् उत्पन्न होने की प्रवृत्ति ही विशेष प्रारम्भिक कारण है, इसलिए इन आठों अंगों को 'भव' संज्ञा दी जा सकती है।
११. जाति १२. जरा-मरण	भविष्य जीवन

जरा-मरण—जीवन धारण करना अर्थात् शरीर लेकर जन्म लेना ही दुःख है। यहाँ यूनानी देवता मरकरी की बात उद्धृत की जा सकती है। मिदास राजा ने देवता से पूछा कि मानव के लिए सबसे श्रेष्ठ बात क्या हो सकती है। देवता ने प्रत्युत्तर दिया—

'सबसे श्रेष्ठ बात मानव की शक्ति से बाहर है। वह है न जन्म लेना, न होना। इससे निम्नतर अच्छी बात यह है कि मानव अपना अन्त कर ले।'

जन्म लेने को **जाति** संज्ञा दी गयी है। इसलिए सांसारिक जीवन के जरा-मरण का कारण जाति है। यदि जन्म ही न हो तो न कोई बूढ़ा होगा और न मरेगा। परन्तु, इस जाति का क्या करण हो सकता है? यह है **भव**। जन्म लेने की प्रवृत्ति के ही कारण मानव बार-बार जन्म लेता रहता है। इस जकड़ी हुई प्रवृत्ति के सम्बन्ध में शंकर की पंक्ति बड़ी सुन्दर और मार्मिक है—

अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥

× × ×

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे॥
पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम्॥

अब, इस जन्म लेने की प्रवृत्ति (भव) का क्या कारण हो सकता है? इसका कारण है कि मानव सांसारिक विषयों को पकड़े रहता है। इस पकड़ को या लिपटे

रहने को **उपादान** संज्ञा दी गयी है। इस उपादान का कारण है इन्द्रियसुख की वासना। आँख, नाक, कान, जीभ इत्यादि इन्द्रियों की सुखवासना की हम इसलिए **तृष्णा** रखते हैं कि हमें जीवन में **इन्द्रियवेदना** होती रहती है। यह चेतना अथवा वेदना कैसे उत्पन्न होती है? यह वेदना सांसारिक वस्तुओं के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। परन्तु यह **स्पर्श** कैसे सम्भव होता है? यह स्पर्श हमारी पाँच इन्द्रियों और आन्तरिक इन्द्रिय मन से उत्पन्न होता है। अब, इन **षडायतन** अर्थात् छह इन्द्रियों के उत्पन्न होने का क्या कारण है? इसका कारण है **नामरूप**। यहाँ 'नाम' का अभिप्राय है नमना अर्थात् झुकना। इसलिए 'नामरूप' का अर्थ होता है 'वस्तुओं (रूपों) के प्रति झुकाव'। यह प्रवृत्ति गर्भावस्था में ही रहती है। इसलिए गर्भ में ही भ्रूण के शरीर और मन के स्कन्ध को 'नामरूप' कहा गया है। परन्तु यदि विज्ञान अर्थात् चैतन्य न हो तो नामरूप का विकास नहीं होगा। इस विज्ञान का भी कारण पिछले जन्मों का **संस्कार** है। अन्त में पूछा यदि जाय, 'ये जन्म क्यों होते रहते हैं और जन्म हुआ ही क्यों?', तो भारतीय दर्शन का सामान्य उत्तर है—**अविद्या**। चूँकि हमें अहम् का, वस्तुओं का, घटनाचक्र इत्यादि का ज्ञान नहीं होता हैं, इसलिए मानव जन्म-जन्मान्तर के चक्कर में फँसा रह जाता है। इस द्वादश निदान में दो प्रमुख कारण हैं, अर्थात् जन्म लेने का मुख्य कारण अविद्या है और सांसारिक वस्तुओं में लिपटे रहने का कारण तृष्णा। इसलिए, दुःखनिरोध के लिए इन दोनों कारणों को विशेष रूप से उन्मूलित करना आवश्यक समझा गया है। फिर 'अविद्या' के अन्तर्गत बौद्धिक प्रक्रियाएँ, दर्शनदृष्टियाँ गिनी जा सकती हैं और तृष्णा (वासना) भावात्मक प्रक्रिया मानी जा सकती है। इसलिए, निर्वाणप्राप्ति के लिए ऐसे ज्ञान की आवश्यकता है जिससे हममें भाव को स्थिर अथवा वश में रखने की क्षमता आवे। परन्तु, निरोधमार्ग तभी विश्वसनीय समझा जायगा जब दुःखों के अन्त अर्थात् निर्वाण-गति को वास्तविक माना जाय। इसलिए हम निर्वाण की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

दुःखों का अन्त (निर्वाण)

चूँकि दुःख का कारण है और कारण हटाया जा सकता है, इसलिए दुःख का अन्त सम्भव है। दुःख के मूल में अविद्या है जिसके कारण क्षणिक सुख की कामना की जाती हैं, क्षणिक वस्तुओं को शाश्वत तथा क्षणिक स्कन्धों की सन्तति को स्थायी आत्मा माना जाता है। अन्त में, अहंभाव अथवा आत्मभावना ही सभी दुःखों का कारण है क्योंकि व्यक्ति समझता है कि **मैं** सुखी हूँ, अमुक वस्तु **मेरी** है, **मैं** नित्य आत्मा हूँ। इसलिए आत्मभावना के निराकरण से सभी दुःखों का जड़ से विनाश हो सकता है। अतः, अहंभाव के अन्त होने को ही दुःखों का अन्त कहा जा सकता है। यहाँ हमें निर्णय करना है कि अहंभाव का क्या स्वरूप है और फिर इसका किस प्रकार उन्मूलन किया जा सकता है।

आत्मभावना (अहंभाव) का स्वरूप

बुद्ध भगवान् के प्रतीत्यसमुत्पाद के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार सभी घटनाओं का कारण होना है और कोई भी कारण नित्य नहीं होता। इसलिए 'आत्मा' अथवा अहंभाव भी क्षणिक कारणों तथा नित्य परिवर्त्तनशील घटनाओं के प्रवाह की सन्तति से उत्पन्न होता है। प्रत्येक मेज लकड़ियों की जोड़ से बनती है और प्रत्येक लकड़ी अणुओं के योग से बनती है और फिर प्रत्येक अणु विद्युत्-लहरियों की व्यवस्था से बनता है। अतः, अन्त में कोई भी वस्तु परिवर्त्तनशील, क्षणिक विद्युदूर्मियों की व्यवस्था या गेस्टाल्ट कही जा सकती है। जब तक क्षणिक घटनाओं का रूप बना रहता है तब तक वस्तु उसी रूप के नाम से पुकारी जाती है। प्रत्येक मेज दिनोंदिन पुरानी होती जाती है, परन्तु जब तक उसमें मेज का आकार या रूप बना रहता है तब तक वह उसी नाम से पुकारी जाती है। जब मेज टूट जाती और उसके अंग-प्रत्यंग छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तब वह फिर 'मेज' संज्ञा नहीं कही जाती है। यहाँ स्मरणीय बात है कि मेज लकड़ियों के रूपीकरण का नाम है और बिना लकड़ियों के आकारीकरण या लकड़ियों के इसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार जिसे हम 'मैं', 'मेरा' इत्यादि संज्ञाएँ देते हैं वह केवल एक प्रकार घटनाप्रवाह का रूपीकरणमात्र है; 'मैं', 'अहं' इत्यादि की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसलिए, बुद्ध भगवान् के अनुसार, जिसे हम राम, यदु इत्यादि विभिन्न आत्माएँ समझते हैं वे केवल पाँच स्कन्धों के विविध रूपीकरणमात्र हैं। स्वतंत्र एवं स्थायी आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

पाश्चात्य विचारकों में ह्यूम ने भी आत्मा को दुःख-सुख, भूख-प्यास इत्यादि प्रक्रियाओं की सन्तति या प्रवाह माना था। उनके अनुसार, 'स्थायी आत्मा' संज्ञा केवल काल्पनिक रचना है। फिर, विलियम जेम्स ने बताया है कि आत्मा या सेल्फ एकरूप नहीं रहता है; यह बृहद् तथा लघु होता रहता है। उन्होंने अहंभाव को 'चेतना-प्रवाह' संज्ञा दी है। ठीक इसी प्रकार बुद्ध भगवान् ने आत्मा अथवा अहंभाव को काल्पनिक रचना माना है। इस अनात्मवाद के सिद्धान्त को राईल के मत से भी पुष्ट किया जा सकता है। राईल के अनुसार, जो बात किसी सिअरीज (श्रेणी, अनुक्रम) के सदस्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है वह बात श्रेणी के सम्पूर्णत्व के लिए नहीं कही जा सकती है। जैसे, 'मगध विश्वविद्यालय' का अर्थ लगाया जाता है इसके महाविद्यालय, पुस्तकालय, कार्यालय, प्रयोगशाला इत्यादि। अब पुस्तकालय या कार्यालय का हम निरीक्षण कर सकते हैं पर कार्यालय, पुस्तकालय, प्रयोगशाला इत्यादि के सिअरीज़, जिसे हम 'मगध विश्वविद्यालय' कहते हैं, उसका हम निरीक्षण नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, सिअरीज़ के मेम्बर या सदस्य निरीक्षणीय सत्ताएँ हैं, लेकिन इन निरीक्षणीय सदस्यों का सिअरीज़, सिअरीज़ के रूप में निरीक्षणीय नहीं है। उसी प्रकार जिसे हम 'अहं' या

'आत्मा' संज्ञा देते हैं, वह घटनाओं का प्रवाह अथवा सन्तति है। सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद इत्यादि अनुभूत विषय हैं, परन्तु उनकी सन्तति, जिसे हम 'मन', 'आत्मा' या 'अहं' कहते हैं, वह अनुभूत विषय नहीं है, उसका कोई अस्तित्व नहीं है। बुद्ध भगवान् के अनुसार, अहंभाव अज्ञान से उत्पन्न काल्पनिक रचना है; वस्तुत: रूप, वेदना, प्रत्यक्ष, प्रवृत्ति (भावसंवेग) तथा चेतना ये ही पाँच स्कन्ध हैं और इनमें से प्रत्येक क्षणिक कहा जायगा।

प्रश्न—यदि आत्मा क्षणिक घटनाओं का प्रवाह हो तो हममें स्थायी आत्मा का भ्रम कैसे हो जाता है ?

उत्तर—हम क्षणिक घटनाविशेषों पर ध्यान नहीं देते; हम इन स्कन्धों के रूपीकरण या सन्तति के आकार पर ही ध्यान देते हैं। यह रूपीकरण परिवर्त्तनशीलता के बावजूद भी कुछ दूर तक एकरूप बना रहता है। पेड़ का रूप कुछ दूर तक वर्षों बना रहता है, यद्यपि इसके अंग-प्रत्यंग में निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है। दीप जलता रहता है, इसमें क्षण-क्षण परिवर्त्तन होता रहता है; पर देखनेवाले के लिए दीप ज्यों-का-त्यों कुछ काल तक एक सत्ता मालूम देता है। इसी प्रकार अहं या आत्मा स्थायी नहीं है, बल्कि सुख-दु:ख अथवा स्कन्धों की सन्तति अथवा रूपीकरण है। इसका अपना कोई अस्तित्व नहीं है। हम स्कन्धों के समान आत्मा को भी अनुभूत सत्ता समझते हैं और यह केवल भ्रम है; राईल के अनुसार प्रवर्ग-भ्रम (कैटिगरी मिस्टेक) है, अर्थात् हम आत्मा को भी उसी वैचारिक रूप के अन्तर्गत समझते हैं जिसके अन्तर्गत इसके स्कन्ध गिने जाते हैं। सिअरीज़ के सदस्य का अस्तित्व हो सकता है; किन्तु स्वयं सिअरीज़ का कोई अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

प्रश्न—यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं हो तो पुनर्जन्म किसका होता है ? कौन पाप-पुण्य का भोक्ता होता है ? क्या पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान लेने से स्थायी आत्मा का अस्तित्व गौण रूप से नहीं स्वीकृत हो जाता है ?

उत्तर—बुद्ध भगवान् उच्छेदवाद को नहीं मानते थे, जिस वाद के अनुसार मृत्यु के बाद सम्पूर्ण आत्मा का पूर्णतया विनाश हो जाता है। फिर, आप शाश्वतवाद को भी नहीं स्वीकारते थे। आप मध्यमार्ग का अनुसरण करते थे। जिस प्रकार एक दीप दूसरे दीप को जला देता है और हम समझते हैं कि वही दीप जल रहा है, उसी प्रकार एक जीवन के संस्कार, भव आदि के द्वारा दूसरे जीवन की सन्तति जारी हो जाती है और आत्मा का तारतम्य जारी रहता है। इसलिए हम कहते हैं कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीरों में, एक योनि से दूसरी योनियों में, एक जन्म से अन्य जन्मों में संक्रान्त होकर विचरती रहती है। अत:, आत्मा के पुनर्जन्म मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। यहाँ जोर इस बात पर दिया जा रहा है कि क्षणिक घटनाओं की सन्तति अथवा तारतम्य और उनके गेस्टाल्ट (रूपीकरण) की समरूपता पर स्थायी आत्मा का भ्रमपूर्ण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। लेकिन आत्मा के पुनर्जन्म, पाप-पुण्य के भोक्ता तथा अन्य ऐसे विचार समझने के लिए

पाँच स्कन्धों के रूपीकरण के तारतम्य के आधार को बराबर ध्यान में रखना चाहिए। जब तक स्कन्धों के प्रवाह का पैटर्न अथवा रूपीकरण समरूप रहेगा तब तक कहा जायगा कि अमुक आत्मा इस जीवन तथा अन्य जन्मों में भी एक ही रहती है। लेकिन क्या हम कह सकते हैं कि आत्मा नित्य और स्थायी द्रव्य है? नहीं। इसका कारण है कि पंच स्कन्धों के प्रवाह का व्यवस्थित रूपीकरण किसी भी समय विनष्ट हो सकता है। वस्तुतः इस रूपीकरण के विनाश को ही 'निर्वाण' संज्ञा कहा जाता है। 'मैं' और 'मेरा' की भावना के विनाश को ही निर्वाण कहा जायगा। अतः, जब तक निर्वाणगति नहीं प्राप्त होती है तब तक अविद्या, संस्कार, तृष्णा तथा भव के आधार पर स्कन्धों के रूपीकरण की व्यवस्था समरूप बनी रहती है। इस कारण निर्वाणगति के पूर्व आत्मा के अस्तित्व को कुछ दूर तक माना जा सकता है। क्यों कुछ दूर तक ही? इसलिए कि आत्मा द्रव्य नहीं है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारने से प्रवर्गदोष (कैटिगरी मिस्टेक) उत्पन्न हो जाता है। पर चूँकि प्रवाह का तारतम्य रहता है, उसका गेस्टाल्ट अथवा रूपीकरण रहता है, इसलिए तारतम्य तथा रूपीकरण के अस्तित्व तक ही आत्मा का अस्तित्व माना जा सकता है।

प्रश्न—तो क्या निर्वाणगति प्राप्त कर लेने पर आत्मा का विनाश हो जाता है? क्या निर्वाणगति में स्कन्धों का रूपीकरण समाप्त नहीं हो जाता अथवा क्या घटनाचक्र का प्रवाह समाप्त नहीं हो जाता? और यदि स्कन्धों का रूपीकरण समाप्त हो जाता है तो क्या निर्वाणगति को शून्य नहीं माना जा सकता है? ऐसी दशा में क्या अन्तिम रूप में उच्छेदवाद नहीं स्वीकृत हो जाता है?

उत्तर—भगवान् बुद्ध उच्छेदवाद को स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु यह कहना है कि निर्वाण प्राप्त कर लेने पर भी आत्मा संरक्षित रहती है, गलत है। क्यों? क्योंकि निर्वाणगति में अहंभाव, 'मैं' और 'मेरा' का विचार नहीं रहता। दूसरे शब्दों में, पाँचों स्कन्धों का गेस्टाल्ट अथवा रूपीकरण विनष्ट हो जाता है, तो फिर 'आत्मा' संज्ञा किसे दी जाय? सुख-दुःख आदि प्रवाह के व्यवस्थित पैटर्न के समाप्त हो जाने पर आत्मा-रूप विलीन हो जाता है। पर क्या इसे उच्छेदवाद माना जाय? नहीं, क्योंकि यह आत्मा उस गति को प्राप्त करती है जो सभी सांसारिक तथा अनुभूत विषयों में भिन्न होती है। इसमें न तृष्णा, न भव, न राग-द्वेष, न हर्ष-विषाद रहता है। हम यही कह सकते हैं कि निर्वाण आत्मा की वह गति है जो सरल, निरवयव, सर्वव्यापक तथा चैतन्यपूर्ण है। चूँकि हमारे शब्द क्षणभंगुर सांसारिक वस्तुओं के ही लिए उपयुक्त होते और उनके ही वर्णन के लिए गढ़े गये हैं, इसलिए वे निर्वाणप्राप्त आत्मा के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं। हम केवल नकारात्मक रीति से कह सकते हैं कि निर्वाणप्राप्त आत्मा क्या नहीं है। यहाँ शंकर, टामस, अक्वाइनस तथा पॉल तीलिख तीनों एक स्वर से बौद्धों के साथ राग मिलाकर अलापते हैं कि अन्तिम गति अनिर्वचनीय, अवाच्य अथवा वर्णनातीत है। परन्तु चूँकि

निर्वाणगति अनिर्वचनीय है, हर विचारकोटि से परे है, इसलिए इसका अस्तित्व नहीं है, यह निष्कर्ष तर्कसंगत नहीं मालूम देता है। निर्वाण आत्मा की उस स्थिति का नाम है जो धर्म की शरण में रहते-रहते अन्त में प्राप्त होता है। यह स्थिति भावात्मक है।

बुद्ध भगवान् 'आत्मा' के रूप में उस समय भी नहीं प्राप्त हो सकते थे जब वे देह में थे। परन्तु भगवान् बुद्ध निर्वाणप्राप्त धर्मकाय अथवा तथागत के रूप में आज भी वैसे ही हैं जैसे वे २५०० वर्ष पूर्व शाक्यमुनि के रूप में भिक्षुओं को उपदेश देते देखे जाते थे। धर्मकाय के रूप में बुद्ध धर्म में हैं और प्रत्येक व्यक्ति में हैं। तो क्या हम कह सकते हैं कि आत्मा विभु रूप में, विश्वसत्ता के रूप में अथवा ब्रह्म के रूप में विलीन हो जाती है? बौद्धदर्शन में कई स्थलों पर निर्वाणप्राप्ति को जलकण के समुद्र में विलीन हो जाने के समान कहा गया है। परन्तु स्वयं बुद्ध भगवान् आत्मविलयन तथा निर्वाणस्थिति में आत्मा की गति के सम्बन्ध में मौन रहे हैं। इसलिए निर्वाण को अद्वैत-वेदान्त के मत से भिन्न समझना चाहिए। बुद्ध भगवान् के अनुसार, हम नहीं कह सकते हैं कि आत्मा है, न यह कि आत्मा नहीं है (नहीं तो निर्वाण किसका होता है?); न यह कि निर्वाण में आत्मा रहती है (अर्थात् इसमें गति, वृद्धि या विकास होता रहता है), न यह कि आत्मा नहीं रहती है और न यह कि आत्मा एक साथ रहती है और नहीं रहती है। अत, आत्मा के न तो द्रव्य-रूप और न क्रिया-रूप के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। उच्छेदवाद को मान लेने पर मानव सुखवादी होकर सुखभोगी हो जायगा जिससे दुःख और अविद्या बनी रहेगी और निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकेगा। यदि शाश्वतवाद को मान लिया जाय तो तृष्णा, अविद्या तथा दुःखपूर्ण जीवन को ही अन्तिम सत्य मान लेना होगा।

उच्छेदवाद तथा शाश्वतवाद इत्यादि वादों की चर्चा कर देने से भ्रम हो सकता है कि बुद्ध भगवान् भी शुद्ध दार्शनिक थे। भारतीय ऋषियों में शायद ही कोई शुद्ध दार्शनिक हुआ होगा। दर्शन एक बौद्धिक व्यायाम माना जाता है। परन्तु बुद्ध भगवान् तथा अन्य भारतीय विचारक दर्शन को व्यावहारिक रूप में परिणत करते आये हैं; दार्शनिक निष्कर्ष के अनुसार जीवनयापन करते आये हैं। इसलिए बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं को निर्वाणगति में आत्मा के रहने अथवा न रहने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने को प्रोत्साहित नहीं किया। वे चाहते थे कि प्रत्येक मुमुक्षु निर्वाण प्राप्त करने में अपनी शक्तियों को काम में लाये और वीतराग की दशा, शान्ति की अवस्था को प्राप्त करे। क्षणिकवाद, अनात्मवाद तथा निर्वाणगति को व्यावहारिक जीवन में उतारना ही बौद्धधर्म का एकमात्र उद्देश्य था। अनात्मवाद से कैसे पाठ सीखा जा सकता है?

साधारण जीवन की सामान्य भाषा में हम कहते हैं: **मुझे** सिर में दर्द है; **मुझे** भूख लगी है; यह कलम **मेरी** है इत्यादि। अब, यदि आत्मा न हो, अहंभाव न हो और न ममत्व हो तो हमें बौद्धदर्शन के अनुसार कहना चाहिए, 'सिरदर्द हो रहा है', 'भूख की

बेचैनी है', 'यह कलम है' इत्यादि। 'मैं-चेतना' का विनाश करना चाहिए। इससे लाभ? लाभ यह है कि हम सभी घटनाओं को वस्तुनिष्ठ रूप, व्यापक रूप में, उनके सच्चे रूप में देखने लग जायेंगे। हम उन्हें अपनी स्वार्थसिद्धि के रूप में अभिरंजित नहीं देखेंगे। हम सभी वस्तुओं एवं घटनाओं को अवैयक्तिक रीति से देखेंगे और हमारी दृष्टि व्यापक हो जायगी। हम किसी भी दुःख को अपना नहीं, बल्कि विश्व का दुःख मानेंगे। इसे स्पिनोज़ा ने कहा है कि इस अवस्था में हम सभी घटनाओं को उनके शाश्वत रूप में देख सकते हैं। इसी दृष्टिकोण को लेकर हीनयान से महायान तथा अर्हत् से बोधिसत्त्व होते हुए सम्बुद्धत्व की ओर विचारविकास हुआ। यदि सभी वस्तुओं को अतिवैयक्तिक रीति से देखने के हम अभ्यस्त हो जायेंगे तो किसी भी व्यक्ति को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होगा, जिससे वह त्रस्त हो। दुःख होगा लेकिन दुःख का भोक्ता नहीं होगा। यह समझना कठिन है, लेकिन दुःखनिरोधमार्ग के अध्ययन के बाद स्पष्ट हो जायगा कि धर्म-मार्ग का अनुसरण करने पर व्यक्ति वीतराग अवश्य हो सकता है। फिर इस बात को—कि व्यक्ति बिना अहंभाव के हो सकता है—इसलिए हमें मान लेने में कठिनाई होती है कि हम सांसारिक वस्तुओं की लिप्सा में इतने लिप्त रहते हैं कि इस अवस्था में रहकर, बिना 'मैं, मेरा' भाव के होना हम असम्भव समझते हैं। बिना निर्वाण प्राप्त किये अहं-भाव-विनाश को समझना कठिन है।

यह ठीक है कि व्युत्पत्ति के विचार से 'निर्वाण' का अर्थ है 'बुझा हुआ (दीप)।' लेकिन 'बुझा हुआ' का अर्थ है तृष्णा का विनाश, भववृत्ति का अन्त। इससे 'शून्य' का भी अर्थ लगाया गया है। लेकिन 'शून्य' का अर्थ अभावमात्र नहीं है। 'शून्य' वह है जो बढ़े, जिसका विस्तार हो। यह अंकगणित से स्पष्ट हो जाता है। किसी अंक के बाद जितने ही शून्य दिये जायेंगे उतना ही अधिक संख्या बढ़ेगी। अतः, अहंभाव के शून्य होने पर ममत्व का अन्त इसलिए हो जाता है कि अपनेपन की सीमा में इतनी वृद्धि हो जाती है कि विभुत्व उत्पन्न हो जाता और सभी सीमितपन दूर हो जाता है। अतः, अनात्मवाद आत्मा का नाश नहीं, वरन् इसकी विपुलता एवं असीमितपन का बोधक है। यह बात दुःखनिरोधमार्ग से स्पष्ट हो जायगी। यहाँ निर्वाण के सम्बन्ध में इतनी ही बात स्पष्ट करनी है कि निर्वाण भावात्मक स्थिति है, जिसे अर्हतों ने तथा सम्बौद्धों ने प्राप्त किया है और जिसके प्रति मुमुक्षुओं को श्रद्धा होनी चाहिए।

दुःखनिरोध-मार्ग

सभी दुःखों की जड़ में 'मैं' और 'मेरा' का भ्रमपूर्ण मत है। अहंभाव को दूर करने से ही दुःखों का अन्त होगा। इसलिए दुःख को दूर करने का मार्ग वह है जिसमें अपनेपन का भाव, 'मैं' का भाव दूर होता है। यह ठीक है कि जब तक मुमुक्षुओं को क्षणिकत्व का, अनात्मत्व का तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का सही ज्ञान नहीं होगा तब तक

वे सही दुःखनिरोध-मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकेंगे। परन्तु कोरे ज्ञान से लाभ नहीं हो सकता है। इस ज्ञान की छाप मन और शरीर से अभिव्यक्त होनी चाहिए। इसलिए अन्य भारतीय धर्मदर्शन के समान निरोधमार्ग शील, समाधि तथा प्रज्ञा के तीन पक्षों में बाँटा जा सकता है। ये तीनों पक्ष निरोधमार्ग के प्रतिपूरक एवं अवियोज्य अंग हैं। **शील** वह है जिसके अनुसरण से मुमुक्षु बुराई से हटकर सन्मार्ग की ओर अग्रसर होता है तथा वासनाओं के बीच अनुशासन प्राप्त होता है। फिर, शील के अनुपालन से शारीरिक प्रक्रियाएँ ऐसी अनुशासित हो जाती हैं कि उनसे मोह और अहंभाव की भावना शिथिल पड़ने लगती है। भिक्षुओं को शरीर को घृणास्पद समझना पड़ता है ताकि अपनी तथा कामवासना के निमित्त अन्य व्यक्तियों की देह भी घृणित मालूम दीखने लगे। इसलिए शील के अनुपालन में शरीर की, सिर से पैर तक प्रत्येक अंग की अशुद्धियों पर ध्यान दिया जाता है। शरीर के उन नव छिद्रों पर ध्यान दिया जाता है जिनसे घिनौने द्रव्य निकलते हैं—दोनों आँखों से कीच, दोनों कानों से मैल तथा पीब, दोनों नाकों से नेटा, मुँह से लार, उपस्थेन्द्रियों से मूत्र तथा मल। यदि शरीर के इन अग-प्रत्यंगों पर बार-बार ध्यान दिया जाय तो शरीर के प्रति आसक्ति घटती जाय तथा इस प्रकार देहधारण की प्रवृत्ति भी क्षीण हो जाय। फिर श्मशान तथा समाधि-स्थलों पर घूम-घूमकर शरीर का सड़ना देखने का भी आदेश दिया जाता है। अतः, शील के अनुपालन से अनासक्ति, विषयवासना से पराङ्मुखता आती-जाती है। शील निरोधमार्ग की प्रथम, समाधि मध्य और प्रज्ञा अन्तिम सीढ़ी कही जा सकती है।

समाधि विशुद्धिमार्ग का सबसे मुख्य पक्ष है। समाधि के ही द्वारा चारों आर्यसत्यों का सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके अन्तर्गत तीन अंग पाये जाते हैं—१. आठ ध्यान, २. चार अपरिमित जिनमें संवेगों का शोधन होता है और ३. सिद्धियाँ।

हम देखेंगे कि समाधि प्रमुख मार्ग अवश्य है, पर इसमें प्राप्त अनुभूति स्थायी नहीं होती। समाधिभंग हो जाने पर निर्वाण का क्षणिक आस्वादन विलुप्त हो जाता है। इस अवस्था को स्थायी करने के लिए **प्रज्ञा** की आवश्यकता होती है। प्रज्ञा वह है जिसके द्वारा धर्म में ही प्रविष्ट हुआ जाता है। धर्मप्रविष्ट होने पर अज्ञान दूर हो जाता, अहं-भाव का विनाश हो जाता है और निर्वाणदशा प्राप्त हो जाती है।

यदि हम शील, समाधि तथा प्रज्ञा पर विचार करें तो हमें निरोधमार्ग सर्वाङ्गपूर्ण मालूम देगा, अर्थात् निरोधमार्ग को मन, वचन तथा कर्म में एक साथ अभिव्यक्त होना चाहिए। यह मार्ग मनोवैज्ञानिक, आचारिक तथा ज्ञानात्मक कहा जायगा। इसके द्वारा सम्पूर्ण व्यक्ति को ही परिवर्त्तित किया जाता है ताकि अहंभाव का समूल विनाश हो जाय। इस निरोधमार्ग को **अष्टांगिक** कहा गया है क्योंकि इसमें आठ अंग हैं—१. सम्यक्

दृष्टि, २. सम्यक् संकल्प, ३. सम्यक् वाक्, ४. सम्यक् कर्मान्त, ५. सम्यगाजीव, ६. सम्यक् व्यायाम, ७. सम्यक् स्मृति, ८. सम्यक् समाधि।

सम्यक् दृष्टि—अविद्या के कारण जीवों को आत्मा स्थायी मालूम देती है और वस्तुएँ भी स्थायी रूप से वास्तविक दीखती हैं। यही कारण है कि जीव वस्तुओं के उपभोग तथा वासना-सुख से प्रेरित होकर सांसारिक जीवन के प्रति लिप्सा रखता है। परन्तु सांसारिक जीवन सम्पूर्णतया दुःखपूर्ण है। इस अविद्या को दूर करना है। तभी संसार से विरक्ति हो सकेगी। अविद्या को हटाने के लिए मिथ्यादृष्टि को हटाकर सच्ची दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। 'दृष्टि' का अर्थ केवल दर्शन नहीं है और न केवल ज्ञान; इसका अभिप्राय है कि सभी वस्तुएँ और आत्मा भी सही रूप में दीखें। जिस प्रकार बच्चा सभी वस्तुओं को खिलौना समझता है, कामी सभी वस्तुओं को कामविषयक मानता है, व्यापारी सभी वस्तुओं को व्यापार-सामग्री समझता है, उसी प्रकार भिक्षु को सभी वस्तुएँ चारों आर्यसत्यों से अभिरंजित दिखनी चाहिए। सम्यक् दृष्टि के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार का सच्चा ज्ञान होना चाहिए—

१. स्कन्धों का ज्ञान होना चाहिए जिनके रूपीकरण अहंभाव का अज्ञान उत्पन्न होता है। पाँच स्कन्ध हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।

२. आयतनों का ज्ञान, जिनकी संख्या बारह है, अर्थात् छह इन्द्रियाँ और उनके छह विषय—

चक्षु—रूप
घ्राण—गन्ध
श्रोत्र—शब्द
जिह्वा—रस
काय—स्फोटव्य (अर्थात् जिसका स्पर्श किया जा सके)
मन—धर्म (इसके अन्तर्गत भौतिक तथा अभौतिक सभी वस्तुएँ चली आती हैं)
आयतन का अभिप्राय है, चित्त-चैत्त आय अर्थात् क्षेत्र का विस्तार।

३. धातुओं का ज्ञान, जिनकी संख्या अट्ठारह है, अर्थात् आयतन में प्रत्येक इन्द्रिय के साथ उसके अनुरूप उसका विषय भी है। यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के साथ इसकी मनोवैज्ञानिक क्रिया भी चली आती है; उदाहरणार्थ—

चक्षु—रूप—चक्षुविज्ञान (अर्थात् प्रत्यक्ष)
घ्राण—गन्ध—गन्धविज्ञान (गन्धचेतना जिसे गन्धप्रत्यक्ष कहा जा सकता है)
इस प्रकार अट्ठारह धातु हैं।

४. इन्द्रियों का ज्ञान। इन्द्रियों की संख्या बाइस कही गयी है। इस ज्ञान में सुख-दुःख, उपेक्षा, श्रद्धा इत्यादि गिने जाते हैं।

५. द्वादशनिदान अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान ।

सम्यक् संकल्प—विरक्ति के लिए संकल्प करना । इसके अन्तर्गत अन्य व्यक्तियों के प्रति हिंसा तथा घृणा का भी त्याग चला आता है ।

सम्यक् वाक्—संकल्प ही में नहीं, वरन् व्यवहार में भी विशुद्ध दृष्टि की छाप रहनी चाहिए । वचन में विशुद्ध संकल्प रहना चाहिए अर्थात् झूठ नहीं बोलना चाहिए; दुर्वचन, निन्दा, कटु वचन तथा व्यर्थ के बकवास का त्याग करना चाहिए ।

सम्यक् कर्मान्त—वचन ही में नहीं, वरन् दैनिक जीवन के व्यवहार में भी सम्यक संकल्प को अपनाना चाहिए, अर्थात् अहिंसा, अस्तेय तथा इन्द्रियसंयम् को सम्यक् कर्मान्त के अन्तर्गत गिना जा सकता है ।

सम्यगाजीव—जीविकानिर्वाह के लिए उचित उपाय अपनाना चाहिए । छल-कपट तथा धूर्त्तता के द्वारा जीवननिर्वाह छोड़ना चाहिए । इसके अन्तर्गत जादू, मंत्र तथा ज्योतिष विज्ञान के द्वारा जीनिकानिर्वाह को निन्दनीय माना गया है ।

सम्यक् व्यायाम—इस मार्ग के द्वारा बुरे भावों को निकालना चाहिए, नई बुरी भावनाओं की उभरने से रोकना चाहिए तथा सद्विचारों को संरक्षित कर इनकी वृद्धि करनी चाहिए । बिना सतत् प्रयास अथवा अथक परिश्रम के दुःख निरोध-प्राप्ति कठिन होती है ।

सम्यक् स्मृति—जिन विषयों का सही ज्ञान हो चुका है उनका बराबर स्मरण करना चाहिए । फिर सभी विषय—चाहे वे वाह्य हों या आन्तरिक—सही-सही रूप में समझने चाहिए, अर्थात् शरीर को स्थायी न समझकर पंचस्कन्धों का रूपीकरण मानना चाहिए । फिर चित्त को चेतनमय तथा अचेतनमय प्रक्रियाओं का प्रवाह समझना चाहिए । शरीर को शरीर तथा चित्त को चित्त के सही रूप में समझना चाहिए । यदि हम शरीर को शरीर के रूप में समझेंगे तो हमें इसके प्रति आसक्ति नहीं होगी, क्योंकि इसकी रचना, कार्यवाही तथा इसके अन्त की सभी घटनाएँ इसके धारण के प्रति अनासक्ति उत्पन्न करेंगी । इसका उल्लेख अभी किया गया है । फिर हम यदि चित्त को चित्त ही समझें तो यह केवल चेतन और अचेतन प्रक्रियाओं की संतति कहा जायगा और स्थायी आत्मा तथा अहंभाव का दोषपूर्ण भ्रम हमें नहीं होगा ।

सम्यक् समाधि—यह वह मार्ग है जिसमें ज्ञान और शील से प्राप्त सम्यक् दृष्टि पाकर वास्तविक रूप का आस्वादन किया जाता है । समाधि की विशेष व्याख्या बाद में की जायगी ।

हमलोगों ने निरोधमार्ग को सर्वाङ्गपूर्ण कहा है । यह बात अष्टांगिक मार्ग में भी पायी जाती है जिसमें शील, समाधि तथा प्रज्ञा के तीनों पक्ष देखने में आते हैं ।

शील— { १. सम्यक् वाक्, २. सम्यक् कर्मान्त, ३. सम्यगाजीव }

चित्त अथवा समाधि— { ४. सम्यक् व्यायाम, ५. सम्यक् स्मृति, ६. सम्यक् समाधि }

प्रज्ञा— { ७. सम्यक् संकल्प, ८. सम्यक् समाधि }

चूँकि दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार समाधि और प्रज्ञा को विशेष माना जायगा, इसलिए अब हम इनकी व्याख्या करेंगे।

समाधि

समाधि के अन्तर्गत आठ प्रकार के ध्यान, चार प्रकार के अपरिमित तथा ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ गिनी जाती हैं। ध्यान पर योगाचारदर्शन में, अपरिमित पर महायान में तथा ऋद्धियों-सिद्धियों पर बौद्धमत के तंत्रदर्शन में क्रमश: विशेष जोर दिया गया है। ये तीनों अवियोज्य अंग हैं। ध्यान के आधार पर अहंभाव का विलयन किया जाता है। चूँकि ध्यान की स्थिति स्थायी नहीं रहती, इसलिए जीवन के समस्त कार्यक्रम में बौद्ध-दृष्टि को स्थिर रखने के लिए अपरिमित के द्वारा भावसंवेग को नियंत्रित किया जाता है। ऋद्धियों-सिद्धियों के प्राप्त हो जाने पर समाधिमार्ग की विश्वसनीयता सिद्ध होती है। इन तीनों अंगों पर पृथक्-पृथक् विचार करना अनिवार्य मालूम पड़ता है।
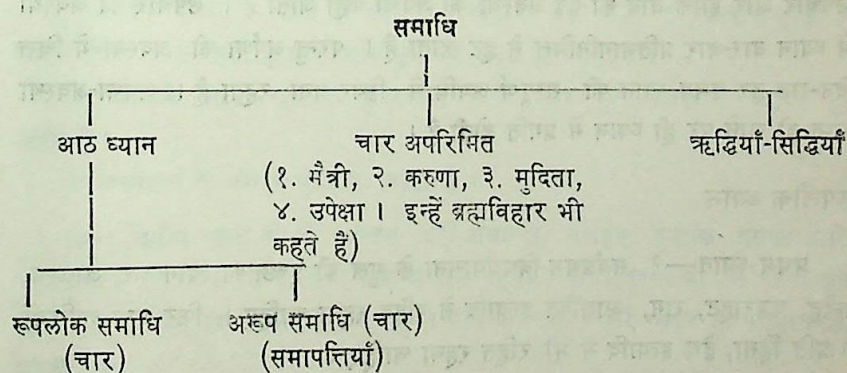
निरोधमार्ग का अभिप्राय है, वासनाओं से मुक्ति और वासनाओं की जो जड़ आत्मता में गड़ी है उसका उन्मूलन हो ताकि दुःखों से शान्ति अर्थात् निर्वाणगति प्राप्त

हो। वासनाविनाश तथा अनात्मताप्राप्ति समाधि से होती हैं। चित्त की उपमा दीप से दी गयी है। जिस प्रकार हवा के झोंके से दीपशिखा चंचल रहती है, उसी प्रकार वासनाओं तथा तृष्णा के कारण चित्त चंचल रहता है। यदि वासनाओं का शमन कर हम चित्त को किसी एक वस्तु पर स्थिर रखें तो इसे 'समाधि' कहते हैं। जिस प्रकार वायुहीन स्थान में दीपशिखा सीधी और शान्त जलती है, उसी प्रकार वासनाओं से मुक्त होकर अनात्मता का अनुभव करने पर चित्त एकाग्रता को प्राप्त करता है। अतः, वस्तुविशेष पर चित्तैकाग्रता को समाधि कहते हैं।

चूँकि वासनाओं से मुक्ति मिलना आवश्यक है, इसलिए मुमुक्षु भिक्षु को ध्यानयोग में प्रविष्ट होने के पहले चित्त को शुद्ध करना चाहिए। उसे कामछन्द (विषयवासना), आलस्य, औद्धत्य (उद्दण्डता), संशय और चित्त की अकर्मण्यता (स्त्यान)—इन पाँच विघ्नों (नीवरणों) से मुक्त होना चाहिए। फिर बुद्ध, संघ, धर्म, शील, त्याग और देवता का स्मरण कर तथा बुद्धादि निर्वाणप्राप्त व्यक्तियों के आदर्श से अनुप्राणित होकर योगासन ग्रहण करना चाहिए। चित्तैकाग्रता (चित्त की एकाग्रता) प्राप्त करने के लिए रूपलोक समाधि में किसी मूर्त्त वस्तु को कर्मस्थान करना चाहिए। कर्मस्थान समाधि का साधन होता है। इसलिए कर्मस्थान वह है जिससे समाधियोग की उत्पत्ति (अथवा निष्पत्ति) होती है। चालीस कर्मस्थान हैं जिनमें परिकर्मनिमित्त भी गिना जाता है। प्रारम्भ में नील या रक्त कमल या बुद्धमूर्ति या इसी प्रकार की प्रतिमा को ध्यान का आलम्बन बनाया जाता है। अतः, परिकर्मनिमित्त ध्यान को जमाये रखने का केवल एक सहारा है। बाद में चलकर परिकर्मनिमित्त को सभी स्थूल आकार, रंग, रूप इत्यादि से अलग कर ध्यान में अपने स्वरूप में परिस्पष्ट दीखना चाहिए। रंग, रूप, आकार इत्यादि से विमुक्त परिकर्मनिमित्त को प्रतिभागनिमित्त कहते हैं। ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था को **उपचार** और इसके बाद की दृढ़ अवस्था को **अर्पणा** कहा जाता है। उपचार की अवस्था में ध्यान बार-बार प्रतिभागनिमित्त से हट जाता है। परन्तु अर्पणा की अवस्था में चित्त दिन-रात हर समय ध्यान की सम्पूर्ण अवधि में स्थिर बना रहता है। अर्पणा-अवस्था प्राप्त हो जाने पर ही ध्यान में प्रगति होती है।

रूपलोक ध्यान

प्रथम ध्यान—१. सर्वप्रथम विषयवासना के सुख की इच्छा का त्याग कर, आलस्य, सन्देह, घबराहट, राग, आसक्ति इत्यादि से रहित रहना चाहिए। फिर अन्य व्यक्तियों के प्रति हिंसा, द्वेष इत्यादि से भी रहित रहना चाहिए।

२. मन को प्रतिभागनिमित्त पर अभिनिरोपित रहना चाहिए, अर्थात् स्थिर रहना चाहिए।

३. जिस प्रकार भौंरा किसी एक फूल के चारों ओर मँडराता रहता है उसी प्रकार भिक्षु को भी परिकर्मनिमित्त के प्रति सतत लगा रहना चाहिए।

४. इस अवस्था में नीवरणों के दूर हो जाने पर शारीरिक एवं मानसिक सुख का अनुभव होता है।

५. अन्त में एकाग्रता पायी जाती है।

पहले ध्यान में पाँच लक्षण पाये जाते हैं, अर्थात् वितर्क, विचार, पीति, सुख और चित्तैकाग्रता। ध्यान के आलम्बन में चित्त के प्रथम प्रवेश की अवस्था को **वितर्क** कहते हैं। आलम्बन में चित्त के अविच्छिन्न रीति से रहने को **विचार** कहते हैं। आकाश में उड़ने के पहले पंखों की फड़फड़ाहट से वितर्क की और पंख पसारकर डैनों की फड़फड़ाहट के बिना उड़ान से विचार की उपमा की गयी है। चित्त की तुष्टि को **पीति** (प्रीति) कहा गया है और इसके पाँच प्रकार माने गये हैं। अन्त में पीति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त कर परिपक्वता प्राप्त करती है और इस परिपक्व शारीरिक एवं चैतसिक शान्ति को 'सुख' संज्ञा दी गयी है। सुखप्राप्ति के साथ चित्त आलम्बन में सम्यक् और समरूप हो जाता है जिसे 'चैतैकाग्रता' संज्ञा दी जाती है।

पहले ध्यान के फलस्वरूप विशुद्धि, उपेक्षाभाव तथा सम्पसादन (अर्थात् प्रीतिपरायणता-भाव) उत्पन्न होता है। बार-बार पहले ध्यान को इसके पूर्व, मध्य और अन्तिम भाग में बाँटकर इसका अभ्यास करते रहना चाहिए। परन्तु पहले ध्यान का वितर्क-विचार स्थूल रहता है और इसका अन्त होना चाहिए, जो दूसरे ध्यान में सम्भव होता है।

द्वितीय ध्यान—१. यहाँ वितर्क-विचार का अन्त हो जाता है और संवेदनाएँ वाह्य और स्थूल न रहकर आन्तरिक एवं सूक्ष्म हो जाती हैं।

२. वितर्क-विचार के अन्त हो जाने पर सम्पसादन तथा श्रद्धा की उत्पत्ति होती है जिससे चित्त शान्त रहता है और ध्यान पूर्ण एवं अटूट हो जाता है।

३. ध्यान के अटूट रहने के फलस्वरूप पीति और सुख चित्त में व्याप्त हो जाता है।

४. एकाग्रता के अंश में वृद्धि हो जाती है।

परन्तु द्वितीय ध्यान को भी अन्तिम नहीं समझना चाहिए क्योंकि इसका प्रीति भाव स्थूल रहता है। इस प्रीति में प्रेम का अंश रहता है तथा तृष्णा का पूर्ण त्याग नहीं होता है। इसलिए इस स्थूल प्रीति से मुक्त होने के लिए तीसरे ध्यान की आवश्यकता होती है।

तृतीय ध्यान—तीसरे ध्यान में उपेक्षा, सतिम और सुखविहार पाया जाता है। उपेक्षा वह भाव है जिसमें ध्यानी सुख-दुःख दोनों भावों में समरूप रहता है। वह वस्तुओं

की क्षणभंगुरता, दुःख तथा अनात्मता से खिन्न नहीं होता है। सतिम उस ज्ञान को कहते हैं जिसमें ध्यानी को वाह्य तथा आन्तरिक वस्तुओं का भ्रमरहित ज्ञान प्राप्त होता है। सुखविहार वह है जिसमें ध्यानी सुख-दुःख दोनों से अप्रभावित रहता है, परन्तु ध्यान के समाप्त हो जाने पर शारीरिक शान्ति का अनुभव करता है।

तृतीय ध्यान के उपेक्षाभाव में भी सुख है जिसे अतिमधुर माना जाता है। परन्तु इसमें भय है कि ध्यानी फिर कहीं वासना-सुख में नहीं लौट आए। यह उपेक्षा से ओत-प्रोत सुख भी स्थूल है और इसे दूर करने के लिए चौथे ध्यान की सहायता ली जाती है।

चतुर्थ ध्यान—सर्वप्रथम, चतुर्थ ध्यान में दुःखविहीन तथा सुखविहीन स्थिति का अनुभव होता है, जिसे अदुःखमसुखम् या पूर्ण उपेक्षा कहा जा सकता है। इसमें ध्यानी सुख-दुःख से अप्रभावित ही नहीं रहता, बल्कि न उसमें शारीरिक सुख होता है और न शारीरिक दुःख, न चैतसिक सुख होता है और न चैतसिक दुःख। यह एक तीसरे ही प्रकार का भाव है जिसे उपेक्षा कहते हैं।

फिर इसमें सतिपरिशुद्धि पायी जाती है अर्थात् सभी चैतसिक प्रक्रियाएँ विशुद्ध एवं शान्त हो जाती हैं।

अरूपध्यान या समापत्ति

जब चतुर्थ रूपध्यान का अभ्यास हो जाता है तब ध्यान अनायास विशद रूप धारण करता रहता है। प्रतिभागनिमित्त भी सीमित से असीमित रूपधारण करने लगता है और इसका आयतन अपरिमित होने लगता है। अरूपध्यान के भी चार चरण हैं : आकाशानन्त्यायन, विज्ञानानन्त्यायन, आकिञ्चन्यायन और नैव संज्ञानासंज्ञायतन।

पंचम ध्यान (आकाशानन्त्यायन)—इस अरूपध्यान में अनन्त आकाश ही ध्यान का प्रतिभागनिमित्त होता है। इस आकाश में किसी वस्तु को नहीं रहना चाहिए, अर्थात् शुद्ध आकाश अपने अनन्त रूप में ध्यानविषय होना चाहिए। इस ध्यान में अभ्यस्त हो जाने पर नीवरणों का विनाश तथा सति (अर्थात् सभी वस्तुओं की सही-सही चेतना) का उद्विकास हो जाता है।

इसमें तीन प्रकार की संज्ञाओं का निवारण होता है : (१) रूप-संज्ञा का विनाश, क्योंकि यहाँ कोई भी रूप ध्यान का विषय नहीं होता, (२) प्रतिघ-संज्ञा का विनाश अर्थात् इन्द्रियों के किसी भी विषय की चेतना नहीं रहती है और (३) नानात्व-संज्ञा का अन्त, अर्थात् रस, शब्द, रूप आदि सभी विषयों का अन्त हो जाता है। ध्यानी सभी स्थलों पर आकाश ही देखता है।

षष्ठ ध्यान (विज्ञानानन्त्यायन)—यह ठीक है कि आकाश अनन्त होता है पर इसमें देश-संज्ञा रहती है (अर्थात् दिशा-चेतना, पूरब-पश्चिम इत्यादि की चेतना)। इसके अतिक्रमण के लिए षष्ठ ध्यान में अनन्त विज्ञान को ही ध्यान का विषय बनाया जाता है। यहाँ बिना किसी वस्तु की चेतना के स्वयं विज्ञान ही हमारे ध्यान का विषय होता है। इसलिए इसे विज्ञानानन्त्यायन ध्यान कहा जाता है।

सप्तम ध्यान (आकिञ्चन्यायन)—यहाँ ध्यान का विषय ऐसा होना चाहिए जिसमें किसी भी वस्तु को नहीं रहना चाहिए; न तो अनन्त आकाश ध्यान का विषय रहना चाहिए और न शुद्ध विज्ञान। यहाँ ध्यान का विषय शून्य कहा गया है। यहाँ अभाव को भी अनन्त माना गया है और इसे 'शान्त' संज्ञा दी गयी है।

अष्ठम ध्यान (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन)—यहाँ शून्य संज्ञा का भी अभाव ध्यान का विषय होता है। इस स्थिति को 'चेतनाविहीनता' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। यह शान्त और सूक्ष्म चेतना होती है। इसलिए इसे 'असंज्ञा' नहीं मानना चाहिए। फिर चूँकि यह संज्ञा न तो वस्तु की होती और न स्वयं उग्र एवं स्थूल होती है, इसलिए इसे संज्ञा भी नहीं कहा जा सकता है।

ध्यान का मुख्य उद्देश्य है कि विषयवासना और वस्तुज्ञान का अतिक्रमण कर उपेक्षा-भाव प्राप्त किया जाय। इस भाव में न तो सुख-दुःख का भाव होता है और न सुख-दुःख से अप्रभावित रहने की क्षमता, प्रत्युत एक तीसरा अनूठा भाव होता है जो समाधि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। अतः, अरूपध्यान के मुख्य अंग हैं, उपेक्षा तथा चित्तैकाग्रता। इन चारों प्रकार के ध्यानों के फलस्वरूप समाधि शान्त से शान्ततर तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर प्रगति करती है।

चार अपरिमित अथवा ब्रह्मविहार

जिस प्रकार रूपलोकध्यान को पारकर अरूपध्यान में पहुँचने पर समाधि विशद एवं विपुल होती है उसी प्रकार भाव में भी तदनुरूप शोधन तथा उत्कृष्टता आ जाती है। चित्त की मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—चार उदात्त एवं सर्वोत्कृष्ट अवस्थाओं को 'अपरिमित' अथवा 'ब्रह्मविहार' संज्ञा दी गयी है। इनके आ जाने पर भिक्षु का व्यवहार 'सम्यक्' कहा जा सकता है। चूँकि इन भावों में व्यापकता देखी जाती है, इसलिए इन्हें 'अपरिमित' तथा 'अप्रमाण' भी कहा गया है।

मैत्री अथवा मित्रता की प्रवृत्ति को परहिताय माना गया है। जीवों के सुखी होने पर अपने में प्रफुल्लिता पाना, उनके हित को बढ़ाना मैत्री है। जीवों से द्वेष न करना तथा उनके प्रति राग का न होना भी मैत्री के अन्तर्गत गिना जाता है।

करुणा वह अपरिमित है जिसमें अन्य जीवों को दुःखी देखकर दुःख का संचार होता है।

मुदिता वह भावना है जिसमें दूसरों को सम्पन्न देखकर हर्ष का संचार होता है। इसमें अन्य व्यक्तियों की सम्पत्ति, पुण्य तथा गुणों की वृद्धि देखकर ईर्ष्या, द्वेष, जलन न होकर हर्षभाव होता है।

उपेक्षा चित्त की वह दिव्य अवस्था है जिसमें सभी जीवों के प्रति समभाव हो जाता है। प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, प्रतिकूल-अप्रतिकूल परिस्थितियों में वासनाहीन होकर भिक्षु उदासीन एवं तटस्थ रहता है। बताया जा चुका है कि सूक्ष्मतम उपेक्षा-भाव अन्तिम समाधि का परिपाक कहा जा सकता है।

ऋद्धियाँ

सफल समाधि के रहने पर व्यक्ति की चैतसिक शक्तियों का जागरित तथा विकसित होना स्वाभाविक है। इसकी चर्चा जैन ध्यान तथा योग के सम्बन्ध में पहले ही कर दी गयी है। बौद्धतंत्र में ऋद्धियों पर बहुत जोर दिया गया है। अणिमा, महिमा, गरिमा इत्यादि ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर मुमुक्षु का आत्मविश्वास बढ़ जाता है और निरोधमार्ग की सफलता टपकने लगती है। लेकिन ऋद्धियों के चकमे में आकर मुमुक्षु को अनात्मप्राप्ति, क्षणभंगुरता तथा निर्वाणप्राप्ति को अपने लक्ष्य से ओझल नहीं होने देना चाहिए।

प्रज्ञा

पहले ही कहा जा चुका है कि शील, समाधि तथा प्रज्ञा निरोधमार्ग के तीन अवियोज्य अंग हैं। शील के अनुसरण से दुश्चरित्रता का विनाश, समाधि द्वारा वासनाओं का उन्मूलन तथा प्रज्ञा द्वारा सम्पूर्ण भ्रमपूर्ण दृष्टि सम्यक् की जाती है। दूसरे दृष्टिकोण से शील मुमुक्षु की जीवनसाधना की पहली कड़ी है जिसे तैयारी कहा जा सकता है; समाधि दूसरा चरण है जिसमें निर्वाणगति का क्षणिक आस्वादन प्राप्त हो सकता है। परन्तु प्रज्ञा को साधना का अन्तिम अध्याय कहा जा सकता है क्योंकि समाधि की अस्थायी निर्वाणस्थिति को प्रज्ञा द्वारा दृढ़ कर स्थायी रूप दिया जाता है।

प्रज्ञा वह है जिसमें धर्म का ही विधिपूर्वक ध्यान किया जाता है। इसलिए इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्तित्व की पूर्णता-प्राप्ति में देखा जाता है। प्रज्ञा वह है जो स्वयं धर्मों में ही प्रविष्ट रहती है और उसके सच्चे स्वरूप को निर्धारित करती है। इसके द्वारा मायारूप तम का परदा दूर कर दिया जाता है और प्रज्ञाप्राप्त अर्हत को भान होने लगता है कि अब वह किसी भी प्रकार के अज्ञान में नहीं है। जो चित्ताग्र होकर प्रज्ञावान् रहता है वह सभी घटनाओं को उसके यथार्थ स्वरूप में देखता है।

हमलोगों ने सम्यक् दृष्टि के प्रसंग में ही प्रज्ञा की व्याख्या कर दी है। फिर निर्वाणगति की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि निर्वाणप्राप्ति की दशा में अनात्मता

को अपनाते हुए अर्हत को ममत्वभाव नहीं होता। उसे सुख-दुःख अथवा अपना भान नहीं होता है। यदि उसके सिर में दर्द भी हो तो वह उसे न अपना कहेगा और न अपने को दुःखी पायेगा। उसका दर्द अवैयक्तिक, क्षणिक तथा अपने से परे मालूम होगा। ऐसी दृष्टि प्राप्त कर अर्हतों को उपेक्षा-भाव का अनुभव होगा। यही है प्रज्ञा पर आधृत सम्यक् दृष्टि।[1]

हीनयान और महायान

कालगति के क्रम में बौद्ध विचारों में गहनता और प्रौढ़ता आने लगी। चौथे महासभा में (लगभग प्रथम ईसवी में) बौद्धों के विचारों में मतभेद हो गया। महायानी वे विचारक थे जिन्होंने बौद्ध धर्मविचारों में अन्तर्निहित गूढ़ तत्वों को विकसित रूप देकर प्रगाढ़ दर्शन की रचना की है। इनकी तुलना से हीनयानी रूढ़िवादी परंपरा में ही रह गये और बौद्ध विचारों को अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा नहीं की। पर मानना पड़ेगा कि बुद्ध भगवान् की शिक्षा अधिकतर हीनयानियों के ही पक्ष में कही जायगी। इसे अब पूर्वकालीन बौद्ध मत कहा जायगा। इस संदर्भ में महायानियों का कहना है कि बुद्ध भगवान् ने अपने युग-विचारों के अनुकूल ऐसी शिक्षा दी थी जो उस समय के लोग समझ सकते। पर प्रातिभ और अपेक्षाकृत अधिक सुयोग्य पात्रों के लिए उच्चतर ज्ञान दिया था जिसके महायानी अपने को अधिकारी मानते हैं। निःसंदेह असंग, वसुबंधु, नागार्जुन इत्यादि विश्व की ऊँची कोटि के उद्भट विद्वान कहे जा सकते हैं। हीनयान और महायान में कोई मौलिक भेद नहीं है। हीनयान को बौद्धधर्म का प्रारंभिक रूप और महायान को उसका उत्तर एवं विकसित रूप कहा जा सकता है। हीनयान और महायान निर्वाण के संदर्भ में निम्नलिखित बातों को समान रूप से ग्रहण करते हैं :

१. निर्वाण-गति अनिर्वचनीय है।

२. निर्वाण-गति, बिना किसी पारलौकिक सत्ता को स्वीकारे हुए प्रत्येक साधक अपने ही प्रयत्न-द्वारा बुद्ध-मार्ग का अनुसरण कर इसे प्राप्त कर सकता है।

३. निर्वाण-गति प्राप्त कर लेने पर अहंभाव का विलयन हो जाता है।

४. निर्वाण-गति चिरशांति की है।

५. निर्वाण-गति की प्राप्ति के बाद सांसारिक दुःखों तथा पुनर्जन्म से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है।

इन दोनों के बीच ये प्रमुख भेद भी हैं :

१. हीनयानी निर्वाणगति को आनन्द-स्थित समझते हैं।

---

१. विस्तार के लिए देखें पूर्वपृष्ठ ७८-७९।

२. फिर हीनयानी निर्वाणगति को अर्जित मानते हैं। इनके विपरीत महायानी निर्वाणगति को अजाति मानते हैं, अर्थात् यह साधक की अन्तिम, नित्य और स्थायी गति है जिसे अज्ञानवश रहने के कारण साधारणतया मानव नहीं समझते हैं। जो वस्तु कार्य होगी उसका विनाश अनिवार्य है। पर निर्वाणगति नित्य और अविनाशी है जिसे प्राप्त अथवा अर्जित नहीं किया जा सकता है, बल्कि इसका उद्बोधन-मात्र होता है।

महायान के अनुसार, निर्वाणगति को प्राप्त करने के लिए दार्शनिक चिंतन की आवश्यकता होती है और विशेषकर नागार्जुन ने अपनी द्वन्द्व-विधि (dialectics) के द्वारा सिद्ध कर दिया है कि निर्वाण को न तो भाव, न तो अभाव, न भावाभाव और न भावाभाव नहीं है, की चतुष्कोटि-द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अतः, न तो निर्वाण-गति के अस्तित्व को स्वीकारा जा सकता है और न इसे आनन्द की स्थिति स्वीकारा जा सकता है। निर्वाणगति सर्वथा वर्णनातीत है। इसी बात से मिलता-जुलता महायानी सिद्धान्त सभी वस्तुओं के **निःस्वभाव** का है।

हीनयानियों के अनुसार सरल, क्षणिक तथा क्षणभंगुर धर्म हैं जिस पर प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त टिका हुआ है। अतः हीनयानियों के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का यही अर्थ है कि प्रति क्षण कोई घटना होती है और उसके बाद ही विलीन होकर अन्य क्षणिक घटनायें दृष्टिगोचर होती हैं। अतः हीनयानी क्षणिक घटनाओं के स्वभाव को स्वीकारते हैं। ठीक इसके विपरीत प्रतीत्य-समुत्पाद से अभिप्राय होता है कि एक घटना के बाद दूसरी घटना होती है। इसलिए प्रत्येक क्षणिक घटना को निर्भर, सापेक्ष तथा तत्वहीन अथवा निःस्वभाव कहा जा सकता है। अतः वास्तव में अन्तिम गति **शून्य है**।

निष्कर्ष हुआ कि महायान के अनुसार हीनयान के विरोध में न तो निर्वाण को भावात्मक रीति से आनन्द-स्थिति कहा जा सकता है और न क्षणभंगुर घटनाओं का कोई अपना स्वभाव होता है। शून्यता एकमात्र अन्तिम गति है। इसी प्रकार हीनयानी के लिए अर्हत-प्राप्ति और महायान के लिए बोधिसत्व तथा संबुद्धत्व-प्राप्ति को विशेष माना जाता है। इनकी चर्चा निम्नलिखित रूप में की जा सकती है।

अर्हत और सम्बुद्ध

बौद्धधर्म के इतिहास में अन्तर्निहित बीजतत्वों को अंकुरित कर हीनयान और महायान—इन दो प्रमुख शाखाओं का विकास हुआ। अहंभाव को उन्मूलित करना तथा क्षणिकत्व की दृष्टि प्राप्त करना बौद्धमत का चरम उद्देश्य था। इस उद्देश्यप्राप्ति में ध्यान द्वारा वासना-विनाश का एक पक्ष था और अपरिमित की साधना के आधार पर अनात्मता को प्राप्त कर अपने भावों को विश्वव्यापी बनाना दूसरा पक्ष। अपने अहंभाव को दूर करना उतना ही महत्वपूर्ण था जितना भावों को उदात्त एवं व्यापक बनाना। ज्ञान पर

अधिक बल देकर अनात्मता, क्षणभंगुरता तथा तृष्णा-विनाश की सम्यक् दृष्टि प्राप्त करने के उद्देश्य को अर्हतप्राप्ति संज्ञा दी गयी और करुणा के अपरिमित भाव को प्राप्त करने के उद्देश्य पर अधिक बल देकर प्रज्ञा-प्राप्ति को 'सम्बुद्ध' की।

महायान के उदय के साथ दो प्रकार के निर्वाण की चर्चा होने लगी : एक ओर श्रावक तथा प्रत्येकबुद्ध की भावना होने लगी और इनके अन्तिम रूप को अर्हत संज्ञा दी गयी। इसके विपरीत अर्हत से भी उत्तम गति बोधिसत्त्वों की बतायी जाने लगी जो अन्त में सम्बोधि या सम्बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। अर्हत की गति भी कई स्थितियों से क्रमशः प्राप्त कर लेने पर ही सम्भव हो सकती है—

१. स्रोतापन्न वे मुमुक्षु हैं जो अष्टांगिक मार्ग में प्रवेश कर उसमें मँज जाते हैं। ये अन्त में सम्बोधि प्राप्त करते हैं।

२. पूर्वसंस्कार की तपस्या के फलस्वरूप सकृदागामी वे हैं जो स्रोतापन्न की गति प्राप्त कर आसानी से समाधि तथा प्रज्ञा के आधार पर ऐसी निर्वाण गति पा लेते हैं जिससे फिर वे इस पृथ्वी पर जन्म नहीं लेते।

३. अनागामी वे मुमुक्षु हैं जिनका इस पृथ्वी पर अन्तिम बार जन्म होता है और जो निर्वाण प्राप्त कर फिर जन्म नहीं लेते।

४. अर्हत की गति इन तीनों से श्रेष्ठ है। इनमें किसी प्रकार की पापवृत्ति नहीं रहती और इन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। ये उन सभी साधनों को पार किये होते हैं जिन्हें किसी भी मानव को पूरा करना होता है। ये अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं और निर्मुक्त होते हैं।

बोधिसत्त्व तथा सम्बुद्धत्व

कालगति के साथ अनेक बौद्धों को अर्हत-गति उच्चतम नहीं प्रतीत होने लगी। उन्हें प्रतीत होने लगा कि अर्हत केवल अपना ही निर्वाण प्राप्त करता है और संसार के दुःख से पीड़ित असंख्य जीवों की ओर से तटस्थ रहता है। यद्यपि अर्हत अनात्मता को प्राप्त करता है और उसमें 'मैं' और 'मेरे' का भाव नहीं रहता है, तो भी अन्य मुमुक्षुओं को ऐसा प्रतीत होने लगा कि अर्हत स्वार्थी जीव होते हैं क्योंकि वे अन्य जीवों को संसार के दुःखसागर में डूबते छोड़कर केवल अपनी ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

अर्हत की तुलना में बौद्धों को बोधिसत्त्व का आदर्श अधिक आकर्षक दीखने लगा। बोधिसत्त्व वे अर्हत हैं जो अपनी निर्वाणगति को स्थगित कर लेते हैं और तब तक महापरिनिर्वाणगति को नहीं प्राप्त करना चाहते जब तक जीवों को निर्वाण के प्रति अभिमुख नहीं कर दें। इन्हें पूर्ण ज्ञान तथा प्रज्ञा पा लेने पर भी अनेक जन्म इसलिए लेने पड़ते हैं कि ये जीवों को दुःखनिवृत्तिमार्ग बतायें, उसका निर्देश करें और लोक-कल्याण में निरत रहें। अर्हत की तुलना में बोधिसत्त्व का आदर्श उन्हें महान् प्रतीत

हुआ। इसलिए अर्हतत्व के आदर्श को अन्तिम लक्ष्य माननेवालों को उन्होंने 'हीनयानी' (हीन = तुच्छ, छोटा; यान = मार्ग, साधन, गाड़ी) संज्ञा दी और बोधिसत्त्व के आदर्श को अन्तिम लक्ष्य माननेवालों को 'महायानी', 'बुद्धयानी' आदि।

जब अर्हत्व आसान है और सम्बुद्धत्व अत्यन्त कठिन, तो क्यों बोधिसत्त्व बनकर सम्बुद्धत्व की आकांक्षा रखी जाय? इसका कारण है कि अपरिमित करुणा की साधना करने पर जब अर्हत अतिकरुणामय हो जाता है तव वह दूसरे जीवों को देखकर द्रवित हो जाता है। बिना उनके दुःख को दूर किये वह रह नहीं सकता। यह ठीक है कि बोधिसत्त्व को धर्म एवं पुण्य कमाने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु अतिकरुणामय बोधिसत्त्व सर्वलोककल्याण में रत रहकर दुःखनिवारण के हेतु अन्य दुःखी जीवों के दुःख ढोते रहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जीवन्मुक्त की भावना को विस्तारित एवं व्यापक बनाकर बोधिसत्त्व की कल्पना की गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि लोकहित तथा सर्वजीवहिताय की महान् भावना बोधिसत्त्व की कल्पना में छिपी हुई है। परन्तु क्या यह कल्पना बौद्ध-दर्शन से संगति खाती है? एक ओर सर्वक्षणिकवाद तथा अनात्मवाद का पाठ सिखाया जाता है और दूसरी ओर स्थायी वस्तु और जीवों की बात कही जाती है। यदि सभी कुछ क्षणभंगुर है तो कौन जीव है जिसकी मुक्ति होगी या निर्वाण? फिर यदि अर्हतत्व प्राप्त कर बोधिसत्त्व उपेक्षाभाव प्राप्त करते हैं तो फिर करुणाभाव का स्थान इतना अधिक कैसे समझा जाय? करुणा का स्थान समाधि के अन्तर्गत आता है और समाधि की तुलना में प्रज्ञा का स्थान ऊँचा है। प्रज्ञा-प्राप्ति के बाद मुमुक्षु में उपेक्षा-भाव और क्षणिकत्व की दृष्टि हो जाती है तो फिर करुणा का गौण लक्षण किस प्रकार प्रधान मान लिया जाय? अन्त में अन्तिम ध्यान में संज्ञासंज्ञा की अवस्था चली आती है, अर्थात् चित्त इतना अनन्त हो जाता है कि इसका कोई भी विषयविशेष नहीं रह जाता है। ऐसी अवस्था में जीवों का दु ख संज्ञासंज्ञी का विषय नहीं हो सकता है।

तो क्या बोधिसत्त्व की कल्पना सर्वथा असंगत है? नहीं। यदि धार्मिक प्रकथन पूर्णतया संज्ञानात्मक होते तो निश्चय ही बोधिसत्त्व की कल्पना असंगत होती। परन्तु धर्मसंवाक्य सम्प्रत्यायक होते हैं और उनमें तर्कसंगतता का स्थान गौण रहता है। धर्म-संवाक्य में धार्मिक व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व वाचाल हो जाता है। अतः महायानी बोधिसत्त्व की कल्पना कर अपने और श्रोतागणों के पूर्ण व्यक्तित्व को उद्‌बोधित कर अपने जीवन को बौद्ध धर्म के अनुकूल बनाता है। स्वयं महायानी का जीवन ही उसके धर्म की कसौटी है। परन्तु अब हमें बौद्ध धर्म के प्रकथनों की 'सत्यता' की जाँच करनी है।

बौद्ध-प्रकथनों की 'सत्यता' का प्रश्न

बौद्धधर्म में अनेक तत्वमीमांसात्मक सिद्धान्त हैं जिनमें प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद तथा अनात्मतावाद प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों की सत्यता वही होगी जो किसी भी तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्तों की हो सकती है। हम इन सिद्धान्तों को दर्शन के प्रस्ताव समझते हैं। यदि प्रस्तावों के आधार पर धार्मिक अनुष्ठान में सहायता मिले तो इन प्रस्तावों को उस सीमा तक सही समझा जायगा। परन्तु बौद्धधर्म का दावा है कि निर्वाणस्थिति प्राप्त हो सकती है जिसमें अनात्मता, क्षणिकत्व तथा उपेक्षाभाव की दृष्टि वाह्य रूप तथा अन्य प्रकार के प्रतिवेदनों के द्वारा जाँची जा सकती है। वाह्य रूप से निर्वाणस्थिति में तीन लक्षण देखने में आते हैं : (क) शारीरिक व्याघातों से छुटकारा। (ख) सभी प्रकार के भय, चिन्ता तथा मृत्युभय से भी पूर्ण मुक्ति। सभी प्रकार की चिन्ताओं से इसलिए मुक्ति मिलती है कि इस स्थिति में 'मैं' और 'मेरा' रहता ही नहीं है तो चिन्ता का आलम्बन कहाँ होगा और बिना आश्रय के चिन्ता-भाव स्वयं तिरोहित हो जायगा। (ग) अन्त में उपेक्षा-भाव के आधार पर अनन्त शान्ति की झलक दिखाई देती है।

१. उपर्युक्त तीन वाह्य लक्षणों के साथ अनन्त मैत्री, करुणा और मुदिता के भाव भी हैं जिन्हें जीवन्मुक्तों के व्यवहार से जाना जा सकता है। अतः, बौद्ध धर्म की निर्वाण-प्राप्ति की दशा आत्मकथात्मक अवश्य है, पर इसे जीवन्मुक्त के व्यवहार से प्रमाणीकृत किया जा सकता है। लेकिन ज्यों-ज्यों मुमुक्षु ध्यानों में अभ्यस्त होता जाता है त्यों-त्यों उसकी चेतना गहराई और विशदता की ओर प्रगति करती जाती है। इस चित्त की भी जाँच सिद्धान्ततः शारीरिक व्यवहार से की जा सकती है। शारीरिक व्यवहार के अन्तर्गत सम्भाषण भी चला आता है और प्रारम्भिक ध्यानों की स्थिति का प्रतिवेदन भाषाबद्ध किया जाता है। ध्यानी बताता रहता है कि प्रतिभागनिमित्त पर उसका ध्यान स्थिर रहता है या नहीं। फिर तीसरे रूपलोकध्यान के अन्त में उसे उपेक्षा-भाव का अनुभव होता है जिसका भी भाषाबद्ध प्रतिवेदन दिया जा सकता है। लेकिन अन्तिम संज्ञासंज्ञा की स्थिति इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि साधारणतया इसका भाषाबद्ध प्रतिवेदन कठिन होता है। लेकिन बोधिसत्त्व ऐसे जीव होते हैं जो लोककल्याण के लिए इस कठिन साधना का भी प्रतिवेदन दे सकते हैं। ऐसा नहीं होता तो इस प्रकार की स्थिति का हमें ज्ञान कैसे मिलता ? स्वयं बुद्ध भगवान् ने करुणामूर्त्ति होकर, लोककल्याण के हेतु जन्म लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्थितियों का भाषाबद्ध प्रतिवेदन दिया है जिसे अन्य जीवन्मुक्तों ने बार-बार प्रमाणित किया है। अतः, निर्वाण स्थिति आत्मकथात्मक अवश्य है, पर अन्य किसी भी आत्मकथात्मक अनुभूति के समान मनोवैज्ञानिक रीति से सम्बोध्य कही जायगी। इसका प्रमाणीकरण अन्य पक्षों के द्वारा भी हो सकता है।

२. निर्वाणगति एकाएक नहीं प्राप्त होती है। इसकी प्राप्ति सोपानक्रमिक होती है,

अर्थात् एक सीढ़ी अथवा चरण के बाद दूसरी सीढ़ी और दूसरे के बाद तीसरी सीढ़ी इत्यादि क्रमशः प्राप्त होती है। अब पहली सीढ़ी की सत्यता दूसरी सीढ़ी से पुष्ट होती है क्योंकि पहली सीढ़ी अधूरी होती है, इसमें दूसरी सीढ़ी का पूर्वाभास रहता है। इसलिए पहली सीढ़ी की सत्यता दूसरी सीढ़ी में पुष्ट होती है। फिर, यद्यपि पहले चरण में दूसरे चरण का प्रमाणीकरण नहीं होता, लेकिन इसके यथार्थ होने की सम्भावना सिद्धान्ततः विचारी जा सकती है। अब, निर्वाणस्थिति अन्त में आती है और यदि बोधिसत्त्वों के सम्बुद्धत्व की स्थिति भी स्वीकार की जाय तो इस प्रकार की गति का प्रमाणीकरण अत्यन्त कठिन है। फिर यह ठीक है कि भगवान् बुद्ध ने मरणोत्तर जीवन के विषय में अटकल नहीं लगाने पर जोर दिया है। लेकिन यदि निर्वाणियों के मरणान्तर जीवन को भी स्वीकार कर लिया जाय तो बौद्ध धर्म के प्रकथन विशेषकर तत्त्वमीमांसात्मक हो जायँगे। परन्तु यदि हम मरणोत्तर जीवन की बात न करें और अन्तिम संज्ञासंज्ञा अथवा शुद्ध चित्त (जिसका कोई विषय, चाहे विशेष या सामान्य, न हो) की भी चर्चा न करें तो जीवन्मुक्त की निर्वाणगति की सम्भाव्यता उसकी पूर्वावस्थाओं के आधार पर की जा सकती है। अर्हत-गति की सम्भाव्यता सातवें ध्यान द्वारा निर्धारित होती है और उसी प्रकार अरूप-ध्यान की सम्भाव्यता रूपलोकध्यानों के द्वारा। उसी प्रकार रूपलोकध्यानों के निष्कर्ष अरूपध्यानों द्वारा पुष्ट होते हैं। पाँचवें ध्यान का निष्कर्ष छठें ध्यान द्वारा सत्यापित होता है। अतः निर्वाणगति का अर्थनिरूपण तथा सत्यापन-मिथ्यापन ध्यानों के सोपानक्रम से सिद्ध होता है।

३. क्या दुःखनिवृत्ति, जिसे 'निर्वाण' कहते हैं—'सत्य' है? हमें यहाँ 'सत्य' के अर्थ का निरूपण करना चाहिए। हमें धार्मिक सत्यता को वैज्ञनिक अथवा तथ्यात्मक प्रकथनों की सत्यता से भिन्न समझना चाहिए। तथ्यात्मक सत्यता का अर्थनिरूपण प्रायः बहुत दूर तक सत्यापन-सिद्धान्त के आधार पर सन्तोषजनक समझा जाता है। अनुभववादी प्रायः सत्यता की इस प्रस्तावित परिभाषा को एकमात्र सही समझते हैं; वे धार्मिक 'सत्यता' को 'सत्यता' की संज्ञा नहीं देते। यह उनकी गलती है। अपने-अपने प्रसंग में 'सत्यता' की परिभाषा विभिन्न प्रकार की हो सकती है। इसे अब हम स्पष्ट करेंगे।

(क) वैज्ञानिक सत्यता वह है जो घटनाओं के पूर्वकथन नियंत्रण तथा जीवन के मार्गीकरण में सफल सिद्ध हो। इस प्रकार की सत्यता ऐन्द्रिक अनुभूति के आधार पर प्रदत्तों पर विशेषतया निर्भर होती है। प्राक्कल्पनाओं से अभिरंजित तथा उनसे निस्सृत (अथवा निगमित) प्रदत्तों की प्राप्ति से अमुक प्राक्कल्पनाओं को पुष्ट समझा जाता है। इस प्रकार की सत्यता से आधुनिक जीवन सम्भव हो सका है और मानव चन्द्रलोक तक पहुँच पाया है। आधुनिक समाज में रहकर इस प्रकार की सत्यता का उल्लंघन कठिन एवं असंगत भी होगा।

परन्तु विज्ञान को छोड़कर साहित्य, कला, नीति तथा धर्म भी हैं। इनका भी जीवन

पर विज्ञान के समान ही अधिकार है। अतः, केवल वैज्ञानिक सत्यता को एकमात्र सत्यता नहीं समझा जा सकता है। हमलोगों ने बार-बार कहा है कि आदर्श के प्रति निवेदित जीवन एवं आस्था को धार्मिक सत्यता का आवश्यक अंग माना जाता है। इसलिए यदि धार्मिक व्यक्ति को अपने उपास्य विषय अथवा आदर्श के प्रति आत्मबन्धन हो, उससे अनुप्राणित निवेदित जीवन हो, तो ऐसे ही जीवन को निष्कपट, सच्चा तथा अकूट समझा जायगा। फिर ऐसे अकूट एवं निवेदित व्यक्तित्व से निगमित धर्मवाक्य भी सच्चे, सिद्ध और आप्त समझे जायेंगे। अतः धर्मवाक्य सत्य-असत्य नहीं होते, लेकिन तदनुरूप सच्चे[1] तथा आप्त कहे जा सकते हैं। इसलिए धार्मिक वाक्यों की सत्यता इनकी आप्तता तथा सचाई पर निर्भर होती है। परन्तु यदि धर्मवाक्यों की सत्यता उनकी आप्तता एवं सचाई पर आधृत हो तो विभिन्न प्रकार के धार्मिक वाक्यों की सत्यता किस प्रकार निर्धारित की जा सकती है ?

(ख) धार्मिक सत्यता आप्तता में है, अर्थात् जिसमें छल-कपट न हो और जो धर्म वाक्यों के बोलनेवाले की आस्था तथा उसके पूर्ण व्यक्तित्व को सम्पूर्णतया परिलक्षित कर दे। इस अर्थ में आप्त प्रकथन के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता है कि किसी एक ही धर्म के संवाक्य आप्त हैं और अन्य धर्मों के संवाक्य अनाप्त। सभी धर्मों के प्रकथन आप्त हो सकते हैं, यह धार्मिक व्यक्तियों के जीवन, उनकी आस्था तथा उनके निवेदित कार्यक्रम से सिद्ध या असिद्ध होता है। चूँकि विभिन्न प्रकार के धर्म हैं, इसलिए विभिन्न प्रकार के आप्त प्रकथन होंगे और प्रत्येक धर्म के संवाक्यों की आप्तता की कसौटी भी विभिन्न होगी। ईसाई धर्म के प्रकथनों की आप्तता ईसाई के निवेदित जीवन से सिद्ध या असिद्ध होती है। ईसाई वह है जो ईसा द्वारा अभिव्यक्त प्रेममय ईश्वर पर अपना जीवन समर्पित कर देता है तथा ईश्वर से प्रतिदिन प्रार्थना कर अपनी इच्छाओं को ईश्वरीय इच्छा के ऊपर डाल देता है और अन्त में ईश्वरीय अनुग्रह तथा उसके प्रसाद से सत्संकल्पी जीव बनता है। यदि ईसाई प्रकथन इस प्रकार के सत्संकल्पी व्यक्तित्व का अभिलक्षण हो तो उस प्रकथन को सच्चा एवं आप्त कहा जायगा। इसी प्रकार यदि जैनी का जीवन शुद्ध चैतन्यमय तथा सर्वज्ञ हो तो उसके प्रकथन भी आप्त माने जायँगे। ठीक इसी प्रकार यदि बौद्ध के जीवन में अपरिमित मैत्री, करुणा इत्यादि हों, वस्तुओं के क्षणिकत्व से उसमें किसी भी प्रकार की चिन्ता न हो तथा उसके अन्दर अनात्मदृष्टि हो जाय तो उससे निकले हुए बौद्धप्रकथन भी आप्त कहे जायँगे।

---

१. प्रायः 'सच' और 'सत्यता' को एक ही अर्थ में काम में लाया जाता है। परन्तु इन दोनों में अन्तर है। वस्तु, व्यक्ति तथा आदर्श और इन पर आधृत प्रकथनों को 'सच्चा' संज्ञा दी जा सकती है। 'सत्यता' को तथ्यात्मक वैज्ञानिक प्रकथनों के लिए ही सीमित रखा जा सकता है।

यहाँ आपत्ति उठायी जा सकती है कि यदि सभी प्रकार के धार्मिक संवाक्य आप्त हो सकते हैं और यदि इन सभी आप्त प्रकथनों में विभिन्नता हो तो इनके बीच समवन्य कैसे हो सकता है ? क्या यहाँ धार्मिक प्रकथनों के बीच अन्धव्यवस्था नहीं चली आयेगी ?

(ग) यदि धार्मिक प्रकथन आत्मकथात्मक हों—जैसे जैन तथा बौद्ध धर्मों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है—तो धार्मिक संवाक्यों में विभिन्नता होना अनिवार्य है। व्यक्ति संस्कार (जैसा भारतीय दर्शन की मान्यता है) अथवा व्यक्तित्वगठन के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं और यदि जीव विभिन्न प्रकार के हों तो इनके आत्मकथात्मक प्रकथन भी विभिन्न होंगे। इसलिए धार्मिक संवाक्यों में विभिन्नता का होना अनिवार्य है। परन्तु, यदि धार्मिक संवाक्यों में विभिन्नता हो तो इनके बीच सन्तुलन कैसे होगा ? एक ही धर्म के संवाक्यों में भी विभिन्नता देखने में आती है क्योंकि उसके अनुयायी अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। आनन्द भक्त थे, सारिपुत्र प्रज्ञावान् तथा मौद्गल्यायन ऋद्धि-प्राप्त। अतः इनके द्वारा किये गये आप्त प्रकथनों में भी विभिन्नता है। तो फिर इन प्रकथनों में संतुलन कैसे होगा ?

ऋषि, मुनि, बौद्ध, जैन इत्यादि में सहास्तित्व तथा पारस्परिक मतभेद के रहते हुए भी आपसी सहिष्णुता के आधार पर भारतीय मत है कि प्रत्येक जीव अपने अन्तिम लक्ष्य को अपने ज्ञानदीप का अनुसरण कर प्राप्त कर सकता है। फिर यदि व्यक्ति बुद्ध भगवान् के 'आत्मदीपो भव' के सन्देश का पालन करे तो अपने-अपने धर्म में निरत हो जाने पर आपसी वैमनस्य नहीं रहता। क्योंकि अन्तिम गति विभिन्न रहते हुए भी ऐसी नहीं है कि उनके बीच मतभेद हो। यहाँ उपमामय भाषा में कहा गया है कि पर्वत का शिखर एक ही रहता है लेकिन इसपर पहुँचने के अनेक पथ होते हैं या अनेक नदियाँ अन्त में एक ही समुद्र में गिरती हैं। इसकी चर्चा आगे 'धर्मसमन्वय-प्रकरण' में की जायगी लेकिन यहाँ निम्नलिखित बात स्पष्ट हो जाती है।

(घ) चूँकि जैन और बौद्ध धर्मों के संवाक्य आत्मकथात्मक होते हैं, इसलिए यहाँ धार्मिकों का निवेदित जीवन ही उनके धर्मों की 'सत्यता' का एकमात्र मापदण्ड है। शायद यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि इसका सामान्यीकरण किया जा सकता है। इस-लिए हम कह सकते हैं कि प्रत्येक धर्म की सचाई उस धर्म के अनुयायी के सच्चे तथा अकूट जीवन से सिद्ध होती है। अतः ईश्वरसम्बन्धी प्रकथन भी ईश्वरभक्तों के जीवन से सिद्ध होते हैं, न कि ईश्वर के अस्तित्व से। ईश्वर का अस्तित्व वैज्ञानिक रीति से सिद्ध नहीं हो सकता है, लेकिन भक्त अपने जीवन से ईश्वर का अस्तित्व, उसका प्रसाद तथा उसका सृष्टिकर्तृत्व सिद्ध करता है।

(ङ) जैन धर्म में सर्वज्ञता का प्रश्न उठाया गया था। बौद्ध धर्म में भी अर्हत और विशेषकर बुद्ध भगवान् को सर्वज्ञ माना गया है। अब 'सर्वज्ञता' का क्या अभिप्राय होता है ?

निर्वाणप्राप्त जीव सर्वज्ञ होते हैं और यह 'सर्वज्ञता' के सही अर्थ में अनिवार्य प्रकथन है, अर्थात् निर्वाणप्राप्ति और सर्वज्ञता के बीच अवियोज्य अथवा अनिवार्य सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में, 'अर्हत सर्वज्ञ होते हैं', विश्लेषात्मक वाक्य कहा जा सकता है। प्रायः लोग 'सर्वज्ञता' का यह भ्रमपूर्ण अर्थ लगाते हैं कि अर्हत जानते हैं कि अमुक जीव को कल प्रातःकाल क्या होगा, या यह कि खोयी हुई गाय कहाँ है इत्यादि अर्थात् समस्त वस्तु विशेषों की सभी देश-काल की विभिन्न स्थितियों के आनुभविक ज्ञान को 'सर्वज्ञता' की संज्ञा दी जाती है। पाश्चात्य धर्मदार्शनिक भी ईश्वर को इसी अर्थ में सर्वज्ञ समझते हैं। परन्तु जैन, बौद्ध तथा वेदान्त में सर्वज्ञता का यह अर्थ नहीं हो सकता है। जब व्यावहारिक जगत् को ही मिथ्या माना जाता है तो पारमार्थिक अथवा सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर लेने पर किस प्रकार विश्व के तिरोहित घटनाविशेषों का तथ्यात्मक ज्ञान हो सकता है ? क्या गधे की सींग का ज्ञान हो सकता है, क्या आकाशपुष्प का ज्ञान सम्भव हो सकता है इत्यादि ? क्षणिकत्व, दुःखविनाश तथा अनात्मता की दृष्टि प्राप्त कर लेने पर मिथ्यादृष्टि दूर हो जाती है, तथ्यों के अभाव में तथ्यात्मक ज्ञान का अभाव हो जाता है और दुःख से परे उपेक्षा भाव पर आधृत अनन्त शान्ति की स्थिति को 'सर्वज्ञता' की संज्ञा दी जाती है।

अन्तिम चित्त की अवस्था निर्विषयक होती है अथवा सम्पूर्ण सत्ता के समग्रत्व का ज्ञान होता है। इस सर्व-ज्ञान के सर्वत्व की बौद्धदर्शन में अस्तित्ववादी व्याख्या की गयी है। बौद्धदर्शन में—जैसा विशेषकर जैनों की 'अपवर्ग-स्थिति' में भी है—माना गया है कि अन्तिम मोक्षगति पूर्ण उपेक्षा की हो सकती है। जैन धर्म में तो कहा गया है कि मुक्त जीव शिला के समान शान्त एवं दृढ़ हो जाता है। यह अवस्था शायद अर्हतों की भी कही जा सकती है। इसे भावहीनता की स्थिति कहा जा सकता है जो अतिनिष्क्रिय अवस्था है और जिसे चेतनविहीनता से कठिनाई से भिन्न किया जा सकता है। महायानियों को सर्वज्ञता का यह रूप ठीक नहीं जँचा, क्योंकि महायान के अनुसार, निर्वाणप्राप्त जीव को चेतनाहीन नहीं, निष्क्रिय तथा भावहीन नहीं, बल्कि प्रबद्ध, सचेष्ट तथा समाप्त जीवों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील माना जाता है। इनके मत को समसायमिक भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

बुद्ध भगवान् सर्वज्ञ इस रूप में थे कि उन्हें चारों आर्यसत्यों का ज्ञान था जिनके प्राप्त कर लेने पर अन्तिम निर्वाणमय ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, अर्थात् जगत् के 'विश्वचिकित्सक' के रूप में दुःखनिरोध-मार्ग का ज्ञान उन्हें प्राप्त था। क्या 'चत्वारि आर्यसत्यानि' को सर्वज्ञता के अन्तर्गत गिना जा सकता है ? महायानी तथा हीनयानी दोनों इसका स्वीकारात्मक उत्तर देंगे। मैं समझता हूँ कि इसका सही उत्तर वही होगा जो विट्गिन्स्टाइन ने अपने दर्शन के सम्बन्ध में कहा था। 'चत्वारि आर्यसत्यानि' की उपमा एक सीढ़ी से दी गयी है जिस पर चढ़कर उँचाई पर रखी 'सर्वज्ञता' प्राप्त की

जा सकती है। परन्तु ऊँचाई—जहाँ से फिर नीचे आने की आवश्यकता नहीं होती, पर चले जाने पर सीढ़ी बेकार हो जाती है। इसी प्रकार की उपमा और विचार शंकरीय वेदान्तियों द्वारा वेदान्तदर्शन के सम्बन्ध में भी व्यक्त किया गया है। इसलिए सर्वज्ञता के अन्तर्गत वह दार्शनिक ज्ञान भी नहीं आता है जिसके आधार पर स्वयं सर्वज्ञता प्राप्त की जाती है। तो ऐसी दशा में सर्वज्ञता के अन्तर्गत विश्व-सम्बन्धी घटनाओं का ज्ञान कहाँ तक समाविष्ट किया जा सकता है ? तब सर्वज्ञता है क्या ? 'सर्व का ज्ञान।' 'सर्व' क्या है ?

'सर्व' न तो वस्तुविशेषों का योगफल है और न ज्ञाता से भिन्न। सर्व सर्वज्ञ से अभिन्न है। यही अन्तिम सत्ता है जिसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुछ कहने का अर्थ है कि आप अभिन्न, सर्व और सर्वज्ञ को भिन्न कर रहे हैं, जो सर्वज्ञता नहीं हो सकती है। परन्तु सर्वज्ञ के सम्बन्ध में लाक्षणिक रूप में यह बात कही जा सकती है। सर्वज्ञ वह है जो सभी समय व्यस्त रहता है, परन्तु जिसे कार्यविशेष को कार्यान्वित करने की सुधि नहीं होती, जो सभी निरन्तर घटनासंहति पर विचार करता रहता है पर जिसे घटनाविशेष की चेतना नहीं होती, जो शुभ लक्ष्यों को प्राप्त करता है पर लक्ष्य-विशेष को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता, जो सर्वज्ञता को भी प्राप्त नहीं करना चाहता पर सर्वज्ञता का पथिक होकर अन्त में सर्वज्ञता को प्राप्त करता है।

बौद्ध-धर्म में बुद्ध भगवान् की पूजा

बौद्ध धर्म के ह्रास के अनेक कारण बताये जाते हैं। स्वयं बुद्ध भगवान ने अपने चचेरे भाई और भक्त आनन्द से कहा था कि आनन्द तुमने मठ में भिक्षुणियों को स्थान दे दिया है। इसलिये बौद्ध मत अब एक हजार के बदले पाँच सौ वर्ष ही रह पायेगा। अतः मठों में दुराचार के होने पर बौद्ध धर्म टिक नहीं पाया।

द्वितीय, मठ राजा-रजवाड़ों से चलता था जिससे भिक्षु आलसी और परावलम्बी बन गये। जब हिन्दू धर्म का सफल विस्तार होने लगा तब मठ की आय घट गयी और बौद्ध दार्शनिकों में कमी आने लगी जिन्हें मठों में स्थान दिया जाता था। पर बौद्ध धर्म वास्तव में अपने समय से बहुत आगे था। निर्वाण की कल्पना इतनी ऊँची थी कि इसमें उपासना का कोई स्थान नहीं था, न कोई देवी-देवता ही आवश्यक माना गया। बौद्ध धर्म में भिक्षुओं की शिक्षा-दीक्षा बहुत ऊँची थी, पर गृहस्थ अनुयायियों की शिक्षा-दीक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। स्वयं बुद्ध भगवान् ने जनसाधारण को उनकी पूजा के लिए उन्हें छूट दे रखी थी। इन सबके परिणामस्वरूप बहुसंख्यक बौद्धों में किसी इष्टदेव की उपासना की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी। चूँकि बोधिसत्व ही ऐसे साधक थे जो मानव कल्याण को परम लक्ष्य बनाये हुए थे, इसलिए उनकी ही पूजा का प्रचार

सर्वत्र होने लगा। साथ ही साथ बुद्ध भगवान् के स्वरूप के संदर्भ में कालगति से विचार होने लगा।

बुद्ध भगवान् के विषय में त्रिकाय बुद्ध का विचार स्थापित होने लगा, अर्थात् रूपकाय या निर्माणकाय बुद्ध, सम्भोगकाय बुद्ध और धर्मकाय बुद्ध। रूपकाय बुद्ध वे ऐतिहासिक जीव हैं जिन्होंने मानव जन्म लेकर निर्वाण प्राप्त किया और निर्वाण-प्राप्ति की शिक्षा दी है। सम्भोगकाय बुद्ध वह हैं जिन्होंने स्वर्ग प्राप्तकर स्वर्ग के ऐश्वर्य का उपभोग किया। संभोगकाय बुद्ध की कल्पना हिन्दू धर्म के देवताओं के साथ तुलना कर की जा सकती है। परन्तु धर्मकाय बौद्ध धर्म का तात्विक रूप है जिसे साकार कर दिया गया है। तब रूपकाय बुद्ध संसार में थे पर अब वे इस रूप में नहीं हैं। इसके विपरीत धर्मकाय बुद्ध शाश्वत और नित्य हैं और बौद्धों के लिए अभी जीवित हैं। धर्मकाय बुद्ध की कल्पना हिन्दू धर्म के 'ईश्वर' के समान है।

हीनयान में बुद्ध भगवान् को मानव रूप में ही समझा जाता है और 'धर्मकाय' से अभिप्राय होता है धर्म-उपदेश और विनय (अनुशासन) से जिन्हें उन्होंने इस भूवल पर लोगों को सिखाया। कालगति के साथ महायानी ललितविस्तर नामक ग्रंथ में बुद्ध भगवान् को अतिमानव गुण और शक्तियों से सम्पन्न मानव रूप में देखा जाता है। परन्तु बुद्ध भगवान् ने मृत्यु-काल की अन्तिम घड़ी में कहा था कि धर्म की शरण लेने पर ही मोक्ष या निर्वाण प्राप्व हो सकता है। इस रूप में वसुबंधु ने धर्मकाय रूप में बुद्ध भगवान् को सभझा है। इस रूप में धर्मकाय बुद्ध नित्य और शाश्वत बनाये जा सकते हैं।

परन्तु इस समय बुद्ध भगवान् की पूजा अन्य अनेक बोधिसत्वों के साथ की जाती है। इस पूजा को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक देवी-देवताओं की पूजा के समान बताया जा सकता है।

●

अध्याय : ५

हिन्दू धर्म

विषय-प्रवेश

भारतीय संविधान की २५वीं धारा के अंतर्गत 'हिन्दू' शब्द जैन और बौद्ध धर्मों का भी बोधक है। इस व्यापक अर्थ में हिन्दू धर्म का इतिहास सिंधुतट सभ्यता से प्रारंभ होकर अभी भी जारी है। इस पाँच हज़ार वर्षों के लम्बे इतिहास में अनेक नवीन धारायें भी उत्पन्न हुई हैं। इस समय हिन्दू धर्म में इतनी अधिक धारायें पायी जाती हैं कि इसे धर्मों का विश्वकोश भी कहा जा सकता है। विकास-क्रम के रहते हुए भी प्रचलित हिन्दू धर्म में अनेक प्राचीन धर्म-विचार भी संरक्षित रहे हैं। उदाहरणार्थ, अनेक आदिम जातियों में अभी भी सर्वजीवातमवाद, भूत-प्रेत पूजा, इत्यादि पायी जाती हैं। अभी भी ३००० ई० पू० सिंधुतट सभ्यता की पूजायें भी देखी जाती हैं। परन्तु प्रचलित हिन्दू धर्म में गीता, उपनिषद् और रामायण को विशेष स्थान दिया जाता है। पूजा-पाठ में आज भी वेद-मन्त्र पढ़े जाते हैं। प्रचलित धर्म में सिंधुतट सभ्यता के मुख्य देवता शिव भगवान् लिङ्ग-पूजा के साथ समादृत देखे जाते हैं। देवियों की पूजा, नंदी-समादर, वृक्ष-पूजा आदि देखी जाती है। मूर्तिपूजा भी संभवतः, इसी सिन्धुतट सभ्यता की देन है। संभवतः, कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तम्भ इसी सभ्यता से प्राप्त किये माने जा सकते हैं, और वैदिक निःश्रेयस् जिसे स्वर्ग-प्राप्ति कहा जाता है, उसे सिद्धान्ततः मोक्ष-प्राप्ति की तुलना में अपेक्षाकृत गौण माना जायगा।

साथ ही साथ मानना पड़ेगा कि प्रचलित हिन्दू धर्म को ईश्वरवादी कहा जायगा क्योंकि रामायण में, विशेषकर तुलसीकृत रामायण में ईश्वरवाद को ही अपनाया गया है। फिर शैव्य एवं वैष्णव मतों में भी ईश्वरवाद विशेष रूप से पाया जाता है और ये दोनों मत हिन्दू धर्म की प्रमुख शाखाओं में गिने जायेंगे। पुनः, हिन्दू धर्मदर्शन में शंकर और रामानुज को प्रमुख धर्मदार्शनिक स्वीकारा जायगा और इन दोनों में ईश्वरवाद को स्वीकारा गया है।

प्रचलित हिन्दू धर्म में जातिभेद पाया जाता है और शंकर तथा रामानुज ने मनु द्वारा प्रचारित जातिभेद स्वीकारा है जिसे पुरुषसूक्त में मिथक के रूप में सर्वप्रथम स्थापित किया गया था।

वर्णभेद के साथ आश्रम धर्म को भी माना गया है। अर्थात् ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के चार आश्रम को माना गया है। शंकर और मंडनमिश्र में

गार्हस्थ आश्रम के संदर्भ में मतभेद अवश्य है। मंडन गार्हस्थ पर संन्यास की अपेक्षा अधिक बल देते हैं। शंकर भी आश्रम-विचार का नहीं खंडन करते हैं, पर इनके अनुसार योग्यताधिकार के साथ बिना गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन किये हुए साधक सीधे संन्यास को स्वीकार कर सकता है। अतः, आश्रम-विचार में अवैदिक संन्यास धर्म और वैदिक पितृपूजा, दोनों के बीच समन्वयात्मक धर्म की स्थापना की गयी है, अर्थात् गार्हस्थ जीवन में रहकर पुत्र उत्पन्न कर पिता के ऋण चुकाने के बाद साधक संन्यास ले सकता है।

कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी सिद्धान्त को स्वीकारने पर जीवात्मा की अमरता को भी स्वीकारा गया है। इस अमरता का विचार उग्र रूप में विशेषकर गीता में अपनाया गया है।

ईश्वरवाद के साथ हिन्दू धर्म में अवतारवाद की परंपरा भी प्राचीन होते हुए अभी भी स्वीकृत समझी जायगी।

यद्यपि योगाभ्यास का जितना प्रचार-प्रसार रहना चाहिये उतना यह व्यवहार में नहीं आ रहा है। पर सिद्धान्ततः योग को निःश्रेयस् प्राप्ति का मुख्य साधन स्वीकारा जाता है।

ईश्वरवाद

वैदिक धर्म में ईश्वरवाद का पूर्ण विकास नहीं पाया जाता है। हमें याद रखना चाहिये कि ऋग्वेद की रचना ई० पू० २००० वर्षों से पूर्व की है। अतः, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इसमें शुद्ध ईश्वरवाद का रूप नहीं दिखता है। पर कालगति के साथ विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ एवं प्रजापति सृष्टिकर्ता समझे गये हैं, तो भी इनमें से किसी एक ही को मात्र परमेश्वर नहीं स्वीकारा गया है। अधिक से अधिक विकल्पेश्वरवाद (हेनोथीजम) देखने में आता है, जिस स्थिति में बारी-बारी से किसी एक मुख्य देवता को प्रशस्ति रूप में सर्वोच्च ईश्वर कहा गया है। अंत में सर्वदेवता की पूजा देखी जाती है।

आश्चर्य लगता है कि वैदिक धर्म के विकास में इन्द्र और वरुण को क्यों परमेश्वर का स्थान नहीं दिया गया। इन्द्र में नैतिक गुणों का अभाव हो सकता है, पर वरुण में शुभ नैतिक गुण पाये जाते हैं जिनके आधार पर इन्हें परमेश्वर की संज्ञा दी जा सकती थी। पर ऐसा हुआ नहीं। बाद में चलकर रुद्र-शिव को और विष्णु को ही परमेश्वर का स्थान प्रदान किया गया। जहाँ तक ऋग्वेद का सन्दर्भ है उसमें ईश्वरवाद के स्थान पर पुरुषसूक्त और नारदीय सूक्त में एकसत्तावाद तथा अद्वैती ब्रह्मवाद की पूर्वछाया पायी जाती है।

आगे चलकर उपनिषदों में ईश्वर तथा अद्वैतवाद, दोनों पाये जाते हैं क्योंकि उपनिषदों की रचना अनेक कालों में अनेक मुनियों के द्वारा सम्पन्न हुई और फिर इनमें रचनात्मक विचारों का ही प्रादुर्भाव देखा जाता है। अतः इनमें व्यवस्थित दर्शन का रूप नहीं देखा जाता है। बाद में चलकर उपनिषदों की टीका शंकर ने अद्वैतवादी रीति से प्रस्तुत करके

इस पक्ष में छा.उ. ६ : २.१; ७ : २५.२; बृ.उ. २ : ४.६; ३ : ७ : २३; ३ : ८.११; मु.उ. २:२.११; ईशा. उ. ७ को उद्धृत किया है। इसके विपरीत रामानुज ने उपनिषदों की टीका विशिष्टाद्वैती रीति से प्रस्तुत करके उपनिषदों को ईश्वरवादी धर्मग्रन्थ सिद्ध किया है। उपनिषदों में कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वरवाद स्पष्ट दिखता है। शंकर ने बृहदारण्यक और रामानुज ने छान्दोग्य उपनिषद को अपने-अपने धर्मदर्शन का मुख्य आधार बनाया था।

परन्तु हिन्दू धर्म के ईश्वरवाद का प्राण गीता ही गिना जायेगा और ईश्वरवाद को स्पष्ट तथा संतोषजनक रीति से रामानुज की गीता-टीका में देखा जाता है। वर्तमान युग में तुलसीकृत रामायण के ईश्वरवाद को अति लोकप्रिय समझा जा सकता है। धर्मदर्शन की दृष्टि से रामानुज का ईश्वरवाद उत्कृष्ट समझा जायगा। अतः इसकी व्याख्या को हिन्दू धर्म के ईश्वरवाद के संदर्भ में सबसे प्रामाणिक स्वीकारा जा सकता है।

रामानुज के ईश्वरवाद में ईश्वर को परब्रह्म के समान सर्वोच्च, शाश्वत और नित्य सत्ता स्वीकारा गया है पर इसमें व्यक्तित्व और संकल्प भी पाया जाता है। ईश्वर में केवल शुभ और शुद्ध गुण पाये जाते हैं और इस रूप में ईश्वर को 'भगवान्' कहा जाता है। भगवान् में ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज पाये जाते हैं। ईश्वर अपनी संकल्प-शक्ति के आधार पर सृष्टि को रचते और फिर उनका संहार भी करते हैं। इस सृष्टि-कर्तृत्व को ईश्वर की 'लीला' संज्ञा दी जाती है। पर सृष्टि की रचना एवं संहार तथा पालन से स्वयं ईश्वर में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता है।

फिर रामानुज ईश्वर को भक्त-वत्सल भी समझते हैं और धार्मिक दृष्टि से इसे ईश्वर का विशेष गुण समझा जायगा। इस दृष्टि से ईश्वर सृष्टि-रचना इसलिये करते हैं कि कर्म एवं अज्ञान में पड़े जीवों को ऐसा अवसर मिले कि उन्हें ईश्वर की भक्ति के फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त हो सके।

प्रकृति, जीव और देवता भी ईश्वर के 'शरीर' कहे जा सकते हैं और ईश्वर इस शरीर की अंतर्यामी आत्मा कहा जा सकता है। शरीर वह है जो आत्मा पर पूर्णतया निर्भर रहे, अर्थात् शरीर की समस्त प्रक्रियायें ईश्वर-द्वारा संचालित हों। गीता में भी भगवान् कृष्ण के आधिपत्य में प्रकृति की सभी प्रक्रियायें संचालित बतायी गयी हैं।

चूंकि देह-आत्मा की अवियोज्य सत्ता को परम ईश्वर कहा गया है, इसलिए शरीर की परिभाषा को ध्यान में रखकर जीवों का तात्विक गुण है कि वे ईश्वर के दास और किंकर (नौकर) रहें। पर जीव भी ईश्वर के अविनाशी अंग बताये गये हैं। जीव का बंधन कर्म-बन्धन कहा जा सकता है। जब जीव ईश्वर-निर्भरता से विमुख होकर, उससे अलग रहकर तृष्णावश कर्म करता है तब वह बन्धन में पड़कर कर्म-संसार के चक्कर में पड़ा रहता है।

जिस प्रकार जीव ईश्वर के शरीर का एक नित्य अंग रहकर नित्य और शाश्वत

सत्ता है, उसी प्रकार प्रकृति एवं संसार भी ईश्वर-शरीर का अंग रहकर पूर्णतया वास्तविक कहा जा सकता है। जीव और त्रिगुणात्मक प्रकृति ईश्वर के अवियोज्य अंग हैं और प्रलयकाल में भी ये ईश्वर में सूक्ष्म रूप में रहते हैं। इसलिये रामानुज अपने दर्शन को 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं क्योंकि जीव-प्रकृति भी अपनी विशिष्टता के साथ एक सम्पूर्ण ब्रह्म में जैविक (Organic) एकता में सूत्रबद्ध रहते हैं। रामानुज के दर्शन को वास्तववाद (realism) भी कहा जाता है क्योंकि शांकर मायावाद की तुलना में यहाँ जीव और प्रकृति को यथार्थ और शाश्वत स्वीकारा गया है।

रामानुजी हिन्दूधर्म में ईश्वर भक्त-वत्सल होते और जीवों के मोक्ष के लिये तथा धर्म को स्थापित करने के लिये बार बार अवतार लेते हैं। गीता ४:७ में लिखा है :

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अवतार लेते समय भगवान् सात्त्विक शरीर धारण करते हैं।

मोक्ष-विचार

जीवात्मा नित्य, शाश्वत, अजर और अमर है :

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायम्
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (गीता २:२०)

तब यह अजर (जो बूढ़ा न हो) अमर जीवात्मा को दुःख-भोग क्यों? क्योंकि जीव अज्ञान और कर्म के कारण बन्धन में पड़ जाता है। अज्ञान किस तत्व का ? इस तत्त्व का कि जीव ईश्वर का शरीर है और इसलिये उसे जानना चाहिये कि वह अपनी इच्छा को ईश्वर को अर्पित करके अपने कैंकर्य-भाव (अथवा अपने को ईश्वर के दास-भाव से प्रेरित होना) को प्राप्त करे। पर यदि जीव ईश्वर का अवियोज्य अंग है तब दो प्रश्न उठते हैं।

१. इस जीव में दुःख क्यों जब ईश्वर इस सृष्टि की रचना करता है ?

२. जब जीव ईश्वर-निर्भर जीव है तो उसमें इच्छा-स्वातंत्र्य कहाँ ? जब जीव स्वतंत्र नहीं है तो जीव अपने अज्ञान और कर्म के लिये किस प्रकार उत्तरदायी ठहराया जायगा ?

इस संदर्भ में याद रखना चाहिये कि हिन्दू धर्म में सृष्टि-प्रलय का चक्र चलता रहता है ओर इसलिये प्रथम सृष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस सृष्टि-प्रलय के चक्र में जीवों का कर्म-संचय और कर्म-फल भी होता रहता है। ईश्वर सृष्टि इसीलिये करता है कि जीवों को अवसर मिले कि वे कर्म-विनाश कर अपने असली

स्वरूप को प्राप्त कर लें। पर ईश्वर प्रत्येक शरीरधारी जीव को उनके पूर्व में किये गये कर्म के अनुसार शरीर, कुल और वासनाओं से युक्त उत्पन्न करता है। इसलिये स्वयं जीव ही अपने ऐहिक जीवन के सुख-दुःख के भागी होते हैं। ईश्वर कर्मफलदाता मात्र है। तो भी प्रश्न उठता है कि अनंत दयालु ईश्वर क्यों नहीं कर्मों का नाश कर जीवों को मुक्त कर देता है? यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो उसे सर्वशक्तिमान कैसे माना जाय?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वयं ईश्वर ही ने कर्मवाद के नियम की स्थापना की है और वह उसे कैसे तोड़ सकता है? किये का फल सबको भुगतना है। पर ईश्वर प्रेमी अवश्य है और उसकी कृपा भी असीम है। इसी असीम कृपा के कारण वह स्वयं देहधारी होता है कि जीवों को कल्याण-मार्ग बताये और इस हेतु गीता में भक्ति-मार्ग का प्रदिपादन करे। भक्ति-मार्ग के द्वारा कर्म पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

दैव और पुरुषकार

दो कारणों से रामानुज के धर्मदर्शन में दैव का स्थान महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सर्वप्रथम, जीवात्मा ईश्वर का ऐसा अंग है जो अपनी सभी प्रक्रियाओं के लिये ईश्वर पर निर्भर रहता है। जब सभी प्रक्रियायें ईश्वर पर निर्भर रहतीं, तो मानव-इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न ही कैसे उठता है? दूसरी बात है कि मानव कर्मवाद की बेड़ी से इतना जकड़ जाता है कि उसे पुरुषकार का अवसर मिल ही नहीं सकता है।

रामानुज को इस प्रश्न की गहनता का पूर्ण ज्ञान था। कर्मवाद को रामानुज ने स्वीकारा है और साथ ही साथ यह भी बताया है कि मानव को नीतिवान् बनाने के ही लियें कर्मवाद की स्थापना की गयी है। यह ईश्वरीय व्यवस्था है। पर उन्होंने बताया है कि मानव अपने कर्म के स्वयं उत्तरदायी हैं और यदि उनमें इच्छा-स्वतन्त्रता नहीं रहती तो शास्त्रीय विधि-निषेध दोनों ही व्यर्थ का बकवास होता। परन्तु विधि इसीलिये शास्त्रों में बतायी गयी है कि मानव ऐसा कर्म करे कि ईश्वर प्रसन्न हों और कोई ऐसा काम न करें कि वे ईश्वर से विमुख होकर अपने को आत्म-निर्भर समझ लें। इसलिये मानव को इच्छा-स्वातन्त्र्य अवश्य दिया गया है कि वे ईश्वर की कृपा प्राप्त कर लें।

फिर यदि मानव में इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं होता तो शास्त्रों में, जो मानव के परोक्ष ज्ञान के एकमात्र साधन है, क्यों कहा जाता है कि वे अमुक कर्त्तव्य करें और अमुक कर्त्तव्य न करें। ठीक काण्ट के समान रामानुज ने बताया है कि अमुक कर्त्तव्य को पालन करने के आदेश देने में ही मानव इच्छा-स्वातंत्र्य ध्वनित होता है। पत्थर को तथा पशु को यह कहना कि उसे ईश्वर की आराधना करनी चाहिये, व्यर्थ का बकवास कहा जायगा, क्योंकि इनमें पुरुषकार की क्षमता नहीं है।

जब मानव शास्त्र-निहित कर्त्तव्यों के पालन कर लेने पर ईश्वर को रिझा लेता है तो ईश्वर उस मानव को अनुग्रह द्वारा मुक्त कर देते हैं। पर अनुग्रह ईश्वर का दान है

और कोई भी मानव कर्म के द्वारा इस अनुग्रह को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता है। रामानुज की यह शिक्षा ईसाई धर्म के doctrine of Grace के इतने समीप है कि पाश्चात्य विचारक समझते हैं कि रामानुज ने इस अनुग्रह-शिक्षा को ईसाई धर्म से ही प्राप्त किया होगा। पर वास्तव में रामानुज ने अनुग्रह-दान के सिद्धान्त को अलवार और पाँचरात्र से प्राप्त किया था।

अतः जहाँ कर्मवाद है वहाँ ईश्वर की कृपा और उसके अनुग्रह (Grace) की भी शिक्षा है। केवल कर्मवाद नियतिवाद को जन्म देता है, जैसा आजीविकाओं के धर्मदर्शन में देखा जाता है। पर कृपा और अनुग्रह की शिक्षा के साथ कर्मवाद के रहने पर ईश्वर कर्मों का नियन्ता ही नहीं, वरन् पापियों का उद्धारकर्ता भी सिद्ध होता है। गीता के ईश्वर को इसी उद्धारकर्ता के रूप में रामानुज ने समझाया है। कर्मवाद के साथ ईश्वर की कृपा का संदेश ईसाई धर्म और कुछ अंश में इस्लाम में भी पाया जाता है। कृपा और अनुग्रह वास्तव में मोक्ष-प्राप्ति के अंतर्गत आता है। अतः, हिंदू धर्म के मोक्ष की शिक्षा का प्रतिपादन करना अभीष्ट मालूम देता है।

मुक्ति-प्राप्ति-मार्ग

वेद संग्रह पाद १२६ में रामानुज ने मुक्तिमार्ग को निम्नलिखित सीढ़ियों की चर्चा की है :

१. वैदिक कर्म-अनुष्ठान एवं वर्णाश्रम कर्त्तव्य-पालन करने के फलस्वरूप पुण्य-संचय। ऐसा करने से मन की वासनायें विनष्ट होती हैं और मन के विमल हो जाने पर आगे की प्रगति का मार्ग खुल जाता है।

२. सर्वोच्च व्यक्ति अर्थात् ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण की दूसरी सीढ़ी बतायी गयी है।

३. इसके बाद ब्राह्मण, जीव, जगत्, कर्म, अज्ञान के ज्ञान की अवश्यकता पड़ जाती है। गुरु द्वारा ज्ञान और शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता पड़ जाती है। रामानुज एवं शंकर, दोनों के अनुसार परम सत्ता अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान का प्रामाणिक ज्ञान केवल शास्त्रों से ही प्राप्त हो सकता है।

४. उपरोक्त ज्ञान-प्राप्ति के बाद जीवात्माओं में ऐसी उत्प्रेरणायें उत्पन्न होने लगती हैं जिससे साधक नित्य और नैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन करता है और निषिद्ध कर्मों से दूर होने लगता है।

५. इस प्रकार के ज्ञान और कर्मकाण्ड के संपन्न करने पर ईश्वर की उपासना की प्रवृत्ति जाग जाती है।

६. यह उपासना भक्ति में परिणत हो जाती है। ईश्वर की भक्ति में ओतप्रोत हो जाने पर साधक ईश्वर की स्तुति और उसका नित्य स्मरण करने लगता है, उसकी महिमा

का गुणगान करता, उसके शुभ गुणों पर ध्यान करने के फलस्वरूप वह अपने को ईश्वर को अर्पित कर देता है।

७. अन्त में भक्ति प्रपत्ति का रूप धारण कर लेती है, जिसमें भक्त अपने को संपूर्णतया ईश्वर को अर्पित कर ईश्वर की शरणागति को प्राप्त कर लेता है जिससे ईश्वर भी करुणाशक्ति से द्रवित होकर भक्त का उद्धार कर देता है।

रामानुज के भक्ति-मार्ग में कर्म-ज्ञान-भक्ति का अवियोज्य सम्मिश्रण पाया जाता है। इन तीनों को अन्त में प्रपत्ति में परिणत हो जाने पर भक्ति-मार्ग की परिपूर्णता आ जाती है। चूँकि जैनियों के समान रामानुज कर्म को ही बन्धन का मूल कारण समझते हैं, इसलिये उनके लिए वैदिक तथा वर्णाश्रम धर्मों का पालन जीवन-पर्यन्त मृत्यु घड़ी तक करना अनिवार्य माना गया है। यहाँ शंकर और रामानुज में अन्तर है क्योंकि शंकर के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सर्वकर्म-संन्यास की स्थिति चली आती है। पर रामानुज के अनुसार कर्म भी बिना ज्ञान के संपन्न नहीं हो सकते हैं।

१. साधक को कर्म-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। उसे जानना चाहिये कि किस प्रकार के कर्म का अन्तिम परिणाम क्या होता है।

२. उसे जानना चाहिये कि प्रकृति द्वारा ही सब काम किये जाते हैं और वास्तव में व्यावहारिक जीवन के सभी कर्म प्रकृति-द्वारा सम्पन्न होते हैं। इस सन्दर्भ में रामानुज बहुत-कुछ सांख्य-दर्शन का अनुसरण करते हैं। पर सांख्य के विपरीत, रामानुज जीवात्माओं को शुद्ध अकर्ता नहीं स्वीकारते हैं। यदि जीवात्मा शुद्ध अकर्ता हो तो वह वैदिक कर्म कैसे संपन्न करेगा, फिर ईश्वर के दास के रूप में ईश्वरीय आज्ञा का कैसे पालन करेगा ?

३. साथ ही साथ भक्त को इस बात का चेत रहना चाहिये कि अंत में ईश्वर द्वारा प्रकृति के सभी कार्य संपन्न होते हैं। अंत में ईश्वर को सभी कर्मों के फल को अर्पित कर, निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्यों का पालन कर भक्त अपने को ईश्वरीय कार्य का साधन-मात्र (गीता ९ : ३३) समझता है। ईश्वरीय सेवा ही जीवों की पूर्ण मुक्ति का असली लक्ष्य है।

भक्ति और प्रपत्ति

बिना किसी रोक-टोक के, बिना किसी प्रतिबंध के जब भक्त अपने सम्पूर्णत्व को ईश्वर को इस भाव से अपने को न्योछावर कर देता है कि ईश्वर ही उसका अंतिम शरण है तब इसे प्रपत्ति कहते हैं। प्रपत्ति में प्रपन्न ईश्वर के अनुग्रह पर अपने को पूर्णतया अर्पित कर देता है। यहाँ कृष्ण भगवान् की उक्ति है :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग को भी छोड़कर ईश्वर की शरण ले तो ईश्वर भी शरणार्थी के सभी पापों को क्षमाकर उसे मुक्ति देगा। (गीता १८ : ६६)

ईश्वर भक्तवत्सल होता है और वह अपने शरणागत को कभी भी नहीं छोड़ सकता है। शरणागति में प्रपन्न अपने को और अपने सारे कर्मों के फल को ईश्वर को अर्पित कर, ईश्वर के अनुग्रह पर पूरा भरोसा रखकर, प्रपन्न को प्रतीत होने लगता है कि वह ईश्वर का दास है और ईश्वर के शरीर का एक अंग रहकर संपूर्णतया उस पर निर्भर रहता है। वह नहीं, वरन् ईश्वर ही उसके संपूर्ण कर्मों का संचालन करता है। प्रपत्ति की स्थिति में प्रपन्न में अत्यधिक आध्यात्मिक प्रगति होने लगती है क्योंकि अब वह अपनी शक्ति से नहीं, वरन् ईश्वर की शक्ति से आगे बढ़ता है। इस रूप में भक्ति और प्रपत्ति में निम्नलिखित भेद पाये जाते हैं :

वास्तव में ईश्वर ही मानव मुक्ति का आधार होता है जिसके भक्ति और प्रपत्ति दो रूप हैं। भक्ति से साधक अपनी इच्छा-शक्ति के आधार पर ईश्वर से प्रेम रखता है। प्रपत्ति में साधक की इच्छा-शक्ति नहीं, वरन् ईश्वर की संकल्प-शक्ति प्रपन्न को ईश्वरीय प्रेम की ओर अनायास खींच ले जाती है क्योंकि यहाँ प्रपन्न अपना अस्तित्व ईश्वर को सौंप उसकी शरण में चला जाता है।

फिर भक्ति में अच्छी जाति का होना चाहिये और व्यक्तिगत प्रयास के फलस्वरूप सावधानी पूर्वक अपने सभी कर्त्तव्यों को निभाना पड़ता है, क्योंकि थोड़ी-सी भूल से भी भारी अनिष्ट हो सकता है। परन्तु प्रपत्ति में 'जाति-पाँति न पूछे कोय, जो हरि को भजै सो हरि का होय।' गीता में भी लिखा है :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (गीता ९ : ३२)

अर्थात ईश्वर की शरण प्राप्त कर लेने पर शूद्र, वैश्य तथा पापयोनि से पैदा हुए साधकों को ईश्वर उबार देते हैं। इसी का नाम है गजेन्द्र मोक्ष। केवल ईश्वर के अनुग्रह से, न कि अपने किसी भी पुण्य कर्म से, साधक को प्रपत्ति-दान मिलता है।

भक्ति में संभव है कि ईश्वर भक्त को अपनी शरण में न ले। परन्तु प्रपत्ति में शरणागत को कभी भी ईश्वर छोड़ नहीं सकता है। भक्ति में ईश्वर की अनुग्रह धारा क्षीण होकर बहती है, पर प्रपत्ति में धारा जलबाढ़ का रूप धारण कर प्रपन्न को ईश्वरीय प्रेम से आप्लावित कर देती है। कहा जा सकता है कि भक्ति में Push (ढकेल है, अर्थात् प्रयत्न-विशेष), पर प्रपति में Pull (अर्थात् अनायास आकर्षण) रहता है। वास्तव में भक्ति और प्रपत्ति में कोई विरोध नहीं है। आध्यात्मिक विकास में भक्ति पहली कड़ी और प्रपत्ति अन्तिम विकास-कड़ी है। दूसरे शब्दों में, भक्ति परिपक्व होकर प्रपत्ति का रूप धारण कर लेती है। यदि भक्ति में मर्कट-गति है (अर्थात् बानर का बच्चा माँ को पकड़े रहने के प्रयास में लगा रहता है) तो प्रपत्ति में मार्जार-गति दिखाई देती है। यह

ठीक है कि रामानुज बराबर इस बात पर बल देते हैं कि ईश्वर के अनुग्रह का अधिकारी होने के लिये, अपनी भक्ति-द्वारा उसके योग्य अपने को करना चाहिये, अर्थात् The Seeker must choose to be chosen with all the strength and resources of his being.

मुक्ति-गति

रामानुज के अनुसार भक्ति एवं प्रपति के आधार पर साधकों को भान होने लगता है कि सभी कर्म वास्तव में ईश्वर ही करता है, क्योंकि भक्त अपनी इच्छा को ईश्वर को सुपुर्द कर देता है। जीव ईश्वर का शरीर और ईश्वर शरीरिन और उसका अंतर्यामी आत्मा है। अतः भक्त अपने को ईश्वर का किंकर समझकर उसकी दासता को अपने मुक्त जीवन का सर्वस्व समझता है। चूँकि ईश्वर के दास बनने पर ही जीव को परमानन्द प्राप्त होता है, इसलिये भक्त कभी भी ईश्वर से अलग रहकर कैवल्यपद नहीं प्राप्त करना चाहता।

जीव की ईश्वर के साथ अवियोज्य सत्ता बनी रहती है और कभी भी उसका ईश्वर में विलयन नहीं होता है। हाँ, अहंभाव का नाश अवश्य हो जाता है। क्योंकि मुक्ति-दशा में 'मैं हूँ नहीं, गुरु अब आप।' शरणागति में प्रपन्न की इच्छा-शक्ति का विनाश हो जाता है। अतः मोक्षगति में भक्त को ईश्वर-सानिध्य अवश्य प्राप्त हो जाता है। ईश्वर की समीपता में बढ़ते बढ़ते ईश्वर के सभी शुभ गुण उसी प्रकार आने लगते हैं जिस प्रकार मिट्टी गुलाब-पंखड़ियों के संपर्क में आकर गुलाब के गंध से सुगंधित हो जाती है। ईश्वर-कार्य के लिये मुक्त जीव स्वेच्छा से सात्त्विक शरीर भी धारण कर सकता है। ईश्वर और मुक्त जीव में इतना ही अंतर रहता है कि ईश्वर की सृष्टि कर्तृत्व शक्ति एवं प्रलयशक्ति जीव को नहीं प्राप्त हो सकती है। अतः मुक्त जीव ईश्वर-तुल्य हो सकता है, पर स्वयं ईश्वर नहीं हो सकता है।

शंकर और रामानुज में जीवनमुक्ति के संदर्भ में मतभेद हैं। शंकर के अनुसार इस जीवन में ही जीवनमुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसके विपरीत, रामानुज के अनुसार देह-पात के बाद ही मुक्ति हो सकती है। देह धारण करने का अर्थ ही है कि कर्मबंधन अभी भी जारी है। चूँकि शंकर कर्म को नहीं, वरन् अज्ञान को ही बंधन का कारण मानते हैं, इसलिये शंकर के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान हो जाने को ही मुक्ति कहा जा सकता है। ज्ञान हो जाने पर देह तो साँप के केंचुल के समान निष्प्राण हो जाता है, और किसी भी दिन यह केंचुल रूप देह छोड़ा जा सकता है। वास्तव में रामानुज और शंकर के बीच जीवन्मुक्ति का भेद केवल शाब्दिक है। रामानुज भी स्वीकार करते हैं कि ईश्वर-दर्शन ही मुक्ति है और इसी देह में ईश्वर का दर्शन ईश्वरोन्मत प्रपन्न को प्राप्त हो सकता है। हाँ, यह

ईश्वर-दर्शन वैकुंठ-धाम में अनायास होता रहता है। इसलिये स्वीकारना होगा कि रामानुज के लिये भी जीवन्मुक्ति असंभव नहीं कही जायगी।

शंकर का धर्मदर्शन

शंकर का धर्मदर्शन रामानुज के धर्मदर्शन से भी अधिक हिंदुओं के लिए लोकप्रिय है। इसकी लोकप्रियता दार्शनिकों की कौन कहे, भक्तों ने भी इसको अपनाया है। इसका प्रभाव पाँचरात्र में भी देखा जाता है। फिर शांकर अद्वैतवाद का महत्व आज के विश्व धर्मदर्शन में भी देखा जाता है। पॉल तीलिख (सन् १८८६-१९६६) के धर्मदर्शन में शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। मेरी समझ में शंकर के अद्वैतवाद के आधार पर सभी प्रकार के ईश्वरवाद का समन्वय किया जा सकता है। इसकी चर्चा बाद में की जायगी और पूर्व भी कह दी गयी है।

इस स्थल पर लोगों को शंका होती होगी कि जब शंकर अद्वैतवादी हैं और ईश्वर को मायामय मानकर व्यावहारिक स्तर तक उसके महात्म्य को मानते हैं तो ईश्वरवाद का स्थान शांकर धर्मदर्शन में कहाँ से आता है? यह ठीक है कि ईश्वर का स्थान निर्गुण ब्रह्म-सत्ता में गौण है, पर है महत्वपूर्ण। अंत में व्यावहारिक जगत् को मिथ्या कहकर उसे त्यागा नहीं जा सकता है। शंकर के अद्वैतवाद को एक ही पंक्ति द्वारा व्यक्त किया जाता है :

'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'

अर्थात् ब्रह्म एकमात्र सत्ता है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म को छोड़ अन्य अस्तित्व नहीं है। पर ब्रह्म की सत्ता उसी को प्राप्त हो सकती है जिसने जगत् और जीवों के सीमितपन के मिथ्यात्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। जब तक मानव मिथ्या संसार में रहकर दुःख भोगता है, अपने अहंकार, तृष्णा की माया से पार नहीं हो लेता है तब तक व्यावहारिक जगत् की प्रत्यक्ष वास्तविकता को वह छोड़ नहीं सकता और उसके महत्व को भुला भी नहीं सकता है। अतः सांसारिक जीवों के लिए जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य और ईश्वर व्यावहारिक सत्ता का सर्वोच्च पूज्य अस्तित्व है। अतः शंकर के दर्शन में ईश्वर का स्थान बहुत ऊँचा है। ब्रह्म-ज्ञान कोरा दार्शनिक ज्ञान नहीं है। यह कहा-कही की ही नहीं, देखा-देखी की बात है। जब तक ब्रह्म-साक्षात्कार न हो जाय तब तक ईश्वर मानव जीवन के लिए अन्य जीवों और संसार की सभी वस्तुओं की तुलना में मानव जीवन के लिए ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, संसार का स्रष्टा-प्रलयकर्ता और मानव को अपनी शरण में रखकर मानवों का परमधाम है। मानवों के लिए ईश्वर असाक्षात् रूप से और क्रममुक्ति के लिए उसका साक्षात् साधन है। भला ऐसे ईश्वर को गौण कहकर क्या उसे ठुकराया जा सकता है। स्वयं शंकर जितने ब्रह्म-ज्ञानी थे उससे कम ईश्वर-भक्त नहीं थे।

इसलिए चाहे रामानुज को या चाहे शंकर को हिंदू धर्मदर्शन का आधार माना जाय, दोनों ही स्थितियों में ईश्वरवाद को प्रमुख स्थान देना होगा। शंकर-विचार के अनुसार ईश्वर के सन्दर्भ में निम्नलिखित बातें बतायी जा सकती हैं :

१. शंकर के धर्मदर्शन में ईश्वर इस संसार का सृष्टिकर्त्ता, पालक और संहारक है। ईश्वर इस सृष्टि का उपादान और निमित्त, दोनों प्रकार का कारण है। इसलिए शंकर ईश्वर को दोनों प्रकार का कारण मानकर नैयायिकों के निमित्तेश्वरवाद को स्वीकार नहीं करते हैं। अतः बिना ईश्वर को स्वीकार किये हुये जगत्-विचार का प्रश्न ही नहीं उठता है।

२. फिर ईश्वर को जीवों का कर्मफलदाता समझा गया है। इसलिये प्रत्येक मानव का, उनकी देह, मन इत्यादि उनके पूर्व जन्म का फल होती हैं। ईश्वर स्वयं करुणामय है। पर ईश्वर नहीं, वरन् मानव ही अपने दुःख का कारण होता है। इसलिये शंकर के अनुसार शूद्रों की अधोगति उनके पूर्वकर्म का फल है। यदि वे ऊँची जातियों की सेवा करेंगे तो उन्हें दूसरे जन्म में अच्छा जन्म-संस्कार प्राप्त होगा।

३. असाक्षात् रूप से ईश्वर-भक्ति ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होती है। ईश्वर-भक्ति के द्वारा बुद्धि विमल हो जाती है और चरित्र निर्मल हो जाता है; और केवल विमल बुद्धि और शुद्ध हृदय के हो जाने पर ही साधक ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी हो जाता है।

४. फिर शंकर के अनुसार, साकारी ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की पूजा और भक्ति के फल-स्वरूप भक्त को भी क्रममुक्ति प्राप्त होती है। सर्वप्रथम, ईश्वर-भक्त ज्ञान प्राप्त कर बैकुंठ को प्राप्त करते हैं और तब प्रलय-काल में ब्रह्म में विलीन होकर फिर इस संसार में नहीं जन्मते हैं (ब्रह्मसूत्रभाष्य ४.३.९-१०; ४.४.२२)।

५. पुनः शंकर ने बताया है कि श्रुति और स्मृति में भक्ति-मार्ग को भी बताया गया है और उन्होंने भक्ति-मार्ग को सही बताया है (ब्र.सू.भा. २.२.४२)। शंकर का कहना है कि मूलतः सगुण और निर्गुण ब्रह्म दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार जीव और ब्रह्म एक ही हैं। अपितु, शंकर के अनुसार सगुण ईश्वर निर्गुण ब्रह्म के इतना समीप रहता है कि ईश्वर-भक्ति ब्रह्म-प्राप्ति का साधन हो जाती है (ब्रह्मसूत्रभाष्य ४.३.९)।

६. ईश्वर मायामय अवश्य है, पर वह माया का शिकार नहीं होता। जिस प्रकार जादूगर अपने ही जादू से ठगा नहीं जाता है, उसी प्रकार ईश्वर भी माया से भ्रम में नहीं पड़ता है, माया उसके वश में रहती है। जो साधक ईश्वर को भक्ति के साथ पूजते हैं उन्हें ईश्वर-प्रभुत्व प्राप्त होता है। हाँ, ठीक रामानुज के समान शंकर बताते हैं कि ऐसे बैकुंठवासी भक्त को सृष्टि रचना का अधिकार नहीं रहता, अन्यथा उन्हें मात्र प्रभुता प्राप्त होती है।

७. वास्तव में देखा जाय तो रामानुज ने ईश्वर के अस्तित्व में दिये गये सभी प्रमाणों का खंडन किया है। इसके विपरीत, शंकर ने ईश्वर के अस्तित्व के संदर्भ में सभी प्रकार

के प्रमाणों को प्रस्तुत किया है। हाँ, शंकर, रामानुज के समान मानते हैं कि शास्त्र ही ईश्वर-ज्ञान का अमोघ आधार है। तर्कणा शास्त्रों को स्पष्ट करने का साधन-मात्र है।

८. यदि शंकर ईश्वरवादी नहीं होते तो वे ईश्वर-वंदना क्यों करते ? विवेक-चूड़ा-मणि में विश्व-विख्यात 'भज गोविंदम्' नामक भजन की क्यों रचना करते ? यदि शंकर ईश्वर-भक्त नहीं होते तो ज्योतिर्लिङ्ग की क्यों स्थापना करते और चारों मठों में देवी-देवताओं की पूजा की परिपाटी क्यों चलाते ?

पर यह ठीक है कि शंकर निर्विशेष ब्रह्म को ही अंतिम सत्ता मानते हैं और ईश्वर-आराधना को गौण समझते हैं। सगुणोपासना को वे जनसाधारण ही के लिये उपयुक्त मानते हैं और अंत में ब्रह्म-ज्ञान को ही मोक्ष का असली रूप समझते हैं। ऐसा क्यों ? क्योंकि शंकर अद्वैतवादी हैं और बृहदारण्यक उपनिषद् की निम्नलिखित उक्ति उन्हें सर्वदा प्रेरित करती रही है :

'प्रारंभ में केवल ब्राह्मण ही था जिससे सभी अन्य वस्तुयें हुई हैं।'

(बृ. उ. १:४.१०; छा. उ. ६. २. २)

'ब्राह्मण अनिर्वचनीय, नित्य एवं शाश्वत हैं।' (मैत्री. उ. ६. ७., बृ. उ. २. १४. ४)

'जहाँ विचार और शब्द भी नहीं पहुँच सकते हैं' (वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्तिरीय उ. २. ४)

अर्थात् जो मन और शब्द से परे और स्वतंत्र है, फिर जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है—(श्वेता. उ. १. ७.; मुण्डक उ. ३. २. ९; प्रश्न उ. ४. १०)। ब्रह्म-गति अभेद की है जिसमें न बाह्य, न अंतर का भेद रहता है—(बृ. उ. ४. ३. २१)।

ब्रह्म-स्थिति में बाप, बाप नहीं रहता; माँ, माँ नहीं रहती; लोक, लोक नहीं रहते; देवता, देवता नहीं रहते; वेद, वेद नहीं रहते; चोर, चोर नहीं रहता।'

(बृ. उ. ४. ३. २२)

अतः शंकर के लिये सच्चिदानंद, अद्वैत, निर्विकार, निर्विशेष ब्रह्म की एकमात्र सत्ता है। इसलिये उपासनामूलक भक्त की स्थिति अंतिम गति नहीं हो सकती है। उपासना में भक्त और भगवान् का द्वैतवाद रहता है। जहाँ द्वैत रहेगा वहाँ भेद भी रहेगा (बृ. उ. २. ४. १४) और जहाँ भेद रहेगा वहाँ तनाव और कलह भी रहेगा। अतः साधक को चाहिये कि उस ब्रह्म-स्थिति को प्राप्त करे जहाँ मित्र-शत्रु, स्त्री-पुरुष, मुसलमान-ईसाई-हिंदू का भेद ही न हो। इसलिये ब्रह्मप्राप्ति कर लेने के फलस्वरूप सभी धर्मों का आपसी भेद दूर हो जाता और सभी धर्म-संगोष्ठियाँ शान्त होकर एक हो जाती हैं। सुतरां, शंकर का अद्वैतवाद ऐसा धर्म-विचार है जिसमें सभी धर्मों का समन्वय हो जाता है। इस संदर्भ में बात विस्तारपूर्वक कही जायगी। पर क्या ब्रह्म-स्थिति अनुभवमूलक गति है ?

शंकर ने तीन आनुभविक स्थितियों का उग्र उदाहरण (Paradigm Case) प्रस्तुत किया है :

(क) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, अर्थात् प्रत्यक्षीकरण के प्रारंभ में ऐसा ज्ञान-स्पर्श होता है जिसमें प्रत्यक्ष की विभिन्नता स्पष्ट नहीं होती है। उदाहरणार्थ, बहुत दूर पर आती बस के प्रतीत होने पर इतना ही ज्ञान रहता है कि कोई वस्तु है, पर इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता कि वह वस्तु क्या है। गाय है कि भैंस, ट्रक है कि मोटर इत्यादि; कुछ भी निश्चित नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान में सभी नाम-रूप, वस्तुओं के भेद-गुण इत्यादि सभी विलुप्त हो जाते हैं।

(ख) इसी प्रकार का अभेद-ज्ञान सुषुप्ति में रहता है। सुषुप्ति (अर्थात् स्वप्न हीन गहरी नींद) में आनंद-भाव को छोड़कर अन्य किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता। यहाँ ब्रह्मानंद की केवल झाँकीमात्र झलकती है।

(ग) योग की तुरीयावस्था में योगी सचेत रहता है, पर यहाँ चेतना की कोई विषय-वस्तु (Object) नहीं रहती। इसी अनुभूत तुरीयावस्था की स्थिति में शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म की एक झाँकी मिलती है।

शंकर के द्वारा तीनों उदाहरणों पर आपत्तियाँ की गयी हैं, पर एक बात स्पष्ट है कि शंकर बताना चाहते हैं कि ब्रह्म-गति कल्पना अथवा कोई अमूर्त विचार नहीं हैं। यह ठोस अनुभूत वास्तविकता है।

देवी-देवताओं का पदानुक्रम और उपासना की सापेक्षता

जब तक गीता और गौड़पाद द्वारा प्रतिपादित देवी-देवताओं के पदानुक्रम और उपासनाओं की सापेक्षता स्पष्ट नहीं की जाय तब तक शंकर के ईश्वरवाद और ब्रह्म-प्राप्ति में अभेद के विचार का महत्व दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है।

गीता के अनुसार, मानव विभिन्न स्वभाव वाले होते हैं। कोई तामसी, कोई राजसी और अन्य कुछ सात्त्विक गुण वाले होते हैं। तामसी व्यक्ति भूत-प्रेत की पूजा करते, राजसी गुण वाले यक्ष-राक्षस की पूजा करते और सात्विक पुरुष देवताओं की उपासना करते हैं (गीता १७.४)। जो भी साधक जिस रूप में पूजा करते हैं, उन्हें उसी प्रकार का फल भी मिलता है (गीता ९.२५)। मुख्य बात याद रखने की है कि गीतानुसार वास्तव में एक ही परमेश्वर है जिसे विभिन्न मानव अपने स्वभाव गुण के अनुसार विभिन्न देवी-देवताओं के माध्यम से पूजते हैं (गीता ७.२१-२२)। जैसा स्वभावगुण होगा वैसे देवता होंगे और जैसे देवता होंगे, वैसा ही फल भी मिलेगा। इसी बात को गौड़पाद ने ओम्-उपासना के संदर्भ में स्पष्ट किया है।

गौड़पाद के अनुसार ओम् में चार प्रकार के विषयों के पदानुक्रम में उपासनायें होती हैं, अर्थात् प्रथम 'अ' से **विश्व**, द्वितीय 'उ' **तैजस**, तृतीय अक्षर 'म' **प्राज्ञ** का द्योतक है।

अमात्र उस सत्ता की ओर संकेत करता है जिससे ब्रह्मगति की प्राप्ति होती है। विश्व-पूजा स्वप्नवत् चेतन के अनुरूप हैं; तैजस जाग्रत और प्राज्ञ सुषुप्ति-चेतन के अनुरूप उपासनायें हैं। अमात्र-साधना तुरीयावस्था के अतुरूप समाधि-स्थिति कही जा सकती है। पुनः, विश्व-रूप देवी-देवताओं की उपासना से इच्छाओं की पूर्ति होती है; तैजस-रूप देवताओं की पूजा द्वारा ज्ञानवृद्धि होती तथा प्राज्ञ-रूप ईश्वर की उपासना से चित्त की शांति होती और साधक देव-यान में प्रवेश कर लेता है। परन्तु अमात्र-साधना के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है जहाँ सभी देवी-देवताओं का शमन और विलयन हो जाता है।

शंकर के अनुसार सभी प्रकार के धर्म के ज्ञान का प्रतीक ओम् है (बृ० उ० भाष्य ५.१.१; तैत्तिरीय उ० भाष्य १.८.१)। जिसने ओम् के महत्व को समझा है, उसने धर्म-ज्ञान के स्वरूप को भी समझ लिया है। अब शंकर के अनुसार विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ की क्रमिक उपासना की क्रमशः सफलता के साथ अमात्र ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है, जिस ब्रह्म-प्राप्ति के हो जाने पर सभी देवी-देवता उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार तुरीयावस्था प्राप्त कर लेने पर सभी नाम-रूप वस्तुओं का तिरोधान हो जाता है।

शंकर द्वारा ईश्वरोपासना की आलोचना

शंकर के लिये ब्रह्म एकमात्र सत्ता है और जीव-ब्रह्म की एकता, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है। इसलिये ईश्वरोपासना को शंकर ब्रह्म-ज्ञान-सिद्धि का साधन नहीं मानते हैं, क्यों ?

१. सर्वप्रथम, ईश्वर मायायुक्त होने के कारण अंतिम सत्ता नहीं है। जीव-जगत्-माया के अंतर्द्वंद्व के कारण ईश्वर को अद्वैत सत्ता नहीं समझा जा सकता है। अतः, उसे ब्रह्म का मात्र प्रतीक (Symbol) माना जा सकता है, न कि ब्रह्म।

२. ईश्वरोपासना में भक्त-भगवान् का द्वैत रहता है, पर ब्रह्म अद्वैत सत्ता है जिसमें न द्वैत और न किसी प्रकार का भेद पाया जाता है।

३. फिर ईश्वरोपासना से अवियोज्य रीति से मुक्ति-फल भी संभव नहीं स्वीकारा जा सकता है, क्योंकि ईश्वर-पूजा के विभिन्न लक्ष्य होते हैं (बृ० उ० भाष्य १.१.२४; ४.१.४-५)। गौड़पाद और गीता ने स्पष्ट ही कर दिया है कि जैसे स्वभाव वाले साधक, वैसे ही उनके देवता और तद्नुरूप फल। विश्व-रूप देवता के पूजन से सांसारिक सुख और अभ्युदय (बृ० उ० भा० १.१.११;४.१.४-५), ईश्वरोपासना से ऐश्वर्य प्राप्ति (बृ० उ० भा० ४.३.१४), स्वर्ग-प्राप्ति (बृ० उ० भा० ४.१.२) तथा अंत में ईश्वरोपासना से क्रममुक्ति भी मिलती है (बृ० उ० भा० ३.२.२१)।

४. फिर ईश्वर-पूजा को तामस साधक निम्नकोटि की लक्ष्यप्राप्ति के लिये भी काम में ला सकते हैं।

५. सबसे बड़ा दोष ईश्वरोपासना का यह है कि इसमें अंतर्द्वंद्व और कलह का स्थान रह जाता है। ईसाई कहेगा कि ईसा ईश्वर है, शैव्य कहेगा कि शिव भगवान् ईश्वर है और वैष्णव कहेगा कि विष्णु, कृष्ण, राम इत्यादि भगवान् हैं। अतः ईश्वरवादी आपस में ब्रह्म के विभिन्न प्रतीकों को ईश्वर मानकर आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे।

उपर्युक्त कारणों से शंकर ईश्वरोपासना को सर्वोपरि नहीं समझते हैं और बतलाते हैं कि ब्रह्म-सिद्धि का मार्ग श्रवण-मनन-निदिध्यासन ही है पर क्या ईश्वरोपासना व्यर्थ है? नहीं। यदि प्रत्येक साधक ईश्वरोपासना को ब्रह्म-सिद्धि-मार्ग समझे तो अंत में उसे ब्रह्म-सिद्धि हो जायगी। ईश्वर ब्रह्म के इतना सन्निकट है कि ईश्वर-प्राप्ति के बाद ब्रह्मसिद्धि कठिन नहीं समझी जायगी। हाँ, ईश्वरोपासना को यदि साधक अंतिम लक्ष्य न मानकर ब्रह्म-प्राप्ति के अंतर्गत अभेदनीति को स्वीकार कर चले तो ईश्वरोपासना से आपसी कलह दूर हो जायगा।

सर्वप्रथम, यदि ब्रह्म-ज्ञानमार्गी वैष्णव या शैव्य या ईसाई अपने ही धर्मावलंबियों के बीच के भेद-भाव को हटा दें तो यही एक बड़ी उपलब्धि होगी। आज ईश्वरवाद के विभिन्न रूपों में प्रत्येक रूप से, ईसाई, हिन्दू, मुसलमान में अनेक प्रकार के भेद-भाव और शाखायें देखने में आती हैं। रोमनकैथलिक-प्रोटेस्टेंट, शीया-सुन्नी, तथा हिंदुओं में जाति-भेद का झगड़ा खड़ा है। यदि प्रत्येक ईश्वरवादी धर्म में ब्रह्म-अभेद-नीति को अपनाया जाय, तो आपसी कलह दूर हो सकता। प्रत्येक ईसाई तब तक आगे बढ़ता जाय जब तक वह अध्यात्म की उस सीढ़ी तक न पहुँचे जिसमें क्षेत्रीय, भाषीय, रंगभेदीय इत्यादि का भेद न मिट जाय।

द्वितीय, यह अभेद की नीति कब तक पालन की जाय? तब तक जब तक कि सभी मानवों को हम मानव रूप में नहीं देखें। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख इत्यादि सबको कम से कम एक-दूसरे को, सब भेद छोड़कर भारतीय तो समझें। अंत में उस स्थिति को प्राप्त करें जिसमें ईसाई ईसाई नहीं रहता; हिन्दू हिन्दू नहीं दिखता और न मुसलमान, मुसलमान के रूप में दिखाई देते हैं। बाइबिल की शिक्षा है कि ईसाई सबको उसी प्रकार देखें जिस प्रकार ईश्वर सभी से प्रेम रखता है। ईश्वर सुकर्मी और दुष्कर्मी दोनों के लिये एक समान धूप, हवा और प्रकाश देता है (मत्ती ५ : ४४-४५)। ईश्वरीय प्रेम के समान ही ईश्वरवादी का प्रेम होना चाहिये, क्योंकि भक्ति के फलस्वरूप भक्त ईश्वर-सानिध्य में पहुँचकर ईश्वर-तुल्य हो जाता है। यह मत रामानुज और शंकर दोनों का है। अतः हिन्दू धर्म की ईश्वर-साधना किसी भी ईश्वरवाद से कम नहीं, वरन् आगे है।

हिंदू धर्मदर्शन में निराशावाद

हिंदू धर्मदर्शन के संदर्भ में बार-बार प्रश्न किया जाता है : क्या हिंदू धर्मदर्शन पारलौकिक (Other worldly) और निराशावादी है ? प्रायः पाश्चात्य विचारक, विशेषतया ईसाई दार्शनिकों ने हिंदू धर्म को पलायनवादी और निराशावादी कहा है। एडवर्ड कौँज़ और जार्ज ग्रिम ने बौद्ध धर्मदर्शन का गहरा और सन्निकट से अध्ययन किया है और उन्होंने बौद्ध धर्मदर्शन को परलोकवादी और निराशावादी स्वीकारा है। फिर ए. स्वाइत्सर ने 'Indian Thought and its Development' में हिंदू धर्म के संदर्भ में इसी बात की पुष्टि की है, जिसका प्रत्युत्तर राधाकृष्णन ने 'Eastern Religion and Western Thought' में किया है। अतः, इस विषय को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

क्यों निराशावादी कहा गया है ? क्योंकि जीवन को दुःखमय बताया गया है और संसार को निस्सार और मायामय कहा गया है। इस संदर्भ में दो अलग-अलग प्रश्न हैं, अर्थात् 'दुःख' का क्या स्वरूप है और फिर संसार को मायाजाल किस संदर्भ में, किसके लिये कहा गया है।

सर्वप्रथम, दुःख के संदर्भ में बताया गया है कि दुःख जीवन की आदि अवस्था है, न कि अंतिम; क्योंकि दुःख-निवृत्ति-मार्ग और मोक्ष की बात भी बतायी गयी है। परंतु दुःख के विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। वास्तव में 'दुःख' की व्याख्या वही है जिसे आजकल के अस्तित्ववादी विचार में पाया जाता है। सांख्य ने त्रिविध ताप की बात कही है, अर्थात् मानव को आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख घेरे रहते हैं। इसी को अस्तित्ववाद में बताया जाता है कि मानव अपने को अपनी स्थिति में स्थिर नहीं पाता है। उसे अनस्तित्व के भय, चिंता और आशंकाओं से ग्रस्त रहने का दुःख तथा जीवन को निस्सार-भाव (अर्थात् आध्यात्मिक भय, जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि न ईश्वर है और न जीवन के कोई मूल्य हैं) से आक्रान्त रहने का विचार पाया जाता है। बुद्ध भगवान् ने इस दुःख को 'जरा-मरण' की संज्ञा दी है और आधुनिक अस्तित्ववाद में भी 'मृत्यु-विचार' को बहुत बड़ा स्थान दिया है। इसी प्रकार शंकर ने जीवन को ऊबेपन (Boring) की संज्ञा दी है।

> पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
> पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
> पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम्॥

शंकर के अनुसार पुनः-पुनः जन्म-मरण का ही दूसरा नाम दुःख और दुस्तर संसार है।

अतः, जिस दुःख के विषय में भारतीय दर्शन में बताया गया है वह समस्त मानव जाति की जीवन-कहानी है। इसे निराशावाद कहा जाय तो किसी भी धर्म-विचार को निराशा-

वाद ही कहा जायगा। आश्चर्य यही है कि दुःख के इस स्वरूप को सही संदर्भ में समझा नहीं गया और भारतीय धर्मदर्शन को 'निराशावाद' कह दिया गया। फिर देखा जाय कि संसार को निस्सार किसके लिये और कहाँ कहा गया है।

हिंदू धर्मदर्शन के स्वरूप को समझने के लिये उपनिषदों, गीता तथा अद्वैत वेदान्त की दुहाई दी जाती है। इसके साथ ही साथ जैन-बौद्ध धर्मग्रंथों की बात भी कही जाती है। इन ग्रंथों में संसार-विरक्ति का मार्ग बताया गया है। पर इन धर्मग्रंथों को जैन-बौद्ध भिक्षुओं ने तथा हिंदू संन्यासियों ने लिखा है और वास्तव में भिक्षुओं और संन्यासियों के लिये संसार-विरक्ति का संदेश दिया गया है। जैन धर्म में श्रावकों को पंच महाव्रत को स्वीकारना आवश्यक समझा जाता है, पर बौद्धों ने श्रावक अथवा जन-साधारण अनुयायियों पर कोई विशेष दबाव नहीं डाला है। यही बात हिंदू जनसाधारण के लिये भी लागू होती है। अतः संसार को निस्सार समझना और उससे विरक्त रहना, ये बातें केवल मुमुक्षुओं ही के लिये उपयुक्त हैं। परंतु यदि धर्मग्रंथों को छोड़कर कामसूत्र, कौटिल्य-अर्थशास्त्र तथा चरक पर ध्यान दिया जाय तो हिंदू संस्कृति को पलायनवाद कभी नहीं कहा गया है। इसके विपरीत सर्वमुक्ति की चर्चा बोधिसत्व विचार तथा मंडनमिश्र, अप्पय दीक्षित और राधाकृष्णन के दर्शन में पायी जाती है। पर यह बात ठीक ही है कि सर्वमुक्ति के संदेश में समाजगत विकास और उत्थान की बात नहीं की गयी है। परंतु समाजगत (Societal) विकास की बात बिना औद्योगीकरण के कहीं भी नहीं देखी जाती है। इसलिये आधुनिक युग के विकास को देखकर प्राचीन भारत के विचार में साम्यवाद, समाजवाद तथा ऐहिकता को नहीं पाने पर इसे कोरा पलायनवाद कहना अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है। वास्तव में हिंदू धर्मदर्शन का सामाजिक पक्ष उसके वर्णाश्रम-विचार में देखा जाता है जिसकी व्याख्या की जा सकती है।

वर्णविचार ब्राह्मण-क्षत्रियों के पक्ष में और शूद्रों के हित के विरुद्ध कहा जायगा। साम्यवादी लेखकों के इस मत को भी स्वीकारा जा सकता है कि वर्णविचार के आधार पर शूद्रों का आर्थिक और राजनैतिक शोषण किया गया है। फिर अवैदिक मोक्ष-विचार में पारलौकिकता अत्यधिक है। इसे कम करने के लिये ब्राह्मणों ने आश्रम-धर्म की व्यवस्था रखी है। आश्रम-धर्म के अनुसार गार्हस्थ आश्रम के बिना संन्यास धारण करना अनुचित ठहराया गया है। राजा जनक का उदाहरण देकर बताया गया है कि गृहस्थ भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। वास्तव में मंडन और शंकर के बीच इस बात में भी मतभेद था। शंकर के अनुसार बिना गृहस्थ पालन किये हुए साधक संन्यास ले सकता है और बिना संन्यास के ब्रह्ममुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है।

यह ठीक है कि वर्णाश्रम धर्म को धार्मिक रूप दे दिया गया है और शूद्रों को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं माना गया है। इस वर्णाश्रम धर्म को लोकसंग्रह के लिये गीता में अनिवार्य माना गया है। यह ठीक है कि जातिभेद के ही द्वारा अब तक हिंदू-समाज स्थिर

रह पाया है। पर यह भी ठीक है कि रूढ़िवाद पर टिका हुआ हिंदू समाज प्रगतिशील नहीं हो पाया है। जातिभेद हिंदू धर्म और समाज की आलोचना का विषय बना हुआ है। पर वर्णाश्रम धर्म को न तो निराशावादी कहा जा सकता है और न पलायनवादी। वास्तव में इसी वर्णविचार के आधार पर ब्राह्मण अन्य कालों की भाँति वर्तमानयुगी भारतीय शासन पर डँटे हुए हैं। ऐसी स्थिति में धर्म-समर्पित हिंदू-समाज को सांसारिक ही कहा जायगा।

निष्काम कर्म की शिक्षा तो वर्णमताश्रित और तद्नुरूप कर्त्तव्य-पालन का आदेश ऊँची जातियों के पक्ष में ही बताया जा सकता है :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति........ ॥ गीता १८ : ४५

पुनः,

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वाभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ गीता १८.४७

अर्थात् गीता के अनुसार गुणरहित रहने पर भी अपने-अपने वर्ण के कर्त्तव्यों को पालन करना चाहिये।

अद्वैतवाद में संन्यास और सर्वकर्म-संन्यास पर मुमुक्षुओं के लिये बहुत बल दिया गया है, पर शंकर ने भी कहा है कि जब तक ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक व्यावहारिक जगत् को सत्य मानना चाहिये और तदनुरूप कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। क्षत्रियों को तो धर्म-युद्ध का भी आदेश है। अतः संन्यासियों को छोड़कर अन्य असंख्य हिंदुओं के लिये जगत् सत्य है। अतः हिंदुओं का धर्मदर्शन संसार-विमुखी नहीं है।

वास्तव में कर्मवाद को वर्णविचार में जोड़कर शूद्रों को बतलाया गया है कि वास्तव में ब्राह्मण-समाज ने नहीं, वरन् उनका ही पूर्वकर्म उनकी अधोगति का मुख्य परिणाम है।

वर्तमानयुगी हिंदू धर्म अपनी समस्याओं से अवगत है। Times of India, July 29, 81; 21.9.83; March 19, 1983 तथा Telegraph, तिथि ६ दिसंबर १९८३ को देखें जहाँ अछूत-निवारण, ऐहिकता तथा धर्मों की प्रगतिशीलता इत्यादि प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है। बहुत पहले रामकृष्णाश्रम ने समाज के उत्थान और समाज-सेवा पर बल दिया है। फिर मदर तेरेसा द्वारा समाज-सेवा को हिंदू प्रेस ने सराहा है और इसके लिये दिये गये नोबुल प्राइज़ (पुरस्कार) प्राप्त करने पर मदर तेरेसा का आदर-सम्मान भी हो रहा है। तमिल राज्य में उनके नाम पर विश्वविद्यालय भी स्थापित किया गया है। हिंदू धर्म जहाँ था वहाँ रह नहीं सकता और जहाँ है उससे अधिक उसे आगे प्रगति करना ही है।

जैन, बौद्ध और हिंदू धर्मों के बीच अंतर

जैन और बौद्ध धर्म : १. जैन और बौद्ध धर्म, दोनों अवैदिक हैं, दोनों सिद्धान्ततः निरीश्वरवादी हैं, दोनों कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तंभ को स्वीकारते हैं और दोनों योग, ध्यान और समाधि को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं।

२. दोनों में जातिभेद को नहीं स्वीकारा जाता है।

३. बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक पुराना है और अपेक्षाकृत जैन धर्म में तपस्या और अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म मध्यमार्ग को अपनाता है। जीव-हिंसा को यह भी अपनाता है, पर यदि भिक्षा में मांस मिल जाय तो वह उसे खा लेता है।

४. जैन धर्म के तीन रत्न अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र के अनुरूप बौद्ध-दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा की शिक्षा है, अर्थात् साधकों में सर्वपटी विकास रहने पर ही साधक मोक्ष-गति प्राप्त कर सकता है। तो भी दोनों धर्मों में इसलिये अंतर हो जाता है कि दोनों में मोक्ष-गति के संदर्भ में गहरा भेद है। जैनियों के अनुसार मोक्ष-गति में आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य रूप में सुरक्षित रहती है। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में निर्वाण-गति में अनात्मवाद का विचार रहता है।

५. वास्तव में देखा जाय तो बौद्धों का अनात्मवाद उसके क्षणिकवाद के सिद्धान्त से ही निकलता है। यदि कोई भी वस्तु निःस्वभाव हो और क्षणभंगुर हो तो स्थायी, द्रव्यरूप आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत जैन द्रव्य को स्थायी मानकर इसमें भेद-अभेद दोनों मानते हैं। जैन दर्शन में द्रव्य में उत्पाद-व्यय (अर्थात् विनाश) के साथ ध्रौव्य (अर्थात् स्थिर रहना) रहता है। अतः, प्रत्येक द्रव्य के अनेक पट रहते और इसी विचार पर स्यादवाद और सप्तभंगनय के मुख्य सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इसके विपरीत, बौद्ध केवल **भेद** को स्वीकारकर क्षणिकवाद को अपनाते हैं और क्षणिकवाद से ही अनात्मवाद सिद्ध होता है।

६. जैन और बौद्धों में मूर्तिपूजा, ध्यान में आलंबन के आधार पर पायी जाती है। पर जैन भगवान् महावीर की मूर्ति को अपने ध्यान का मात्र आलंबन समझते हैं। परंतु बौद्धों में इसी आलंबन को बोधिसत्वों की पूजा में देखा जाता है।

७. अंत में दोनों ही अध्यात्मवादी मानवतावादी धर्म हैं।

जैन और हिंदू धर्म

१. बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म वर्तमान हिंदू धर्म के बहुत सन्निकट है। दोनों में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकारा जाता है।

२. दोनों में पंच महाव्रत को नैतिक आचरण का मुख्य आधार माना जाता है।

३. दोनों में आत्मा के संदर्भ में द्रव्यमूलक विचार रखा जाता है।

४. अंतर है दोनों के अपने-अपने धर्मग्रंथों का। जैन वेद को स्थान न देकर आगम शास्त्र को ही अपना धर्मग्रंथ स्वीकारते हैं।

५. फिर जैन धर्म निरीश्वरवादी है और प्रचलित हिंदू धर्म मुख्यतया ईश्वरवादी है।

६. जैन धर्म में जातिभेद नहीं स्वीकारा जाता है, पर हिंदू धर्म में आज भी जातिभेद को हिंदुओं की आधारशिला माना जाता है।

७. मूर्ति जैनियों के लिये ध्यान का मात्र आलंबन है, पर प्रचलित हिंदू धर्म में अर्चा के आधार पर मूर्तियों में ईश्वर का वास माना जाता है।

८. जैन धर्म बौद्धिकवादी है क्योंकि यह अपने मत को तर्कसिद्ध मानता है। इसकी अपेक्षा हिंदू धर्म अपने धर्मशास्त्रों को ब्रह्म और ईश्वर के संदर्भ में अंतिम प्रमाण मानता है। युक्तियों का स्थान गौण रहते हुए भी हिंदू धर्म में विशेष कहा जायगा।

बौद्ध और हिंदू धर्म

१. बौद्ध और हिंदू, दोनों धर्मों में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के सिद्धान्त को आधुनिक हिंदू धर्म में माना जाता है। परंतु इसके सिवा बौद्ध और हिंदू धर्मों में गहरा भेद है।

२. बौद्ध वास्तव में तर्कणापूर्ण धर्म है और यह शास्त्रों को धर्म का अंतिम प्रमाण नहीं मानता है। इसकी अपेक्षा हिंदू धर्म में वेद इत्यादि को ब्रह्म-ज्ञान तथा ईश्वर-विषयक ज्ञान का अंतिम प्रमाण माना जाता है।

३. बौद्ध क्षणिकवादी, अनात्मवादी तथा निरीश्वरवादी हैं। इनकी अपेक्षा हिंदू द्रव्य-मूलक, आत्मवादी तथा ईश्वरवादी कहे जायंगे।

४. हिंदू धर्म जातिभेद को स्वीकारता है, पर बौद्ध न केवल जातिवादविहीन हैं बल्कि ये जातिभेद के विरोधी भी रहे हैं।

५. हिंदू धर्म में अभी भी जहाँ-तहाँ पशुबलि दी जाती है, पर इसके विपरीत बौद्ध पशुबलि का विरोध करते आये हैं।

६. बौद्ध मत में क्षणिकवाद तथा अनात्मवाद के रहने पर इसमें किसी भी पारलौकिक सत्ता को स्वीकारने की बात सिद्धान्ततः उठती ही नहीं है। पर बाद में बौद्ध धर्म में ह्रास हुआ और इसमें देवी-देवताओं की पूजा बोधिसत्व के रूप में होने लगी है। हिंदू धर्म में आत्मवाद रहने के कारण प्रारंभ से ही देवी-देवताओं की पूजा पायी जाती है।

७. बौद्ध धर्म में जितना मठवास पर बल दिया गया है उतना हिंदू धर्म में संन्यास पर बल नहीं दिया गया है।

●

अध्याय : ६

यहूदी धर्म

यहूदी धर्म के लक्षण

सेमिटिक अथवा पैगम्बरी (नबीमूलक—prophetic) धर्म तीन हैं, अर्थात् यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम। वास्तव में यहूदी धर्म से ही ईसाई धर्म निकला है और इन दोनों से इस्लाम की स्थापना की गयी है। यहूदी धर्म भी प्राचीन है और यहूदियों की संख्या भी अधिक नहीं है। पर ये दुनियाँ के सभी कोने में पाये जाते हैं और जहाँ भी ये पाये गये हैं वहाँ इन्होंने उस देश की सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। यहूदी धर्म में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें कही जा सकती हैं :

१. यह पैग़म्बरी धर्म है जिसके इब्राहिम पैग़म्बर कुलपिता कहे जा सकते हैं। बाद में हज़रत मूसा को यहूदी धर्म का संस्थापक गिना गया है। मूसा के ही द्वारा यहूदियों को तौरेत (torah) दिया गया जिसमें उनके जीवन-संचालन के सभी नियम और आज्ञायें (Commandment) दी गयी हैं। मूसा-संहिता को ई० पू० ४४४ में एजरा पुजारी ने वर्तमान रूप दिया है। इस मूसा-संहिता को पंचग्रंथ (Penta teuch) कहते हैं।

२. यहूदी धर्म शुद्ध एकेश्वरवाद (monotheism) कहा गया है, क्योंकि ईश्वर को छोड़कर इसमें किसी भी अन्य सत्ता को ईश्वर-समकक्ष नहीं माना गया है। इस धर्म में मूर्तिपूजा और अनेकेश्वरवाद (Polytheism) को अस्वीकारा गया है। इस रूप में इस धर्म को सर्वव्यापक माना जाता है।

३. यहूदी धर्म में चुनाव-सिद्धान्त (election) को स्वीकारा गया है और इस बात का यहूदियों को गर्व है कि ईश्वर ने यहूदी जाति को चुन लिया है कि वे समस्त मानव-जाति का आध्यात्मिक नेतृत्व करें, सभी को ईश्वर-ज्ञान से अवगत करायें और अन्य जातियों के लिए आकाश-दीप (beacon light) के रूप में याजक बने रहें। इसलिए ये ईश्वर के नाम पर अपने को प्रारंभ से शहीद (martyr) करते रहे हैं। प्रत्येक युग में यहूदियों को सताया-मारा गया है और वे समझते हैं कि बिना यहूदियों के बलिदान के न तो समस्त मानव-जाति का कल्याण हो सकता है और न उन्हें ईश्वर का शुद्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

यह स्पष्ट है कि अधिक संख्या में किसी भी धर्म में लोग स्वयं अपनी ही आहुति नहीं चढ़ा सकते। इसलिए यहूदियों का विश्वास है कि विश्वासियों की संख्या अल्प ही रहेगी (Only the remnants will be saved)। ये शेष विश्वासी ही प्रारंभ

से चुने गये हैं। उदाहरणार्थ, इब्राहिम पैग़म्बर अनेक मूर्तिपूजियों में से चुने गये; बाद में मूसा नबी चुने गये; फिर एलियाह नबी भी चुने गये, इत्यादि।

४. यहूदियों का ईश्वर इस जगत् का सृष्टिकर्ता है और वह इस सृष्टि से अलग नहीं, वरन् इसकी सभी घटनाओं पर दृष्टि रखता है। अतः यहूदियों के लिये ईश्वर इतिहास की घटनाओं के द्वारा सिद्ध करता है कि उसने यहूदियों को चुन लिया है और उनके साथ उसने पवित्र वाचा बाँधी है कि वह उन्हें कभी छोड़ नहीं देगा। इस बात की पुष्टि एक ऐतिहासिक घटना द्वारा विशेष मानी गयी है। यहूदी प्रारंभ में मिश्रियों के दासत्व में बढ़े, फूले-फले, पर दास होने के कारण वे सताये भी गये। ऐसी स्थिति में ईश्वर ने अपने सेवक मूसा द्वारा उन्हें मिस्र देश से निकाला, स्वतंत्र जाति बनाया और अपना करने लिये उन्हें तौरेत प्रदान किया। यहूदी लोगों ने भी इब्राहिम से लेकर अब तक खतना (सुन्नत-Circumcision) की प्रथा को इस बात की गवाही देने के लिये अपनाया है कि वे एकमात्र ईश्वर की पूजा करेंगे और उसके बताये हुए नियम और उसकी आज्ञाओं का पालन करेंगे।

चूंकि यहूदी ईश्वर के चुने हुए लोगों में बताये गये हैं ताकि वे ईश्वर के ज्ञान से समस्त मानवजाति को आलोकित करें, इसलिए ईश्वर उनपर कड़ी नजर भी रखता है। जब-जब यहूदी अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते और ईश्वर द्वारा ठहराये हुए नियमों और आज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं तब-तब उन्हें ईश्वर द्वारा कड़ा दंड मिला है : उन्हें लड़ाइयों में हारना पड़ा है और यहाँ तक कि उन्हें दूसरे देशों में निर्वासित एवं तितर-बितर होकर रहना पड़ा है। उन्हें बाबिल देश में निर्वासित कर नेबुकदनज़र ने रखा था और उनके पवित्र मंदिर को तहस-नहस कर दिया था। यह घटना भी यहूदियों के इतिहास में महत्वपूर्ण समझी जायगी।

बाबिल में रहकर यरूशलेम के मंदिर के ध्वस्त हो जाने पर उन्हें किसी अन्य मंदिर का सहारा न मिला, तब यरूशलेम की ओर अपना मुँह करके इन निर्वासित यहूदियों ने ईश्वर से प्रार्थना करना सीखा। फिर जब अपने निर्वासन से लौटकर उन्होंने अपने देश में पुनर्वास किया तब फिर उन्होंने कभी मूर्ति-पूजा नहीं की, शुद्ध नैतिक आचरण को पहचाना और ईश्वर को न केवल यहूदियों का वरन् समस्त जातियों का भी सर्वव्यापक ईश्वर मानने में वे समर्थ हुए। इसी काल से (ई० पू० ४४४) यहूदियों के अंदर शुद्ध एकेश्वरवाद पाया जाता है जिसमें ईश्वर को पवित्र महान् मानकर, बलि को छोड़कर, शुद्ध नैतिक आचरण द्वारा वे ईश्वर को पूजने लगे हैं।

५. यहूदी तौरेत (torah) को अपना पवित्र ग्रंथ समझते हैं जिसमें लिखित और मौखिक दो प्रकार की बातें लिखी हुई हैं। रूढ़िवादी लिखित तौरेत को ही प्रामाणिक मानते हैं। पर तौरेत यहूदियों का जीवन है जिससे वे ओतप्रोत कहे जा सकते हैं। यहूदियों के लिए तौरेत पवित्र एवं धार्मिक परंपरा का संपूर्ण ग्रंथ है। यह ईश्वर की वह

आवाज़ है जो होरेब (सैनाई-Senai) पर्वत से प्रारंभ होकर समस्त विश्व में ईश्वर की घोषणा करती है। जब तक मानव तौरेत के अनुसार जीवन-यापन करेगा, उसे भवभीति नहीं होगी। यह वह विश्व का नक्शा है जिसके आधार पर ईश्वर ने संपूर्ण विश्व की रचना की है। यह विश्व का प्राण है और इसी की शरण लेकर यहूदी बाबिल की बँधवाई को झेलने में समर्थ हुए थे और जो आज भी उनका मार्गदर्शन करता है।

सादिया (सन् ८८२-९४२) और मैमोनाइड्स (सन् ११३५-१२०६) यहूदियों के बड़े दार्शनिक हुए हैं। सादिया ने बताया है कि तौरेत के अतिरिक्त दो और धर्मस्रोत हैं अर्थात् बुद्धि (रीज़न) और परंपरा (तालमुद-Talmud)। तालमुद में यहूदियों की सभी बातों का उल्लेख किया गया है जिसमें विधि (law), औषधि, विज्ञान, आरोग्य-नियम इत्यादि सभी सम्मिलित पाये जाते हैं।

६. यहूदी धर्म का उद्देश्य है कि वह विश्व-शांति का और समस्त जातियों को ईश्वर-वाद के शुद्ध संदेश का प्रचार-प्रसार करे। यहूदियों का ईश्वर इतिहास की घटनाओं में अपनी प्रकाशना न्याय के दिनों तक करता रहेगा और इसलिए यहूदियों के लिए ईश्वर इब्राहिम इज़हाक और याकूब का ईश्वर है, जिन कुलपिताओं के साथ ईश्वर ने पवित्र वाचा बाँधी है।

ईश्वर-विचार

यहूदी धर्म में ईश्वर अद्वैत, पवित्र और महान् (holy) है। ईश्वर को 'एक' नहीं पुकारा जा सकता, क्योंकि '१' से संख्या का बोध होता है और ईश्वर को इस संख्या के रूप में 'एक' नहीं कहा जा सकता।

'एक' कहों तो है नहीं, दो कहूँ तो गारि।'

ईश्वर को 'एक' कहने का तात्पर्य है कि वह अनूठा, अनुपम है और न उसके सम-तुल्य अन्य कोई सत्ता है और न उसे छोड़कर अन्य कोई ईश्वर है। सभी अन्य सत्तायें सापेक्ष हैं, और उस एक ईश्वर पर निर्भर रहती हैं। अतः ईश्वर को आदिसत्ता भी कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी अन्य सत्ता से उसे कुछ प्राप्त नहीं हो सकता है। वह स्वनिर्भर और अपने में सर्वथा परिपूर्ण रहता है।

चूँकि ईश्वर मानव जाति का पूज्य सत्ता महान् है, इसलिए ईश्वर को सभी सृष्ट वस्तुओं और मानवों से अतीत और परे कहा गया है। इसलिए नबियों की उद्घोषणा है :

'हे इस्रायल सुनो, ईश्वर हमारा परम प्रभू और एक है।' ईश्वर को यशामह नबी ने पवित्र, और पवित्र महान् कहा है। औटो ने इस 'पवित्र महान्' (holy) का विश्लेषण कर कहा है कि ईश्वर आश्चर्यजनक रहस्य (tremendous mystry) और भय संचार करने के साथ मुख्य आकर्षण का विषय है। चूँकि ईश्वर को अतीत

(transcendent) और रहस्य कहा गया है, इसलिए कोई भी मानव शब्द ईश्वर के लिए शब्दशः सत्य नहीं कहे जा सकते हैं। बल्कि सभी शब्द संकेत-मात्र एवं उपमामय कहे जा सकते हैं। मैमोनाइड्स का कहना है कि शब्दशः (literally) ईश्वर को 'आदि' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'आदि' का अर्थ कालिक है और ईश्वर सभी कालों से परे है। इसी प्रकार सादिया ने बताया है कि किसी भी प्रकार के शब्द जिनका संदर्भ देश-काल का होता है उसे ईश्वर के विषय में शुद्ध रूप से काम में नहीं लाया जा सकता है। अतः ईश्वर के संदर्भ में उसके गुणों का संकेत करने के लिए सभी शब्द उपमामय कहे जा सकते हैं। इसलिए सादिया और मैमोनाइड्स की उक्तियाँ बौद्ध और अद्वैत विचार से बहुत मेल खाती हैं। इस संदर्भ में मैमोनाइड्स की यह उक्ति कि हम जानते हैं कि ईश्वर है, पर नहीं जानते कि वह **क्या** है, अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व का हमें ज्ञान है, पर उसके गुण का नहीं; इसे अनेक प्राच्य और पाश्चात्य ईश्वरवादियों ने अपनाया है। यहूदियों का यह मत ईश्वर की महान् पवित्रता का परिचायक है न कि किसी प्रकार के अज्ञेयवाद का। यहूदी इस बात पर बल देते हैं कि ईश्वर में पूर्ण नैतिकता है।

यहूदी अपने धर्म के संदर्भ में कोरे तत्त्वमीमांसक नहीं रहे हैं। उनका धर्म प्रकाशन का है क्योंकि इनके अनुसार दस आज्ञाओं को ईश्वर ने अपने हाथों से लिखा और अन्य विधियों और निषेधों को उनके पैगम्बर मूसा को बताया। दार्शनिक इस विषय पर चिंतन कर सकते हैं कि क्या ईश्वर से परे नैतिक मूल्यों का औचित्य है, या ईश्वर के संकल्प पर अच्छे-बुरे का निर्धारण किया जाता है। यहूदियों के लिए ईश्वर धर्मी है और वह चाहता है कि मानव भी ईश्वर के समान धर्मी बने। ईश्वर की 'पवित्रता' में नैतिक गुणों की भी ध्वनि पायी जाती है, क्योंकि ईश्वर की पवित्रता के ही द्वारा मानवों का परिशुद्धीकरण होता है।

यहूदी धर्म में ईश्वर के न्याय और दया, दोनों पर बल दिया जाता है। यदि बिना कारण के केवल न्याय पर बल दिया जाय तो भला कौन-ईश्वर की महान् पवित्रता के सामने ठहर सकता है? सभी मानवों को शाश्वत दंड का भागी रहना पड़ेगा। इसलिये यद्यपि ईश्वर पापियों को उनके बुरे काम के लिये उन्हें दंड देता है, तो भी पश्चात्ताप करने वाले पर वह सदा दया रखकर उन्हें सच्चे रास्ते पर चलाता रहता है।

हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि यहूदियों के लिये ईश्वर इस संसार का सृष्टि करनेवाला है। अपनी ही मात्र शक्ति से ईश्वर ने शून्य से इस जगत् की सृष्टि की है। उसने कहा, 'उजाला हो' और उजाला हो गया। ईश्वर इस सृष्टि की रचनाकर इस संसार से अलग नहीं हो गया है। वे निमित्तेश्वरवादी (Deist) नहीं हैं। यह बात यहूदी धर्म में मानव-विचार से स्पष्ट हो जाती है।

मानव-विचार

ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया है। इसलिये यहूदियों के अनुसार मानव ईश्वर की सर्वोच्च और उत्तम सृष्टि है। मानव के जीवन का चरम लक्ष्य है कि वह प्रत्येक स्थिति में ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करे और उसमें अपनी सम्पूर्ण निष्ठा रखे। ईश्वर स्वयं न्याय और करुणा है, इसलिये ईश्वर चाहता है कि मानव ईश्वर को अपनी संपूर्ण शक्ति, मन और आत्मा से ईश्वर की आराधना करे। ईश्वर चाहता है कि मानव नम्रतापूर्वक न्याय और करुणा को आजीवन निभाये।

ईश्वर ने सृष्टि की रचना इसीलिये की है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में न्याय और करुणा के साथ ईश्वर के साम्राज्य की स्थापना की जाय। ईश्वर का लक्ष्य है कि मानव उसी प्रकार का धर्मी और पवित्र बने जिस प्रकार स्वयं ईश्वर पवित्र महान् है। वास्तव में ईश्वर ने मानव को अपनी संपूर्ण सृष्टि पर अधिकार दिया है कि विश्व में ईश्वरीय साम्राज्य, पृथ्वी पर ईश्वरीय लक्ष्य की पूर्ति तथा इस भूतल पर स्वर्गिक राज्य की स्थापना मानव के द्वारा प्राप्त की जाय। अतः मानव ईश्वर के साथ उसका सहकर्मी (Co-worker) है।

यहूदियों के अनुसार ईश्वर विशेषतया न्यायी है, क्योंकि करुणा बिना न्याय के मानव को पूर्णतया धर्मी और पवित्र बनाने में बाधक हो सकती है। चूँकि यहूदी धर्म पूर्णतया प्रकाशना-धर्म (religion of revelation) है, इसलिये यहूदियों के अनुसार ईश्वर ने मूसा द्वारा यहूदियों के माध्यम से मानव-जाति के लिये दस आज्ञाओं को दिया है, अर्थात् ये ईश्वर के वचन हैं :

१. 'मैं तेरा ईश्वर और प्रभु हूँ।'
२. 'तू मुझे छोड़ किसी अन्य देवता को ईश्वर न मानना।'
३. 'तू परमेश्वर का नाम व्यर्थ न लेना।'
४. 'तू विश्राम के दिन (Sabbath) को पवित्र मानना।'
५. 'तू अपने माता-पिता का आदर करना ताकि तू दीर्घायु हो।'
६. 'तू नर-हत्या न करना।'
७. 'तू व्यभिचार न करना।'
८. 'तू चोरी न करना।'
९. 'तू अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही न देना।'
१०. 'तू अपने पड़ोसी की किसी वस्तु की लालच न करना।'

इन आज्ञाओं के द्वारा ईश्वर को सर्वोपरि समझकर परिवार और समाज को स्थिर रखने का अदेश है। इन दस आज्ञाओं के द्वारा गीता में वर्णित लोकसंग्रह की प्रतिध्वनि

मिलती है। फिर भारतीय धर्मों में बताये गये पंचमहाव्रत का आदेश अंतिम पाँच आज्ञाओं में परिलक्षित होता है अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह।

जगत्-विचार

ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की है कि इस विश्व में ईश्वर के साम्राज्य की स्थापना हो। इसलिए सृष्टि वास्तविक है और मानवों का यह कर्मक्षेत्र है। इसी विश्व में रहकर और ईश्वर की आज्ञाओं का पालनकर और अपने आपको ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदित कर मानव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह ठीक है कि विश्व और ईश्वर दोनों एक नहीं हैं। ईश्वर विश्व में अंतर्व्याप्त (immanent) नहीं है, पर ईश्वर सब जगह उपस्थित रहता है। ईश्वर इस विश्व की सृष्टिकर इस विश्व से अलग नहीं हो गया है, बल्कि वह सर्वत्र है; और मानवों और जगत् की सभी प्रक्रियाओं पर नियंत्रण रखता है। इसलिए न कोई गहराई और न कोई ऊँचाई और न कोई ऐसी गुह्य जगह है जहाँ मानव ईश्वर से छिपकर कोई दुराचार कर सकता है। अतः यहूदी धर्म में सर्वेश्वरवाद (pantheism) नहीं, वरन् ईश्वरवाद है जिसमें ईश्वर को विश्व का रचयिता और विश्व से अतीत सत्ता की संज्ञा दी गयी है। साथ ही साथ अंतर्व्याप्तता के स्थान पर सर्वोपस्थिति (Omnipresence) की भावना बतायी गयी है।

यहूदी धर्म के अनुसार, ईश्वर ने विश्व की रचना जब की थी तो यह विश्व सुंदर और सर्वशुभ ही था। पर ईश्वर ने अपनी ही शक्ति और इच्छानुसार मानव को इच्छा-स्वातंत्र्य दिया और इस इच्छा-स्वातंत्र्य में ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने की संभावना भी ईश्वर-अनुमत है। पर ईश्वर चाहता नहीं है कि कोई भी मानव ईश्वर से विमुख हो जाय और अपने पतन की ओर अग्रसर हो जाय। अतः इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ ईश्वर ने पाप के लिए अवसर अवश्य प्रदान कर दिया है। यह ईश्वर की इच्छा नहीं है, पर इच्छा-स्वातंत्र्य के प्रदान के साथ ईश्वर की अनुमति इसमें झलकती है God does not will, but permit evil. अतः इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ अशुभ की समस्या उठ खड़ी होती है।

अशुभ की समस्या

अय्यूब की पुस्तक में अशुभ समस्या को गहनतापूर्वक रखा गया है। इस पुस्तक में दिखाया गया है कि धर्मी और अधर्मी, दोनों दुःख में एक समान पड़ते हैं। पर धर्मी ईश्वर को अपने दुःख के लिये उत्तरदायी और दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान है और मानव का कर्त्तव्य है कि ईश्वरीय निर्णय के सामने ईश्वर की स्तुति करे। ईश्वर ही ने प्रकाश और अंधकार, शांति और अशुभ, दोनों की स्थापना की है। परंतु अशुभ भी ईश्वर के संचालन-नियंत्रण में रहते हैं। तूफान, वर्षा, अतिवृष्टि-

अनावृष्टि, बाढ़-सूखा सभी ईश्वर द्वारा भेजे जाते हैं। इसलिये धर्मी यहूदी ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के सामने नतमस्तक होकर उसकी स्तुति करते, उसे सराहते और कहते हैं :

'ईश्वर ने दिया, ईश्वर ने लिया, ईश्वर को धन्य कहो।'

ईश्वर रहस्य महान है और कोई भी उसके रहस्य को नहीं समझ सकता है। यहूदियों का प्रगाढ़ विचार निम्नलिखित है :

'हे ईश्वर, हमें यह नहीं बताओ कि मैं क्यों दुःख भोग रहा हूँ। मैं 'क्यों' का उत्तर जानने के लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। पर मुझे तेरे लिये दुःख-भोगने के लिये विश्वास दे और दुःख-यातना सहन करने में सहायता दे।'

यह ठीक है कि कुछ अधर्मी इस जीवन में सुख से रहते हैं। पर विश्वासियों का मत है कि यह सुख अल्पकालीन है और न्यायदिवस के बाद उनकी नारकीय यातना अवश्य उन्हें मिलेगी।

इसी बात को ध्यान में रखकर आदिकाल से ही यहूदियों ने बार बार अन्य जातियों के द्वारा त्रस्त और दंडित होने पर भी ईश्वर में अपने अटल विश्वास को नहीं खोया। उनका विश्वास है कि यहूदियों के दुःख-भोग से स्वयं यहूदी जाति परिशुद्ध होती है और समस्त मानवजाति को ईश्वर-संदेश देने में समर्थ होती है। ईश्वर द्वारा यहूदी जाति के चुने जाने का यही अभिप्राय है कि वह मानवजाति के लिये बलिदान-स्वरूप बनी रहे। इसलिये अपने धर्म, तौरेत और एकेश्वरवाद के नाम पर असंख्य यहूदी शहीद होते आये हैं। ईसा मसीह ने भी इसी यहूदी-परंपरा में रहकर क्रूशीय मौत को गवारा किया था।

जो बात प्राकृतिक अशुभ के लिए लागू है वह पाप के संदर्भ में लागू नहीं हो सकती है। पाप ईश्वर का विरोध करना है, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करना है और अपने दुराचार के कारण ईश्वर से दूर जाना है। पाप मानव मन की बुराई, दुष्ट योजना और विचार से उत्पन्न होता है जैसा कि गीता में भी लिखा है, अर्थात् क्रोधात् भवति सम्मोहः इत्यादि। इसलिए पाप, मानव और ईश्वर के बीच दुराव कर देता है। यही कारण कि ईश्वर मानव की ताड़ना करता है कि मानव अपने पापों से अपने मन को फिराये, अपने पापों से पश्चात्ताप करे क्योंकि ईश्वर किसी पापी की मृत्यु नहीं चाहता है, पर वह चाहता है कि पापी ईश्वर की ओर मुड़े, अपने पापों से पश्चात्ताप करे ताकि वह हमेशा के लिए नरक-यातना का अधिकारी न हो।

यहूदी धर्म के अनुसार स्वयं मानव अपने पापों के लिये उत्तरदायी होता है और जो पाप करेगा उसे अवश्य उसके कुकर्म के लिये दुःख झेलना पड़ेगा, क्योंकि ईश्वर न्यायी है, क्रोध करने में धीमा और करुणा करने के लिये सतत् उद्यत रहता है। इसलिये करुणामय ईश्वर पापी से नहीं, वरन् उसके पाप से घृणा रखता है, क्योंकि ईश्वर पवित्र महान् है और पाप से बहुत घृणा रखता है।

मरणोत्तर जीवन और अमरता

यहूदी धर्म में मरणोत्तर जीवन में लोगों का विश्वास है, पर इसके विषय में उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं। एक बात अधिकांश यहूदी मानते हैं कि एक दिन न्याय-दिवस (Day of judgment) अवश्य होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसके किये हुए काम के अनुसार, जज़ा-सज़ा, पुरस्कार और दंड मिलेगा। ईश्वर के आज्ञाकारियों को ईश्वर की सहभागिता और उसके प्रकाश में रहने का अवसर मिलेगा। पर यह जीवन आध्यात्मिक ही होगा जिसमें न भूख-प्यास, न विवाह इत्यादि रहेगा। यह शुद्ध पवित्रात्माओं का जीवन स्वर्गिक दूतों के समान होगा।

पर न्याय-दिवस अभी तक नहीं आया है। इस स्थिति में मृत आत्मायें कहाँ रहती हैं ? कुछ यहूदी समझते थे कि ये आत्मायें शीयोल (Sheol) में दुर्बल, क्षीण और निस्सहाय रहती हैं, क्योंकि इसी पार्थिव जीवन में मानव को अवसर मिलता है कि वह अच्छा-बुरा करे। इसके बाद मानव में ईश्वर की स्तुति करने की भी क्षमता नहीं होती।

इस शीयोल-वास के विपरीत अनेक यहूदी यह भी मानते थे कि ईश्वर ने पुतला बनाकर उसमें अपनी श्वास छोड़ दिया और मृत्युकाल में ये आत्मायें पुनः ईश्वर के पास वापस चली जाती हैं। तब न्यायदिवस के अवसर पर तुरही फूँकी जायगी और सब मृत आत्मायें फिर से जीवित की जायँगी और तब उनके कर्मों के अनुसार न्याय-दिवस पर उन्हें चाहे अमर स्वर्गिक जीवन या नारकीय आवास प्राप्त होगा।

एक तीसरा विचार भी यहूदियों के अंदर देखा जाता है। जब यहूदी बाबिल के निर्वासन से लौट आये तो इसके बाद भी उन्हें दुःख भोगना पड़ा। यरूशलेम के मंदिर को फिर विनष्ट कर दिया गया और यहूदियों को अपने देश को छोड़कर अन्य देशों में छितर-बितर होना पड़ा। ऐसी स्थिति में, विशेषकर यशायह नबी (लगभग ई० पू० ७५०-७००) के लेखों से आशा जगी कि मसीह आयेगा और दाऊद के सिंहासन पर फिर से विराजमान होगा। मसीह आकर इस संसार पर राज्य करेगा और समस्त मानव जाति का उद्धार (redemption) करेगा। इस मसीही राज्य में न पाप होगा और न शोक। बाघ हिंसा छोड़कर बकरी के समान घास खायेगा, भेड़िया और मेमना दोनों एकसाथ एक ही घाट से पानी पीयेंगे। इसी शांति-संदेश के आधार पर साम्यवादी शोषणविहीन राज्य की कल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तिभर श्रम करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार सभी सामग्रियों का उपभोग करेगा।

अतः यहूदी किसी न किसी प्रकार के मरणोत्तर जीवन में विश्वास रखते हैं और प्रायः सभी समझते हैं कि न्यायदिवस भी अवश्य आयेगा जहाँ व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार चाहे अनंत जीवन या अनंत दुःखभोग का भागी होगा।

यहूदियों की शाखायें और जाति-विचार

यहूदी और उनके चारों ओर के निवासी वास्तव में एक ही जाति के थे और उन्हें लोग सेमिटिक (semitic) कहते हैं। पर यहूदी अपने को चुनी जाति समझते आये हैं। इनके लिये खून नहीं, वरन् उनका धर्म ही इस चुनी जाति का बोधक हो सकता है। अतः, यहूदियों के लिये धर्म से जाति का निर्माण होता है। इस बात के साथ इस्लाम धर्म में अनेक विचार यहूदी धर्म से लिये गये हैं। यहूदी भी ईसाई धर्म और इस्लाम को मिथ्या नहीं समझते हैं। पर यहूदियों का कहना है कि यहूदी धर्म एकमात्र शुद्ध और सच्चा एकेश्वरवाद है और उनका विश्वास है कि ईश्वर ने उन्हें इसलिये दुनिया भर में तितर-बितर कर दिया है कि वे शुद्ध एकेश्वरवाद का प्रचार-प्रसार करें ताकि समस्त मानव जाति ईश्वर की शुद्ध आराधना करने में समर्थ हो। आगे चलकर ईसाई धर्म और इस्लाम के साथ यहूदी धर्म की तुलना की जायगी।

यहूदियों की तीन प्रशाखायें मुख्य हैं, अर्थात् सदूसी और फरीसी तथा ऐसीन। सदूसियों का कहना है कि मरणोत्तर जीवन नहीं रहता है। वे एक दृष्टान्त बताते हैं। मान लीजिये कि सात भाई थे और पहले के बाद, तौरेत के अनुसार, दूसरा भाई अपनी विधवा भाभी के साथ विवाह करेगा, दूसरे के मरने पर तीसरा इत्यादि। यदि एक-एक करके सभी सातों भाई अपनी विधवा भाभी से विवाह करें तो मरणोत्तर जीवन में उस विधवा औरत के मर जाने पर किस अमुक भाई की वह पत्नी कही जायगी। फरीसियों का कहना है कि मरणोत्तर जीवन में न कोई पति होता और न पत्नी। सभी स्वर्गिक दूतों के समान होते हैं। इसलिये मरणोत्तर जीवन होता है और आत्मायें आध्यात्मिक कर्मों में ही लगी रहती हैं। पर क्या सभी आत्मायें मरणोत्तर जीवन में संरक्षित रहती हैं ?

इस संदर्भ में विचारकों में मतभेद है। कुछ विचारकों के अनुसार, केवल धर्मी पुरुष की ही आत्मा संरक्षित रहेगी और पापियों की आत्मा सर्वदा के लिये विनष्ट कर दी जायगी। कुछ अन्य विचारक न्यायदिवस पर विश्वास रखकर पुनः देह धारण करके स्वर्गिक अथवा नारकीय जीवन के रहने की कल्पना करते हैं।

ईसीन (Essene)

यह यहूदी विश्वासियों का संघ था जो किसी प्रकार की पशुबलि ईश्वर को नहीं चढ़ाते थे। ये अविवाहित रहकर अपनी इन्द्रियों का निग्रह करते थे। ये पवित्र जीवन-यापन करते और 'मुनि' (चुप) रहना अच्छा समझते थे। ये जो कुछ अपने कठिन परिश्रम से कमाते थे उसे अपने मठ को अर्पित कर देते थे। प्रत्येक मठवासी को उसकी आवश्यकता के अनुसार इसी संघीय धन में से दिया जाता था। ये सोना-चाँदी, घर-द्वार नहीं रखते थे और संन्यासियों का जीवन व्यतीत करते थे। ये शाकाहारी होते थे।

ईसीनियों को फरीसियों के मत से अधिक प्रभावित कहा जायगा और इन्हें सदूसी नहीं समझा जा सकता है। ये अपने पूरे धन-मन के साथ ईश्वर की उपासना करते थे और इन्हें यहूदी धर्मी लोगों में गिना जा सकता है।

बौद्ध भिक्षुओं के समान इनके संघ में समाजवादी प्रथा इस रूप में थी कि संघ की कोई भी वस्तु किसी की अपनी निजी नहीं समझी जाती थी। ये पूर्णतया अपरिग्रही होते थे।

समझा जाता है कि यहूदी ईसीन लोग अहिंसा के पुजारी होते थे। संभवतः, इन ईसीनियों पर पैथागोरस के शाकाहार का और बौद्धों के संघीय जीवन का प्रभाव पड़ा था। परंतु अनुमान लगाया जाता है कि स्वयं ईसा मसीह ईसीन संघी नहीं थे।

अध्याय : ७

ख्रीष्टीय या ईसाई धर्म

विषय-प्रवेश

'ईसा' शब्द जीज़स से निकला है। 'ख्रीष्ट' शब्द यूनानी है और इब्रानी 'मसीह' शब्द का अनुवाद है। 'मसीह' का अर्थ है वह जो अभिषिक्त (anncinted) है। यहूदी लोगों में पुजारियों और राजाओं का अभिषेक किया जाता था और इसलिये ईसा को 'मसीह' कहा गया है क्योंकि ईश्वर ने उसे विशेष रूप से चुनकर और यज्ञबलि के रूप में अभिषिक्त किया था।

ईसा मसीह यहूदी थे और इन्होंने सर्वप्रथम यहूदियों द्वारा 'मसीह' की कल्पना को अपने जीवन में साकार करने की चेष्टा की।

बाइबिल में दो प्रकार की पुस्तकें हैं, अर्थात् पुराना और नया नियम। 'बाइबिल' का अर्थ ही है 'पुस्तकों की संहिता।' पुराने नियम में ३९ पुस्तिकायें हैं जो ईसाई और यहूदियों, दोनों धर्मों के लिये एक समान हैं। नये नियम में २७ पुस्तिकायें हैं जिनमें चार सुसमाचार (Gospels) कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त अपोक्रिफा (Apocrypha) नामक यहूदियों की पुस्तक है जिसमें 'मसीह' के स्वरूप और उसके आगमन की चर्चा की गयी है। इसमें संदेह नहीं कि ईसा मसीह ने स्वयं इस अपोक्रिफा और यशायह नबी के द्वारा 'मसीह के संदर्भ में' कही गयी भविष्यवाणी से प्रभावित होकर अपने को क्रूशीय बलि के लिये उपयुक्त बनाया और अपना बलिदान दिया। हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि यहूदी लोग ईश्वर के नाम पर प्रायः शहीद हुआ ही करते थे। इसलिये ईसा मसीह ने भी ईश्वरीय प्रेम को बताने और उस निमित्त अपने को बलि के रूप में अर्पित करने के लिये तैयार किया। ईश्वरीय प्रेम को दर्शाने और उस प्रेम के निमित्त अपनी बलि चढ़ाने का आदेश सभी मसीहियों को आज भी दिया जाता है। ईसा के उद्धारक बलिदान को atonement कहा जाता है।

यहूदी लोग मानते हैं कि उनकी पुस्तक ईश्वर की प्रकाशना (revelation) है, पर ईसाई मानते हैं कि बाइबिल ईश्वर की उत्प्रेरणा से लिखी गयी है। केवल थोड़े मूलवादी (fundamentalist) ही ऐसे हैं जो समझते हैं कि बाइबिल अक्षरशः ईश्वर-वचन है। वास्तव में आलोचना के आधार पर तो यह भी निश्चित नहीं हो पाया है कि सुसमाचार के कितने प्रकथन ख्रीष्ट-वचन हैं।

बाइबिल को इतिहास भी नहीं मानना चाहिये। सुसमाचार (gospels = good news) इसीलिये लिखा गया कि ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार हो। बहुत दिनों

तक ईसाई धर्म यहूदी धर्म की एक शाखा माना जाता है, पर अंत में दोनों में बड़ा भेद होने लगा। विशेष भेद यह हुआ कि यहूदी उस कर्मवाद को अपनाते हैं जिसे तौरेत में बताया गया है। यहूदी रहस्यवादी नहीं हैं और उन्होंने भक्ति और ईश्वर-निष्ठा पर नियम-पालन की अपेक्षा बल नहीं दिया है। परंतु, ईसाई धर्म में 'विश्वास' (faith) पर बहुत बल दिया गया है और नियम-पालन को गौण समझा गया है। फिर ईसाई धर्म में तप और संसार-विरक्ति को अपनाया गया है, पर यहूदी गृहस्थ-जीवन और परिवार को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। परंतु नियम-पालन और विश्वास इन दोनों का बहुत बड़ा भेद है, क्योंकि यहूदी तौरेत के लिये प्राणों की आहुति देने के लिये तैयार रहते हैं। इसके विपरीत संत पॉल के अनुसार, यीशु मसीह पर ईमान (विश्वास) लाने पर मुक्ति प्राप्त हो सकती है, न कि शास्त्रीय अनुष्ठान के पालन से।

यीशु ख्रीष्ट ने लोगों को शिक्षा दी, पर कुछ लिखा नहीं है। उनके वचनों को एकत्रित करके चार सुसमाचारों में संगृहीत किया गया है। लूक रचित सुसमाचार सबसे अधिक शृंखलाबद्ध है। योहन रचित सुसमाचार सबसे बाद का लिखा हुआ है और इस योहनीय सुसमाचार में यीशु ख्रीष्ट को ईश्वरीय पुत्र माना गया है। योहनीय सुसमाचार में ईसा-वचन की अपेक्षा संत योहन की टिप्पणी ही अधिक है। इसमें ईसा को शब्द-रूप मानकर ईश्वर के समतुल्य इन्हें अनादि माना गया है।

संत योहन के समान संत पॉल ने ईश्वरीय प्रेम और अनुग्रह पर बहुत बल दिया है। संत पॉल विद्वान् यहूदी थे, पर इन्होंने सुसमाचार को अन्यदेशियों के बीच प्रचारा-प्रसारा जिसके कारण ख्रीष्टीयता एक सर्वव्यापक विश्व-धर्म के रूप में आज देखा जाता है।

बाइबिली मिथक भाषा

पुराना नियम इब्रानी भाषा में लिखा गया है जो अरबी भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। नया नियम यूनानी भाषा में लिखा गया है। पर यह यूनानी वह यूनानी भाषा थी जिसे यहूदी अपने लिखने-पढ़ने में प्रयोग करते थे। अतः इस भाषा को भी इब्रानी-रूप दे दिया गया है।

किसी भी धर्मभाषा को समझने के लिये उस परंपरा को जानना चाहिये जिस परंपरा में वह समझी जाती है। बाइबिल लगभग दो हजार वर्ष पहले उस समय की प्रचलित धर्मभाषा में लिखी गयी है जिसमें बीमारी को जादू-टोना, भूत-प्रेत, स्वर्गदूत, शैतान इत्यादि के प्रकोप के रूप में समझा जाता था। फिर कुँवारी मरयम से ईसा का जन्म लेना, मृत्यु से पुनर्जीवित होकर स्वर्गारोहण, न्यायदिवस इत्यादि भी इस युग के मिथक थे। इस वर्तमान युग में बुल्तमान ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। पर सादिया ने (सन् ८८२-९४२) तथा मैमोनाइड्स ने (सन् ११३५-१२०६) पहले

ही स्पष्ट कर दिया था कि ईश्वर का स्वर्ग में निवास, उसकी नित्यता, ऊँचाई इत्यादि सब ऐसे साधन हैं जिसके द्वारा ईश्वर के अतीतपन का बोध कराया जाता है। अतः कुँवारी-जन्म, स्वर्गारोहण, पुनरागमन ऐसे मिथक हैं जिनके द्वारा यीशु ख्रीष्ट की अनुपमता, अनूठापन, ईश्वर के परम प्रतीक होने की बात कही जाती है। आश्चर्य की बात है कि अनेक भारतीय ईसाई इन मिथकों को शब्दशः समझते हैं।

वर्तमान युग में 'ईसा' और 'ख्रीष्ट' के बीच में भेद किया जाता है। ईसा ऐतिहासिक पुरुष थे और अब वे इस भूतल पर नहीं हैं। पर 'ख्रीष्ट' वह आध्यात्मिक शक्ति है जो आज भी लाखों ईसाइयों का मार्गदर्शन करती है। 'ईसा और ख्रीष्ट' का भेद ठीक उसी प्रकार का है जो बौद्ध त्रिकाय की शिक्षा में पाया जाता है। निर्माणकाय बुद्ध सिद्धार्थ तथा शाक्यमुनि थे, पर वे आज भी धर्मकाय रूप में बौद्धों का मार्गदर्शन करते हैं। शाक्यमुनि सिद्धार्थ ऐतिहासिक थे, पर वे देहधारी नहीं हैं, पर धर्मकाय बुद्ध नित्य, शाश्वत आध्यात्मिक शक्ति के रूप में जीवित हैं।

ईसाई धर्म में ईश्वर-विचार

१. यहूदी धर्म के समान ईसाई भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता समझते हैं, और समझते हैं कि ईश्वर ने शून्य से इस जगत् की सृष्टि की है।

२. ईश्वर में इच्छा और सर्वशक्तिमत्ता है, पर वह शरीरी नहीं है। किसी न किसी रूप में ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है।

३. ईश्वर अपनी सृष्टि से दूर नहीं रहता, वरन् उसकी देखभाल करता रहता है।

४. ईश्वर चाहता है कि मानव मेरे समान पवित्र हो और अपनी इच्छा को मुझे अर्पितकर मेरे समान ही पूर्ण हो।

५. ईसाइयों के अनुसार, ईश्वर मानव के प्रति इतना सहानुभूति रखता है कि वह उसके संपूर्ण बालों तक की संख्या जानता है (लूक १२ : ७)। ईसा ने बताया है कि जब ईश्वर फूल-पत्तियों को सुंदर बना सकता और गौरैये तक की खोज-खबर रखता है तो वह क्यों अपने लोगों की सुधि न लेगा ? (मत्ती ६ : ३०; लूक १२ : २७-२९)। इसलिये मानव का भी कर्त्तव्य है कि वह सर्वप्रथम ईश्वर और ईश्वर के राज्य की खोज करे।

६. यहूदी धर्म की तुलना में ईश्वर को करुणामय परमपिता कहा गया है। ईश्वर न्यायी अवश्य है, पर वह विशेषतया प्रेम है और नहीं चाहता है कि पापी अपने पाप में पड़ा रहे। ईश्वर के प्रेम का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि ईश्वर ने अपने प्यारे पुत्र को जगत् में भेजा ताकि उसके बलिदान से सभी पापी उद्धार पायें।

> "ईश्वर ने जगत् से ऐसा प्यार किया कि उसने अपना एकलौता पुत्र दिया, ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे सो मृत्युदंड का भागी न हो, वरन् अनंत जीवन प्राप्त करे"—(योहन ३ : १६)।

७. इसलिये ईसाई मानते हैं कि ईश्वर ईसा में अवतरित हुए हैं।

८. ईसा ने अपनी बलि देकर स्वर्ग का द्वार सभी के लिये खोल दिया है। इसे प्रायश्चित का सिद्धान्त (atonement) कहा जाता है। फिर इसे प्रतिनिधिमूलक (vicarious) बलि भी कहते हैं; अर्थात् पापी के पाप का भार ईसा ने वहन कर लिया और पापी अब अपने पापों को स्वीकार कर ईसा पर भरोसा रखकर पापमोचन प्राप्त कर सकते हैं।

९. पहले ही कहा जा चुका है कि परम सत्ता अज्ञेय और अज्ञात है और मानव बिना उस परम सत्ता के साथ संबंध किए हुए शांति भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। मानव उस परम सत्ता का विविध रूप में चित्रण करता है। मैमोनाइड्स ने पहले ही लिखा है कि हम जानते हैं कि ईश्वर **है**, पर हम नहीं जानते कि वह **क्या** है, अर्थात् उसके स्वरूप को मानव नहीं जानते हैं। यह बात बाइबिल के पुराने और नये, दोनों नियमों में देखी जाती है जिसकी चर्चा यथास्थान कर दी गयी है (निर्गमन ३ : १४; अय्यूब ११ : ७-८; रोमियों ११ : ३३ इत्यादि।) इस स्थिति में संत योहन ने लिखा है कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है, पर जिसने ईसा को देखा है, उसने ईश्वर को देखा है, (१:१८), अर्थात् ईसा की शिक्षा, जीवनी और मृत्यु ईश्वर के प्रेम-स्वरूप का उद्‌घाटन करती है। मिथक की भाषा में यीशु को ईश्वर का पुत्र, मसीहा इत्यादि संज्ञा दी गयी है, पर आज की भाषा में कहा जाएगा कि यीशु ख्रीष्ट उस ईश्वर का प्रतीक (symbol) है जो परम सत्ता का आभास और उसका परिचय दिलाने में समर्थ होता है। ईसाइयों के लिए 'ईश्वर यीशु है', क्योंकि उसे छोड़कर वे ईश्वर को अन्य रूप से समझने में अपने को असमर्थ पाते हैं। तब यीशु ने ईश्वर के किस स्वरूप पर प्रकाश डाला है?

१०. ईसा ने बताया है कि ईश्वर परम प्रेमी, दयालु पिता है जो गड़ेरिये के समान अपनी खोयी हुई भेड़ के समान पथभ्रष्ट पापियों को ढूंढ़ निकालने के लिए सर्वदा आँख बिछाये रहता है। ईसा ने बराबर ईश्वर को 'पिता' कहकर संबोधित किया और प्राणों छोड़ते हुए अंतिम वचन में कहा, 'हे पिता, मैं अपनी आत्मा को तुझे समर्पित करता हूँ' (लूक २३ : ४६)। ईसा ने बताया कि ईश्वरीय प्रेम क्षमाशील, उद्धारक और बिना किसी भेद के सर्वव्यापक है।

(क) अपने चेलों से पूछे जाने पर कि अपने भाई को उसके दोषों के लिए कितनी बार क्षमा किया जाय, क्या सात बार? मसीह ने कहा, सत्तर गुणा सात बार। फिर एक व्यभिचारी औरत को लोग मसीह के पास लाये ताकि मूसा के नियम के अनुसार उसे पत्थरवाह किया जाय। मसीह ने कहा यह औरत पत्थरवाह किये जाने योग्य है। पर पहला पत्थर वह फेंके जिसने कोई पाप न किया हो। यह सुनकर एक-एक करके भीड़ छँट गयी। अंत में, मसीह ने उस औरत की ओर दृष्टि करके पूछा, 'तेरे दोषी ठहराने वाले कहाँ चले गये?' औरत ने कातर आवाज में कहा, 'कोई यहाँ नहीं ठहरा'।

मसीह ने कहा, 'औरत ! जा। मैं भी तुझे दोषी नहीं कहूँगा। जा और पाप फिर न करना।' (योहन ८ : १०-११)

(ख) मसीह ने उड़ाऊ पुत्र के दृष्टान्त देकर बताया कि ईश्वर अपने उड़ाऊ पुत्र की ओर भी ताक लगाये रहता था। जब उसका पुत्र सब कुछ गँवा चुका और भूख-प्यास से तड़पने लगा तब उसने पश्चाताप किया और अपने पिता की ओर बढ़ा ताकि उससे दया की भीख माँगे। परन्तु उसका पिता उसकी बाट जोह रहा था। उसने दरिद्र, निस्सहाय, क्लान्त, भूखे-प्यासे बेटे को दूर से देखा, उस ओर दौड़ा। पुत्र कुछ पूरी बात कह भी नहीं पाया था कि उसके पिता ने उसे गले लगा लिया और कहा,

'यह मेरा पुत्र मर गया था, फिर जी उठा है। आओ, खुशियाँ मनायें।' (लूक १५ : २४)

ईश्वर का यह प्रेम क्षमाशील है और पश्चातापी को अपने में फिर ले लेने को प्रदर्शित करता है।

(ग) जब यीशु को क्रूश पर उनकी मृत्यु-निमित्त चढ़ाया गया तो उनका पहला वचन यही था :

'हे पिता ! इन्हें क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।' (लूक २३ : ३४)

(घ) अंत में जब दो डाकू जो यीशु के साथ क्रूश पर चढ़ाये गये थे, उनमें से एक उनका अट्टहास करने लगा, पर दूसरे डाकू ने पश्चाताप किया और यीशु की ओर मुड़कर कहा, 'हे प्रभु ! तू मेरी भी सुधि लेना।' मसीह ने कहा, 'आज ही तू मेरे साथ स्वर्ग में होगा।'

ईश्वर का प्रेम उद्धार का आधार होता है। बाइबिल के अनुसार, यीशु ने कहा है कि तुम अपने शत्रुओं से भी प्रेम रखो और अपने प्रेम में परम पिता के समान पूर्ण बनो। ईश्वर धर्मी और अधर्मी, दोनों को बिना किसी भेद के वर्षा और सूर्यप्रकाश का दान देता है। ईश्वरीय प्रेम की पराकाष्ठा में हिन्दू-मुसलमान-ईसाई का कोई भेद नहीं रहता है ! इस अभेदरूप प्रेम में और याज्ञवल्क्य के ब्रह्म-ज्ञान में जहाँ पिता, पिता नहीं रहता, माता, माता नहीं रहती इत्यादि का क्या कोई अंतर दिखता है ? एक में एकेश्वरवाद की अंतिम स्थिति और दूसरे में ब्रह्म-ज्ञान की अंतिम स्थिति पायी जाती है। पर ईश्वरवाद में संपूर्ण अभेद-भाव का रहना कठिन है जिसकी चर्चा अन्यत्र कर दी गयी है।

त्र्येक परमेश्वर (Trinity)

प्रश्न उठता है कि क्या ख्रीष्टीय एकेश्वरवाद वास्तव में एकेश्वरवाद रहता है, क्योंकि इसमें पिता-पुरुष, पुत्र-पुरुष और पवित्रात्मा-पुरुष को भिन्न और फिर एक कहा

जाता है। यदि ये भिन्न-भिन्न हैं तो इन्हें एक मानना आत्मविरोधी है। यदि ईश्वर एक हो तो खीष्ट और आत्मा को ईश्वर के समकक्ष नहीं समझना चाहिये।

उपरोक्त समस्या पर विचार करते समय हमें याद रखना चाहिये कि ईश्वर, ईश्वर के पुत्र ईसा तथा पवित्र आत्मा को तीन व्यक्ति माना जाता है और जहाँ व्यक्तित्व रहेगा, वह एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व से मिलकर कभी एक नहीं हो सकता है। व्यक्तित्व का अपना स्वरूप ही है कि एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अपना अलगाव रखे। इसलिये त्र्येक ईश्वर की भावना दोषपूर्ण है। पर जो कुछ भी हो ईसाई त्र्येक ईश्वर को ईश्वर-त्रय (triad) नहीं समझना चाहिये, अर्थात् यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव का ईश्वर-त्रय नहीं कहा जा सकता है।

प्रतीक-सिद्धान्त के अनुसार, ईसा ईश्वर के प्रबल प्रतीक हैं जो ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं और जब भक्त ईसाई ईश्वर को क्षमाशील, उद्धारक और परिशोधक प्रेम के रूप में समझने लगता है तो उसमें अदम्य शक्ति आ जाती है : 'पंगु चढ़इ गिरि-वर गहन।' यह है पवित्रात्मा का दान। ईश्वर सर्वथा एक ही है और पवित्रात्मा वह शक्ति है जो साधक को इस प्रेममय ईश्वर के आस्वादन से प्राप्त होती है।

राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन, दोनों ब्रह्म-समाजियों ने ईसाई धर्म का गहरा अध्ययन किया था। राममोहन राय के अनुसार, पिता-पुत्र-पवित्रात्मा को तीन व्यक्तित्व-पूर्ण सत्ताओं को एक कहना भारी भूल है। वास्तव में त्र्येक ईश्वर की कल्पना में अनेकेश्वरवाद (polytheism) की झलक है। वास्तव में ईश्वर एक हैं; ईसा ईश्वर के वे पैगम्बर हैं जिन्होंने ईश्वर तक पहुँचाने के लिये एक मध्यस्थ (mediator) का काम किया और पवित्र आत्मा ईश्वर की वह शक्ति है जो ईश्वर से निकलकर विश्व में व्यापती है।

केशवचन्द्र सेन ने त्र्येक ईश्वर की भावना को स्वीकार किया है। पर इसे सच्चिदानंद के रूप में समझा है, अर्थात् ईश्वर सत् हैं, पुत्र शुद्ध चेतना और पवित्र आत्मा आनंद है। इस त्र्येक ईश्वर को उन्होंने दूसरे रूप में भी देखा है, अर्थात् ईश्वर पिता स्रष्टा, पुत्र निदर्शक (exemplar आदर्श उदाहरण) और पवित्र आत्मा पवित्रीकर्ता (Sanctifier) है। परंतु उन्होंने भी एकेश्वरवाद को ही निभाया है और पुत्र व पवित्रात्मा को परमेश्वर-त्रय (tritheism) के रूप में नहीं समझा है।

खीष्ट का स्वरूप

यदि ईसा को जिन्होंने मनुष्य का रूप धारण किया, ईश्वर समझा जाय तो इसे ईश्वर-निंदा (blasphemy) कहा जायगा। यदि ईसा को उनके मानव रूप में समझा जाय तो इसे मूर्तिपूजा कहा जायगा। फिर यदि ईसा को पूर्ण मानव और पूर्ण ईश्वर कहा जाय, तो एक ही व्यक्ति को सीमित (मानव रूप में) और असीमित (ईश्वर) एक साथ समझने

में परस्पर-विरोध देखा जाता है। अतः ईसा केवल प्रतीक हैं जो ईश्वर का बोध कराने में समर्थ होते हैं। इसके विपरीत ईसाई अपने विश्वास-वचन में ईसा को पूर्ण मानव और पूर्ण ईश्वर दोनों एकसाथ मानते हैं, जो तर्कसंगत बात नहीं है। ईसा को प्रतीक स्वीकारने में किसी भी प्रकार की ईश्वर-वंदना में रुकावट नहीं आती है। पर लकीर के फकीर शायद इस सुझाव को स्वीकार नहीं करेंगे।

ईसाई धर्म में मानव-विचार

ईसाई धर्म में यहूदी धर्म के समान मानव-विचार पाया जाता है, पर बाद में ईसाई-संघ (चर्च) के स्वरूप के निखरने पर मानव-विचार में ईसाई विशिष्टता चली आती है।

ईसाई धर्म के अनुसार, छः दिनों में (जो वास्तव में युगों के समान हैं) सम्पूर्ण जगत् प्राणी, पशु और अंत में मानव को अपनी छवि (image) में ईश्वर ने सृष्टि की है। ईश्वर ने मानव को केवल अपने ही बिंब में नहीं बनाया, वरन् मानव को अपनी संपूर्ण सृष्टि पर अधिकार भी दिया (उत्पत्ति १ : २६-२७)। अतः, मानव ईश्वर के समान ही नीतिवान् एवं भव्यशाली जीव है, और संपूर्ण सृष्टि पर अधिकार देकर मानव से आशा रखता है कि वह संपूर्ण संसार को ईश्वर की इच्छानुसार रूप भी दे देगा। पर ईश्वर का क्या स्वरूप है जिसकी छवि के अनुसार ईश्वर ने मानव को बनाया है।

हमलोगों ने पाया है कि हम जानते हैं कि ईश्वर है, पर हम यह नहीं जानते कि उसका स्वरूप और उसका गुण क्या है। यदि हम ईश्वर के स्वरूप को ही नहीं जानते हैं तो उसकी छवि की कैसे कल्पना की जाय? निर्गमन की पुस्तक ३:१४ में ईश्वर ने बताया कि 'मैं जो हूँ सो हूँ'। इब्रानी भाषा में जिस शब्द का अनुवाद 'मैं हूँ' किया गया है, उसमें किसी काल का बोध नहीं होता है। पर ईश्वर अपनी चुनी हुई जाति का प्राचीनकाल से इब्राहिम, इजहाक, याकूब और अन्य नबियों का ईश्वर भी रहता आया है और अंत लों बना रहेगा। अतः, ईश्वर की प्रकाशना सर्जनात्मक क्रिया है जो समस्त मानवजाति का मार्गदर्शन करती है। इसलिये ईश्वर की छवि भी इसी सर्जनात्मक शक्ति का बोध कराती है। ईश्वर ने अन्य जीव-जन्तु, वनस्पति तथा पशुओं के स्वभाव में स्थिरता प्रदान की है, पर मानव को निरन्तर प्रगतिशील तथा गतिशील रखा है। उसके विकास का और इसी प्रकार उसके ह्रास का भी कोई अन्त नहीं है। इसलिये कभी-कभी बड़े विस्मय के साथ विचारक प्रश्न करते आये हैं कि मानव जो धूल के समान है उसे ईश्वर ने क्यों रचा? क्यों उसे स्वर्गदूतों की अपेक्षा थोड़ा ही नीचा रखा है पर ईश्वर ने उसे कितनी अधिक विकास-शक्ति और महिमा से मंडित किया है?

ईसाई विचारकों के अनुसार, ईश्वर ने संपूर्ण विश्व को रचकर मानव को अपनी छवि में इसलिये बनाया कि वह विश्व में स्वर्गिक राज्य की स्थापना करे। क्या ईश्वर मानवों को शुभ संकल्पशक्ति देकर अपने इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता? उसने

क्यों मानव को बुरे कर्म के लिये वासना भी दी है ? क्या मानव अपने सृजनहार से इस प्रकार प्रश्न कर सकता है ? नहीं । परंतु ईसा ने कहा कि जिसने मुझे देखा, उसने ईश्वर को भी देखा (योहन १४:९-१०) है । इसलिये इस प्रश्न का समाधान ईसाई ईसा की शिक्षा, उसके काम और मृत्यु के आधार पर करते हैं । इस पर विचार अशुभ की समस्या के संदर्भ में किया जायगा । पर स्वयं ईसा ने बताया कि उनके जीवन का उद्देश्य है कि स्वर्गिक राज्य की स्थापना की जाय । इसलिये मानव का असली स्वरूप इस स्वर्गिक राज्य और तदनुरूप ईसाई मंडली के चित्रण से स्पष्ट होता है ।

मसीह ने अपने प्रचार का काम इस उद्घोषणा से प्रारंभ की : 'स्वर्गिक राज्य सन्निकट है । पापों से पश्चाताप करो । यीशु को आनेवाला ख्रीष्ट समझकर उस पर विश्वास करो । पहले स्वर्गिक राज्य की चिंता करो तब तुम्हें अन्न, वस्त्र और सभी सामग्रियाँ ईश्वर-पिता देगा । जब ईश्वर-पिता पशु-पक्षी और वन के फूलों की देखभाल करता है तो हे अल्पविश्वासी क्या वह तुम्हारी (जो सृष्टि का उत्तम और अधिकारी जीव हैं) सुधि न लेगा ? (मत्ती ६:२५-३४; मार्क १:१५, मत्ती ९:३५) । परंतु धर्मी बनना और ईश्वर की दसों आज्ञाओं का पालन करना कठिन है । यह वही प्रश्न है जो गीता में निष्काम कर्म के संदर्भ में किया गया है और दोनों में शरणागति के रूप में समाधान बताया गया है । मसीह का कहना है :

> 'हे सब लोगों ! जो भारी बोझ से दबा हो और क्लान्त हो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूँगा । मेरा जुआ अपने कँधों पर रखो और अपना जुआ मुझको दो क्योंकि मेरा जुआ हल्का है ।—(मत्ती ११:२८-३०)

मसीह के जुए को अपने ऊपर उठाने का अर्थ है मसीही विश्वास, आशा और ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना, क्योंकि बाइबिल के अनुसार मसीह मृत्युपर्यन्त ईश्वर के अधीन रहा और उसी की ही आज्ञाओं के अनुसार, ईश्वर के प्रेम-स्वरूप को स्पष्ट कराने के लिये अपने प्राणों की आहुति दी है । पर मसीह ने स्पष्ट कर दिया कि उसका राज्य संसार का नहीं है । संसार में बड़े शासक वे कहे जाते हैं जो अन्य लोगों पर राज्य करते हैं । पर अच्छा ईसाई वह है जो सबका दास है, दीन है, विनम्र है और सबकी सेवा करता है । मसीह ने कहा कि जब मैं तुम्हारा प्रभु और गुरु होकर तुम्हारा पैर भी धोता हूँ, तो क्या तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है कि तुम एक दूसरे का पैर तक धोया करो (योहन १३:१४) ?

ईसाई धर्म के अनुसार, मानव अवश्य संसार में रहता है, पर वह संसार का नहीं, वरन् ईश्वर का पात्र है । यदि मानव ईश्वर की आज्ञाओं का पालन न करे तो उसे दंड भोगना ही पड़ेगा । यहूदी जाति ईश्वर की चुनी हुई थी तो भी इस जाति को ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन करने के फलस्वरूप बार-बार दुःख उठाना पड़ा । ताड़ना के रूप में

अन्य जातियों को इतना समर्थ किया गया कि वे यहूदियों को उनके पाप के कारण उनका संहार और दमन करें। जब तक मानव इस भूतल पर है उसे संसार के शासकों के शासन को स्वीकार करना है, क्योंकि ईश्वर ही शासक बनाता है और उन्हें बल और प्रभुता प्रदान करता है। इसलिये मसीह ने अपने चेलों से कहा,

'जो कैसर का है सो कैसर को दो और जो ईश्वर का है, उसे ईश्वर को दो।'

—(मत्ती २२:२१)

फिर पिलातुस से कहा,

'यदि तुझे ऊपर से (अर्थात् ईश्वर से) अधिकार नहीं दिया जाता तो तुम मेरे विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते'।—(योहन १९:११)

यही बात संत पौल ने मंडलियों को लिखी थी।

ईश्वर के राज्य को यीशु ने बताया था कि यह प्रगतिशील और प्रसार का विषय है, क्योंकि उसने उपमाओं द्वारा स्पष्ट किया कि यह बढ़ते हुए वृक्ष के समान है, फिर यह फैलने वाले खमीर के समान है—(मत्ती १३:३१-३३)। फिर उसने इस स्वर्गिक राज्य को संपूर्ण विश्व का राज्य समझकर इसे व्यापक रूप दिया था। ईसा के अनुसार यीशु की भेड़ें केवल यहूदी ही नहीं, वरन् अन्यदेशीय भी हैं।—(योहन १०:१६)

बाद में चलकर यीशु ने इस स्वर्गिक राज्य को ईसाई मंडली (चर्च) के रूप में समझा (मत्ती १६:१८, योहन २१:१५-१७, लूक १२:३२)। यह मंडली जितनी बाह्य है उतनी ही हृदय की वस्तु है (लूक १७:२१)। संत पितर को ईश्वर का आदेश मिला कि वह इस चर्च के द्वार को समस्त जातियों के लिये खोल दे—(प्रेरितों के काम १०: ३४-३५)। इस चर्च के सदस्य समस्त मानवजाति के लोग हो सकते हैं और न इनमें जाति का और न कोई वर्ण-विचार का भेद पाया जाता है।—(गलातियों ३:२४, ६:१५)

इस चर्च की व्यवस्था ईसीन लोगों के समान साम्यवादी थी, पर बाद में चलकर इसकी व्यवस्था रोमी शासन के समान बन गयी। इस पार्थिव ईसाई संघ को यीशु ने आदेश दिया कि ईसाई धर्म का वे प्रचार और प्रसार करें। इस संघ के विभिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न वरदान और कार्यक्षमतायें दी गयी हैं, पर व्यक्तियों को आपस में मिलकर मंडली की जैविक व्यवस्था अथवा तंत्र को स्थापित करना चाहिये। यहाँ कर्मणा भेद माना गया है, पर जन्मना नहीं। हिंदू और ईसाई, दोनों धर्मों में मानव-व्यवस्था को जैविक तंत्र के रूप में माना गया है। हिंदू धर्म के पुरुष-सूक्त के अनुसार सभी जातियाँ अंत में एक आदिपुरुष के ही अंग हैं। ईसाई धर्म में विभिन्न अंग कर्मणा हैं और हिंदू धर्म में जन्मना है।

जगत्-विचार

बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने इस जगत् की शून्य (ex-nihilo) से सृष्टि की है। सर्वप्रथम इस सृष्टि-रचना में ईश्वर ने आकाश की रचना की, (२) तब जल और थल

की, (३) फिर वनस्पतियों की, (४) पुनः, सूर्य-चाँद, तब (५) जल और थल-जंतुओं की और अंत में मानव की रचना की। मानव को ईश्वर ने अपनी छवि में बनाकर उसमें जीवन का श्वास भर दिया और समस्त सृष्टि पर उसके आधिपत्य को स्थापित कर उसमें विकास-वृत्ति डाल दी। अतः यह सृष्टि ईश्वर पर सर्वथा निर्भर रहती है और ईसाई दार्शनिकों ने इस विश्व को आपातिक (Contingent) माना है। चूँकि ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है, इसलिये ईश्वर ने इस सृष्टि में अपनी व्यवस्था रखी है। अतः, यह विश्व बुद्धिगम्य है और विज्ञान की इसमें छूट है कि वैज्ञानिक अपनी बुद्धि के द्वारा ईश्वर-ज्ञान प्राप्त करे। संत पॉल ने लिखा है कि समस्त मानव के लिये अपनी प्रकाशना के रूप में ईश्वर ने इस जगत् की ऐसी अद्भुत सृष्टि की है कि इसे देखकर सभी चिंतक ईश्वर के नित्य एवं शाश्वत बुद्धि और ज्ञान को जान सकते हैं (रोमियों १ : २०)। इसी प्रकार भजनसंहिता में लिखा है कि स्वर्ग और पृथ्वी ईश्वर के गुणगान से भरी है और सितारे भगवान् की स्तुति और भजन करते हैं।

ईसाई धर्म के अनुसार सृष्टि आपातिक अवश्य है, पर यह नियमबद्ध है और ईश्वर की अद्भुत शक्ति का परिचायक है। सृष्टि के पूर्व न काल था और न दिक्। इसलिये यह प्रश्न करना कि ईश्वर ने क्यों किसी अमुक काल में सृष्टि की, क्यों नहीं इसकाल के पूर्व या बाद, प्रसंगहीन होगा। काल और सृष्टि एकसाथ उत्पन्न किये गये। इसी प्रकार दिक् की भी समस्या है। ईश्वर किसी अमुक स्थान में सीमित नहीं किया जा सकता है। ईश्वर आत्मा है और वह सर्वत्र है। न गहराई और न ऊँचाई उसे छिपा सकती है। ईश्वर की पूजा हृदय से और अपनी आत्मा में कभी भी और कहीं भी की जा सकती है।

हाँ, इस सृष्टि की घटनाओं से, बाढ़-सूखा, तूफान-ओला इत्यादि के द्वारा मानव को ईश्वर दंडित कर सकता है।

जब ईश्वर ने अपनी सृष्टि-रचना पूरी कर ली तो उसने अपनी सृष्टि को आद्यन्त देखा और देखकर खुश हुआ (उत्पत्ति १ : ३१)। परन्तु धीरे-धीरे इस सृष्टि में पाप फैल गया जो ईश्वर को असह्य हो गया। एक बार नूह और उसके परिवार और उसके साथ के पशुओं को छोड़कर ईश्वर ने समस्त प्राणियों को बाढ़ के द्वारा विनष्ट भी कर दिया था। तो भी मानव ने बार-बार पाप करना जारी रखा। यही कारण है कि यीशु मसीह के काल में संसार प्रलोभन का विषय बन गया था। और उसने अपने चेलों को कहा कि तुम अपना धन इस संसार में जमा न करो, क्योंकि सांसारिक धन विनाशशील होता है। उसने कहा कि चेलों! तुम अपना धन स्वर्ग में इकट्ठा करो जहाँ तुम्हारा आध्यात्मिक धन न चोर चुरा सकता है और न कीड़ा उसे चाट सकता है। फिर यीशु ने बताया कि कोई आदमी पूरी सच्चाई से दो स्वामियों की एकसाथ सेवा नहीं कर सकता है। इसलिये कोई भी व्यक्ति इस संसार और स्वर्ग, दोनों की सेवा एक

साथ नहीं कर सकता है। यीशु ने बताया कि तुम स्वर्ग और उस राज्य-धर्म की खोज करो, क्योंकि संसार की अन्य वस्तुयें, जैसे अन्न और वस्त्र, ईश्वर-पिता अपने भक्तों को अवश्य देगा। इस रूप में इस संसार को मसीह ने कोई विशेष महत्व नहीं दिया है (मत्ती ६ : १९–२१, २४–३४)।

जब ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार होने लगा तब ईसाई मंडली में लोगों का विश्वास था कि प्रलय बहुत सन्निकट है और ख्रीष्ट का पुनरागमन समीप है। इसलिये संत पॉल ने इस संसार को अंधकार कहा है (१ थिसलोनियो ४ : १३-१९; ५ : १-६)। धन को मसीह ने स्वर्ग-मार्ग के लिये बाधक बतलाया है।

इसलिये ईसाई धर्म में सृष्टि को ईश्वर-रचना कहकर वास्तविक कहा। उसके द्वारा ईश्वर-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है; पर मानव ने अपने इच्छा-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग कर इस सांसारिक जीवन को पापमय कर दिया है। इसलिये ईसाई धर्म में मूल-पाप (original sin) की शिक्षा दी गयी है और इसके निराकरण के लिये क्रूशीय मौत के द्वारा समस्त मानव-जाति के पापमोचन को मुक्ति का मार्ग भी बताया गया है। अतः, ईसाई नीति-विचार का प्रश्न उठ जाता है।

नीति-विचार

जिस प्रकार यहूदी-ईश्वर-विचार को संशोधित कर मसीह ने ईश्वर को क्षमाशील, उद्धारक और पापमोचक प्रेम बताया, उसी प्रकार मसीह ने ईसाई धर्म में उच्चतम नैतिक आदेशों की शिक्षा बतायी थी। इस संदर्भ में मसीह को ऐसा प्रतीत हुआ कि वे मूसाई नीति-विचार से बहुत आगे बढ़ गये हैं। अपने नीति-वचन के पूर्व वे बार-बार दुहराकर कहते थे, 'पहले बताया गया था' कि व्यभिचार न करो, पर मैं कहता हूँ कि जिसने किसी दूसरी स्त्री की ओर दुर्वासना से दृष्टि फेरी है उसने उसके साथ व्यभिचार कर लिया है। व्यभिचार करना बड़ा पाप है जिसका प्रायश्चित करना आवश्यक है। इसलिये 'तेरी दाहिनी आँख यदि बुराई कराये, तो अच्छा है कि तू अपनी उस आँख को निकाल दे ताकि तू काना होकर स्वर्गिक राज्य में प्रवेश करे, न कि दोनों आँखों के साथ नरक में डाला जाय। यही बात तेरे दाहिने हाथ के विषय भी कही जा सकती है' (मत्ती ५ : २७-३०)।* फिर मसीह ने कहा कि पहले कहा गया था, अर्थात् मूसा-द्वारा प्रदत्त दस आज्ञाओं में कि तू हिंसा न करना, पर तुमसे मैं कहता हूँ कि तू अपने भाई के विरुद्ध क्रोध न करना और न यह कभी कहना 'अरे मूर्ख', क्योंकि ऐसा करने से तू नरक का अधिकारी होगा (मत्ती ५ : २१-२२)। पहले तौरेत में कहा गया था कि अपनी स्त्री को त्यागपत्र के साथ त्यागना चाहिये, पर ईसा ने कहा कि जो अपनी स्त्री को अकारण ही

---

* ठीक यही बात अश्वघोष के बुद्ध-चरित्र में अक्षरशः लिखी गयी है, जिसका समय पहली ईसवी कहा जाता है। परस्पर प्रभाव प्रतीत होता है।

त्यागता है तो वह उससे व्यभिचार करवाता है और जो ऐसी स्त्री से विवाह करता है वह उससे व्यभिचार करता है। अभी भी चर्च-सदस्यों को त्यागने की अनुमति नहीं दी जाती है, पर इस दिशा में ढिलाई देखी जा रही है।

फिर शपथ खाने के विषय में भी ईसा ने कहा है कि तू कभी शपथ न खाना, न स्वर्ग की (क्योंकि वह ईश्वर का वासस्थान है) और न पृथ्वी की (क्योंकि यह ईश्वर का पाद-स्थल है)। सभी बातें सरल रहनी चाहिये और साफ-साफ, चाहे 'हाँ', या 'नहीं' कहना चाहिये। इसी प्रकार बदला लेने के संदर्भ में ईसा ने कहा कि तू बदला न लेना। यदि कोई तुझे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे तो तू अपना दूसरा गाल भी उसकी ओर फेर दे कि वह तुझे दूसरे गाल पर भी थप्पड़ मारकर संतोष कर ले—(मत्ती ५ : ३८-३९)।

अन्त में अपने नीतिवचन में मसीह ने कहा कि यदि अपने मित्र ही को तुम प्यार करते हो तो यह एक स्वाभाविक बात है। पर तू अपने शत्रु को भी प्यार कर, क्योंकि ईश्वर भी धर्मी और अधर्मी, दोनों के लिये एक समान वर्षा, धूप, हवा इत्यादि की व्यवस्था करता है (मत्ती ५ : ४३-४८)। स्वयं मसीह ने अपने सताने वालों के लिये सबसे पहले क्रूशीय मौत के समय ईश्वर से प्रार्थना की, 'हे ईश्वर-पिता, तू इन्हें क्षमा कर क्योंकि अज्ञानवश वे यह सब कांड मेरे विरुद्ध रच रहे हैं'—(लूक २३ : ३४)।

ईसाई नीति-विचार में सभी मानवों के प्रति प्रेम-व्यवहार की बात कही गयी है। ईसा ने बताया कि यदि तू ईश्वर के लिये वेदी पर भेंट रखे और तुझे याद आये कि तेरे विरुद्ध तेरे भाई के मन में कुछ है तो वेदी की भेंट को छोड़कर तू सर्वप्रथम अपने भाई से मेल कर ले तब तू लौटकर भेंट अर्पित कर (मत्ती ५ : २१-२४)। फिर मसीह ने कहा कि सबसे बड़ी आज्ञा है :

> 'तू अपने ईश्वर को अपने संपूर्ण मन, हृदय तथा आत्मा से प्रेम कर और अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्रेम कर'—(मत्ती २२ : ३४-४०; मार्क १२ : २८; लूक १० : २५-२८)।

अतः, मानव-प्रेम ईसाई आचार का सार है और संत पॉल ने १ करिन्थ १३ में 'प्रेम' के विषय में जो बातें लिखी हैं वे विश्व की संपत्ति हैं।

संसार विरक्ति की भी शिक्षा नये नियम में देखी जाती है। स्वयं ईसा ने कहा 'अपने माता-पिता को छोड़कर मेरे पीछे हो ले।' फिर उसने कहा कि सबसे पहले स्वर्गिक राज्य की खोज करो तो अन्न-जल-बस्त्र इत्यादि सभी ईश्वर-पिता तुम्हें देगा। यद्यपि ईसा ने यह नहीं कहा कि परिश्रम करके धन न इकट्ठा करो, पर कहा कि धन-वान् को ईश्वर के राज्य में प्रवेश करना उतना ही कठिन है जितना एक सूई की नाके से ऊँट का पार निकलना (मार्क १०-२५), इसलिये उसने बताया कि संसार में धन इकट्ठा करना व्यर्थ है। धन के प्रलोभन से ईश्वर के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है।

संत पॉल ने भी बताया है कि शरीर से बुरी इच्छायें उत्पन्न होती हैं। इसलिये शारीरिक वासनाओं पर विजय प्राप्त करना चाहिये ताकि आध्यात्मिक जीवन संभव हो सके (गलातियों ५ : १६-२२)। यह विजय मसीह के द्वारा पवित्र आत्मा के दान से ही संभव हो सकती है।

परंतु संसार-विरक्ति का संदेश बहुत फैल नहीं पाया क्योंकि चर्च-व्यवस्था ऐसी बनायी गयी थी जिसमें सभी सूत्रबद्ध किये गये थे ताकि प्रत्येक चर्च और ईसाई संघ एक दूसरे की सुधि लें।

ईसाई धर्म में अशुभ-विचार

ईसाई धर्म एकेश्वरवादी है और वही संसार की समस्त प्रक्रियाओं एवं घटनाओं के लिये उत्तरदायी कहा जाता है। क्या ऐसा संभव है कि किसी राज्य में कोई दुर्घटना घटे जो ईश्वर का कार्य न हो ? (अमोस ३ : ६)। यशायह नवी की भी यही मान्यता है। इनका कहना है कि सुदूर असीरिया अथवा मिस्र की मधुमक्खियों की उड़ान भी इसी ईश्वर से नियंत्रित होती है(यशायह ७ : १८)। मसीह ने कहा कि एक गौरैया भी बिना ईश्वर की अनुमति से नहीं मर सकती है। अब यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और परम दयालु है तो विश्व में अशुभ क्यों ?

> यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो भी वह विश्व की बुराइयों को क्यों दूर नहीं करना चाहता ? तो क्या वह सत्य एवं शुभ संकल्पी नहीं; फिर यदि वह शुभ संकल्पी हो और बुराई को नहीं हटा सकता है, तो क्या वह सर्व-शक्तिमान नहीं ?

एकेश्वरवादी ईसाई के लिये इस उभयतोपाश (dilemna) से बच निकलना कठिन प्रतीत होता है। ईसाई धर्म में इस समस्या को विशेष स्थान दिया गया है। वास्तव में इस वाहन समस्या के समाधान कर लेने पर ईसाई विश्वास-वचन निखरित होता है।

अय्यूब को शारीरिक और सामाजिक कष्टों को अकारण झेलना पड़ा। उसके युग के यहूदियों की यही धारणा थी कि धर्मी को कष्ट नहीं हो सकता। पर अय्यूब के जीवन से स्पष्ट होता है कि धर्मी को भी दुःख झेलना पड़ता है। क्यों ? क्योंकि मानव ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का पूर्ण अनुभव कर उसकी शरण में जाय। अय्यूब की अनुभूति है :

> क्या मरणशील मानव ईश्वर की तुलना में अधिक धर्मी हो सकता है ?
> क्या मानव अपने सृष्टिकर्ता की तुलना में अधिक शुद्ध ठहर सकता है ?
>
> —(अय्यूब ४ : १७)।

भला इसका उत्तर कौन दे सकता है कि अमुक अधर्मी क्यों सुख से रहते हैं और अपेक्षाकृत धर्मी दुःख अधिक क्यों भोगते हैं ? प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने को जाँचे और ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास करके प्रत्येक दशा में अपने को

ईश्वर को अर्पित कर दे। अय्यूब को धन-जन सबका बल था। पर सब कुछ छिन जाने पर भी उसने कहा,

'ईश्वर ने दिया, ईश्वर ने ले लिया। उसकी स्तुति हो' (अय्यूब १ : २१)।

जो बात प्राकृतिक अशुभ के संबंध में कही जा सकती है वह मानव के पाप के विषय में सत्य नहीं कही जायगी। ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया है और उसे बुरे-भले, दोनों विकल्पों में से किसी एक विकल्प को अपनाने का इच्छा-स्वातंत्र्य दिया है। बिना इच्छा-स्वातंत्र्य तथा अच्छे-बुरे के ज्ञान के मानव को ईश्वरीय छवि नहीं कहा जा सकता है। पर इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ मानव को बुराई को भी चुनने की छूट ईश्वर को अनुमत करना है। अतः, बुरी बातों को सोचना-करना, झूठ बोलना, अकृतज्ञ होना, ईश्वर से विमुख रहना इत्यादि वे नैतिक बुराइयाँ हैं जिनके लिये स्वयं मानव उत्तरदायी कहा जायगा (एज़कियेल १८ : २०, ३०)। इस संदर्भ में ईसाई धर्म में मूल पाप (original sin) की धारणा भी स्वीकारी गयी है।

मौलिक अथवा आद्य पाप से अभिप्राय यह नहीं हो सकता है कि आदिपिता आदम-द्वारा पाप करने का फल समस्त मानव जाति को भोगना पड़ रहा है। बहुत पहले ही एज़कियेब ने स्पष्ट कर दिया जो व्यक्ति जैसा करेगा उसका वह फल पायेगा। अतः, 'आदि-पाप' की धारणा से अभिप्राय है कि मानव के अंदर पापवृत्ति इतनी गहरी और व्यापक है कि मानव स्वयं अपने ही प्रयास से अपने पापों को दूर कर पवित्रात्मा नहीं हो सकता है। फिर इस आदि-पाप की धारणा का तात्पर्य है कि मानव ने अपने पापाचरण के द्वारा समाज-देश तथा धर्म-व्यवस्था तक को भी इतना भ्रष्ट कर दिया है कि उसकी ईश्वर-छवि विकृत हो गयी है। इसी आदि-पाप के संदर्भ में ईसाइयों की अशुभ-समस्या का विचार आँका जा सकता है।

सर्वप्रथम दुःख-कष्ट को ताड़ना के रूप में लिया गया है ताकि मानव को स्मरण पड़े कि उसे ईश्वर की छवि के रूप में बनाया गया है। यह बात उड़ाऊ पुत्र के दृष्टान्त से स्पष्ट होती है। फिर दुःख से मानव का शिक्षण भी होता है (अय्यूब ५ : १७; इतिहास ३२:२७)। पुनः, नये नियम में भी बताया गया है कि जिस प्रकार बाप, बेटे को दंड देकर उसको अनुशासित बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर-पिता भी मनुष्यों को दंड-विधान के द्वारा अनुशासित करता है (इब्रानियों १२ : ९-११)।

द्वितीय, यहूदियों के बीच में प्रथा थी कि वे पशुओं की बलि ईश्वर को चढ़ाते थे ताकि बलि का पशु उनके पापों को ढो ले और उन्हें पापों से विमुक्त करे। फिर यहूदी लोग प्रायः अपनी जाति को पवित्र रखने और अपने एकेश्वरवाद में विश्वास को दृढ़ रखने के लिये अन्य जातियों के द्वारा तथा अपनी ही जाति के लोगों के द्वारा बलिदान-स्वरूप शहीद भी होते आये थे। अतः, यहूदी परंपरा को अपनाते हुए ईसाई लोग भी दुःख को ईश्वर के प्रति विमोचक (redemptive) तथा निवेदक (intercessory)

मानते थे। इस्रायलियों को ईश्वर के कोप से बचाने के लिये मूसा नबी ने ईश्वर से प्रार्थना की :

> 'हे परमेश्वर! इन इस्रायलियों को तू अपने कोप का भाजन न कर वरन् इन्हें बचा ले और इनके बदले मेरे ही नाम को अनंत जीवन प्राप्त करने वालों की तालिका से काट दे'—(गिनती ११ : १२)।

इस प्रकार के अशुभ को प्रतिनिधिमूलक (vicarious) और निवेदक (intercessory) कहते हैं। जिस प्रकार बलि का पशु पापवहन कर यजमान को उसके पापों से उसे मुक्त कर देता है, उसी प्रकार यशायह पैगम्बर ने बताया था कि 'मसीह' भी अपनी बलि देकर समस्त मानव-जाति को उनके आदि-पाप से उन्हें विमुक्त कर देगा (यशायह ५३ : ३-५)। क्यों मानव-जाति को ख्रीष्ट की बलि की आवश्यकता पड़ गयी ?

आदि पाप इतना गहरा और व्यापक है कि मानव अपने ही प्रयास से अपना उद्धार नहीं कर सकता है। इसकी कथा ईसाई मोक्ष-विचार में की जायेगी, पर यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा कि ईसाई के लिये दुःख वास्तव में अशुभ नहीं है।

१. अशुभ इसलिये है कि इसके द्वारा ईश्वर की महिमा प्रगट हो।

एक अन्धे को मसीह के पास लाया गया और उससे पूछा गया : यह जन्म से ही अन्धा क्यों पैदा हुआ ? क्या इसने पूर्व जन्म में या इसके पिता ने पाप किया था जिससे कि यह जन्मान्ध हुआ ? मसीह ने कहा कि यह इसलिये जन्मान्ध हुआ कि इसके द्वारा ईश्वर की महिमा प्रकट हो (योहन ९:३)। अशुभ मानव के लिये चुनौती है जिसे दूर करने के लिये मानव चरित्र और बुद्धि का विकास होता है।

२. अशुभ के द्वारा मानव का विशुद्धीकरण होता है, उदाहरणार्थ इब्राहिम पैगम्बर, यूसुफ और अय्यूब की जीवनी से यह सिद्ध होता है। कष्ट-भोग के द्वारा विश्वासियों का विश्वास दृढ़ होता है और तपाये हुए सोने के समान विमल हो जाता है।

३. यातनाओं के द्वारा मानव, जैसा मसीह के जीवन में देखा जाता है, पूर्णता की ओर प्रगति करता है (इब्रानियों ५:८)।

४. यातना सहना ईसाई के लिये सौभाग्य की बात है कि यीशु ख्रीष्ट और स्वर्गिक राज्य निमित्त वह दुःख भोगे (योहन १५:२०; मत्ती १०:२४; १ पितर २:२०-२१)। ईसा मसीह के नाम के कारण यातनाओं के भोगने पर विश्वासी ख्रीष्टीय क्रूश-मृत्यु का सहभागी होता और ख्रीष्टीय क्रूश-मृत्यु का सहभागी होता और ख्रीष्टीय परिवार का सदस्य बनता है (१ पितर ४:१३, १६)। मसीह ने कहा कि यदि कोई उसका अनुयायी बनना चाहता है तो अपनेपन (अहंभाव) को नकारे अपना क्रूश उठाये और तब उसके पीछे हो ले—(मत्ती १६:२४)।

इसलिये ईसाई धर्म में अशुभ की समस्या का समाधान धार्मिक रीति से ही किया गया है जिसे ईसाई-मुक्ति के स्वरूप में स्पष्ट दिखाया जा सकता है।

ईसाई धर्म में मानव की अंतिम गति

पहले ही कहा जा चुका है कि ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया, उसमें स्वतन्त्र इच्छा प्रदान की और अच्छे-बुरे का ज्ञान दिया। ईश्वर का उद्देश्य था कि मानव इच्छा-स्वातन्त्र्य के आधार पर बुराई को त्यागकर अच्छाई को चुने और अन्त में ईश्वर सायुज्य और सान्निध्य के योग्य होने के लिये पवित्र संकल्पी हो। मानव पवित्र संकल्पी तभी हो सकता है जब वह अपनी इच्छा को ईश्वर के अधीन कर दे और उसकी आज्ञाओं को पूर्णतया पालन करे, क्योंकि ईश्वर की सेवा सच्ची स्वतन्त्रता है (गलातियों ३:२१-२७; ५:१६-२६)। यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि हम लोगों ने आदि-पाप के सन्दर्भ में देखा है कि मानव हजारों वर्षों से पापाचरण करने के फलस्वरूप बहुत ही बिगड़ गया है। उसका देश और समाज, जैसा मसीह के युग में यहूदियों का था, इतना भ्रष्ट हो गया था कि यहूदी चाहते थे कि मूसाई नियमों का पालन करें, पर ऐसा करने में वे अपने को असमर्थ पाते थे। संत पॉल का कहना है :

> 'मैं चाहता हूँ कि जो उचित है वही करूँ, पर कर नहीं पाता। जो मैं नहीं चाहता और जिससे मैं घृणा भी करता हूँ, वही मैं करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि अच्छा काम करूँ, और कर नहीं पाता। जब मैं अनुचित नहीं करना चाहता हूँ तो मैं किसी प्रकार वही करता हूँ'—(रोमियो ७:१५, १९)।

पर मूसाई तौरेत और नियम तो बताये ही गये थे जिसके अनुसार उचित, अच्छा और सत्य बताया गया था, तो क्यों नहीं मानव उनका अनुसरण कर पवित्र और शुभ संकल्पी हो सकता है? संत पॉल का कहना है कि जितना ही अधिक व्यक्ति नियमों का पालन करना चाहता है, उतना ही अधिक वह उसका उल्लंघन करता है; और इस ज्ञान से उसे आत्मग्लानि होती है और वह अपने को पाप के दलदल में फँसा हुआ पाता है। तब मानव अपने पापों से कैसे छुटकारा पाये, किस प्रकार पापवृत्ति से मुक्त होकर ईश्वर की छवि को प्राप्त करे?

ईसाई धर्म के अनुसार, ईश्वर-मिलन यीशु मसीह के क्रूशीय बलिदान के रहस्य में विश्वास करने से मानव में पापमोचन की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिये सर्वप्रथम ईसा की क्रूशीय मृत्य के रहस्य को जानना होगा।

ईसा की क्रूशीय मृत्यु को मानव जाति द्वारा प्रायश्चित के रूप में पवित्र मनुष्य ईसा का आत्म-बलिदान समझा जाता है। यहूदी पशु को अपने पापों के प्रायश्चित में ईश्वर से क्षमा प्राप्त करने की आशा से बलि चढ़ाते थे। केवल पशु को निर्दोष रहना चाहिये था। इस रूप में यीशु ने अपने को उस पवित्र मेमना का निर्दोष रूप धारण किया जिससे वह अपना बलिदान समस्त जाति के पापों के प्रायश्चित के लिये करे। मसीह ने लोगों से

कहा, 'तुममें से कौन है जो मुझे पापी ठहरा सकता है ?' (योहन ८:४६) फिर मसीह ने कहा, 'मैं अपनी इच्छानुसार अपने प्राणों की आहुति कर रहा हूँ, क्योंकि मैं इसी निमित्त संसार में जन्मा' (योहन १०:१८)। इसलिये ईसा की क्रूशीय मौत पवित्र मेमने का वह आत्मबलिदान है जो समस्त मानव-जाति के पापमोचन निमित्त दिया गया है—(योहन १:२९)।

(क) इस मौत को स्वयं ईश्वर ने ही तैयार किया था कि इस क्रूशीय मौत को मानव-जाति अपने पापों के प्रायश्चित के रूप में स्वीकार करे।

> 'ईश्वर ने जगत् को ऐसा प्यार किया कि उसने अपने एकलौते पुत्र को बलि-दान के रूप में भेजा ताकि जो उस पर विश्वास करे, उसे अनन्त जीवन प्राप्त हो' —(योहन ३:१६ ।

(ख) इस क्रूशीय मृत्यु को प्रतिनिधिमूलक (Vicarious) कहा जाता है (यशायह ५३:४-६), क्योंकि वह सब मानव के लिये मरा और अब फिर किसी प्रकार की बलि की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं निष्पाप था। इसलिये वह अपने पापों के कारण नहीं मरा।

(ग यह ईश्वर-मिलन का मार्ग है जो समस्त मानव-जाति के लिए स्थिर किया गया है (रोमियो ३:२५; १ पितर २:२४)।

ईसा की मृत्यु से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि ईश्वर प्रेम है। मानव ने ईश्वरीय छवि को कितना ही अधिक धूमिल क्यों न कर दिया हो, अपनी पापवृत्ति के कारण ईश्वर से कितना ही दूर क्यों न हो गया हो। पर ईश्वर का क्षमाशील प्रेम मानव को क्षमा करने को तैयार है। ईसा की मृत्यु ने स्पष्ट कर दिया कि मानव का स्वार्थ उसे इतना अंधा कर देता है कि वह संत पुरुष की भी हत्या करने से नहीं हिचकता है।

(घ) ईसा की क्रूशीय मौत ईश्वर का अनुग्रह है क्योंकि अपने ही कर्म के आधार पर मानव अपनी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। कर्म से नहीं, ईश्वरीय प्रेम और उसके अनुग्रह पर विश्वास करने ही से क्षमा और पापमोचन हो सकता है।

> जब मानव अपने पापों में डूबा हुआ था तब ईश्वर ने आयोजन किया कि वह ईसा के आत्मबलिदान के द्वारा उद्धार का मार्ग खोल दे (रोमियों ५:६)।

पापमोचन ईश्वर का अनुग्रह है। ठीक यही बात रामानुज के दर्शन में देखी जाती है कि भक्ति के द्वारा ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त कर जीव मोक्षगति को प्राप्त करता है।

मुक्त जीवन जीवन-मुक्त के समान है। ईश्वरीय क्षमाशील प्रेम और उसके अनुग्रह पर भरोसा रखकर ही व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है। पर क्या वह पाप फिर नहीं करता ?

'दबाये जाते हैं, पर दब नहीं जाते; घबड़ा जाते हैं, पर आशा नहीं छोड़ते; गिर जाते हैं, पर पछाड़ नहीं खाते' (२ करिन्थियों ४:८-९) ।

प्रत्येक स्थिति में ईश्वर से प्रार्थना करते रहना पड़ता है कि ईसाई प्रलोभन में तथा परीक्षाओं में गिर न पड़े । अतः प्रार्थना के जीवन से ही ईसाई मन की शान्ति और शुद्धि प्राप्त कर सकता है । प्रत्येक प्रार्थना के आरम्भ और अंत में ईश्वर की दुहाई दी जाती है जैसा ईसा मसीह ने प्रार्थना करने को सिखाया है । प्रभु की प्रार्थना इस प्रकार है :

'हे हमारे स्वर्गिक पिता ! तेरा नाम पवित्र माना जाय । तेरा राज्य आये। तेरी इच्छा जैसे स्वर्ग में है, वैसी पृथ्वी पर भी हो । प्रतिदिन की रोटी आज हमें दे । जिस प्रकार हम अपने अपराधियों को क्षमा करते हैं, उसी प्रकार तू हमारे अपराधों को क्षमा कर । परीक्षा में न डाल, बुराइयों से बचा, क्योंकि राज्य, पराक्रम और महिमा सदा तेरी ही है' (मत्ती ५:९-१४) ।

ईसाई विश्वासियों के अनुसार, मसीह पर विश्वास रखने से उनमें नये जीवन का संचार होता है । सब मसीह में एक हो जाते और उनमें किसी भी जाति, वर्ण इत्यादि का भेद नहीं रहता (इफिसियों २:११-१८) । ईसाईपन इसी में है कि वह ईश्वर द्वारा अपना लिया गया है (२ थिसलोनियो १:१२) । ईसाई को बार-बार अपनी परीक्षा लेकर देखना पड़ता है कि उसका विश्वास अटल है कि नहीं (२ करिन्थियों १३:५) । संत पितर ने ईसाई जीवन की चार सीढ़ियाँ बतायी हैं (२ पितर १:१-७) ।

१. सर्वप्रथम, प्रत्येक ईसाई को ग्रहण कर लेना चाहिये कि यीशु ख्रीष्ट उसका ईश्वर और त्राणकर्त्ता है । ऐसा मान लेने पर मन में शान्ति और पापों के प्रति विमुखता आती है ।
२. विश्वास बिना कर्म के मुर्दा है (याकूब २:१७, २६) । इसलिये शुभ कार्यों में लग जाना चाहिये ।
३. तब धीरे धीरे ज्ञान होने लगेगा कि उसके लिए ईश्वर की क्या इच्छा और आदेश है ।
४. अन्त में, ईश्वरीय प्रेम में इतना बढ़ जाना चाहिये कि बिना भेदभाव के शत्रुओं तक से प्रेम करना स्वाभाविक हो जाना चाहिये ।

अमरता-विचार

स्वयं ईसा मसीह और आरम्भ काल के ईसाई धर्म के प्रचारक यहूदी थे और अमरता के सन्दर्भ में उनके विचार भी यहूदियों के विश्वास से अभिरंजित थे । यहूदियों का विश्वास था कि मृत्यूपरान्त मानव शियोल में रहता है जहाँ उसकी सम्पूर्ण शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं । पर उन्हें पुनरुत्थान (resurrection) में भी विश्वास था । वे विश्वास रखते थे कि न्याय-दिवस में ईश्वर सब मृतकों को फिर जिला देगा और तब

प्रत्येक व्यक्ति के अपने कर्म के अनुसार नरक (सज़ा) या स्वर्ग (जज़ा) प्राप्त होगा। यीशु मसीह भी पुनरुत्थान और न्याय-दिवस में विश्वास रखते थे। यही बात सन्त पॉल और पितर—योहन आदि भी मानते थे।

मसीह अपने प्रचार-काल में बार-बार न्यायदिवस की चर्चा करता था (मत्ती ५:२२; ७:१-२, २२; १०:१५; ११:२२,२४;१२:३६, ४१,४२; लूक ६:३७; १२:१२, १४; योहन ३:१९ इत्यादि)। फिर उसे स्वर्ग और नरक में भी विश्वास था। जब मसीह क्रूश पर लटका हुआ था, उसी समय उसने प्रायश्चित्त करने और मसीह में विश्वास करनेवाले डाकू को कहा, 'आज ही तू मेरे साथ स्वर्ग में होगा'। फिर लाज़रस के दृष्टान्त में मसीह ने स्वीकारा कि भिखमंगा लाज़रस स्वर्ग में गया और धनवान् व्यक्ति जिसके द्वार पर भिखमंगा लाज़रस रहता था, वह धनवान् नरक में डाला गया (लूक १६:१९-३१)।

अपितु, मसीह ने अपने विषय में बार-बार चेलों को बताया था कि मारे जाने पर वह तीसरे दिन मृतकों में से जी उठेगा (मत्ती १२:४०; २६:६०-६१; मार्क ८:३१; ९:३१; १०:३४; योहन २:१९)। फिर मसीह ने यह भी बताया कि स्वर्ग में विवाह नहीं होते। स्वर्गिक जीवन स्वर्गदूतों के समान पवित्रता का जीवन होता है (मत्ती २२:३०; लूक २०:३५-३६)।

अतः, ईसाई लोग भी न्यायदिवस और पुनरुत्थान को मानते हैं। चूँकि संत पॉल ईसाई धर्म के सबसे बड़े और विद्वान् प्रचारक थे और चूँकि उन्हीं के लेखों का सर्वप्रथम प्रचार हुआ, इसलिये ईसाई लोग भी संत पॉल के ही मत को स्वीकार करते हैं।

यहूदी शुद्ध आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखते थे। उनके लिये प्रत्येक व्यक्ति देहात्मा है। इसलिए ईसाइयों के लिये भी ईसा देहधारी रूप में ही स्वर्ग चले गये। अतः, न्यायदिवस के अवसर पर देह के साथ मानव की आत्माओं का पुनरुत्थान होगा, ऐसा मसीहियों का विश्वास है।

संत पॉल का मत अमरता के विषय में अनेक स्थलों पर प्रतिपादित किया गया है (प्रेरितों के काम १३:३३; १७:३१; २३:६; १ करिन्थ १५:३-८; २ करिन्थ ५:३-४)। फिर देह के साथ आत्मा का पुनरुत्थान होगा, ऐसी बात संत पॉल ने कई स्थलों पर स्पष्ट लिखी है (१ करिन्थ १५:५१-५४; २ करिन्थ ५:३-४)। इस सन्दर्भ में संत पॉल ने १ करिन्थ के अध्याय १५ में अपने मत का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। संत पॉल के अनुसार न्यायदिवस के अवसर पर तुरही फूँकी जायगी और क्षणभर में सभी मृतक अपनी देह के साथ जी उठेंगे। परन्तु पुनरुत्थान के समय जो देह प्राप्त होगी वह स्वर्गिक और अमर होगी और सांसारिक मरणशील देह की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और मज़बूत होगी। इसका क्या प्रमाण है कि पुनरुत्थान होगा और मृतक फिर जी उठेंगे ?

संत पॉल का कहना है कि मसीह मरे हुओं में से जी उठा है। क्योंकि वह उन्हें, मसीह के चेलों इत्यादि को स्पष्टतया दिखाई दिया है। अतः वह मृतकों में से जी उठा है और इसी प्रकार सभी मृतक भी पुनरुत्थान दिवस में फिर जी उठेंगे। संत पॉल के अनुसार, मृतकों में से फिर जी उठना मसीहियों के लिये उनका विश्वास-वचन है। यदि मृतक फिर से जी नहीं उठेंगे तो मसीही विश्वास मात्र भ्रम ही होगा (१ करिन्थ १५:१७)। पर संत पॉल का कहना है कि सच्ची बात यही है कि मसीह मृतकों में से जी उठा है और इसलिये मसीहियों का यह विश्वास व्यर्थ नहीं है (१ करिन्थ १५:२०)। मसीह ने स्वयं कहा था कि चेलो ! तुम न घबड़ाओ। ईश्वर-पिता के पास अनेक मकान हैं। मैं तुमसे पहले जा रहा हूँ कि तुम्हारे लिये मकान तैयार रखूँ। क्योंकि जहाँ मैं रहूँगा वहीं तुम भी रहोगे।

अतः, मसीहियों की पुनरुत्थान की आशा किसी युक्ति पर आधृत नहीं है, बल्कि यह उनका विश्वास-वचन मात्र है।

यहूदी और ईसाई धर्मों के बीच अन्तर

ईसाई धर्म का धर्म-गुरु यहूदी था, अर्थात् यीशु मसीह। फिर ईसाई धर्म के प्रचारक भी यहूदी ही थे। अतः, दोनों धर्मों में समानता का रहना स्वाभाविक ही है। पर ईसा मसीह ने अपने नैतिक विचार को मूसाई तौरेत की अपेक्षा अधिक संशोधित समझा था। यही बात ईश्वर-विचार के सन्दर्भ में कही जा सकती है। यहूदी धर्म में न्यायी ईश्वर करुणामय अवश्य है। पर वह मुख्यतः न्यायी है और गौण रूप से करुणामय है। अतः, यहूदी धर्म को मुख्यतः कर्मवादी धर्म कहा जा सकता है। इसकी अपेक्षा न्यायी ईश्वर का स्थान मसीहियों के लिये गौण है और करुणामय प्रेमी ईश्वर की भावना सर्वोपरि है। इसलिये ईसाई धर्म में ईश्वर में भक्ति और उसके अनुग्रह-दान की शिक्षा बहुत दृढ़ है।

संत पॉल बार-बार कहते आये हैं कि नियमों के पालन करने से नहीं, वरन् ईसा मसीह और उनकी क्रूशीय मौत को उद्धार के मार्ग के रूप में विश्वास करने से ही मानव का पापमोचन एवं मुक्ति मिल सकती है (रोमियों ३:२२-२६; १०:६-१३; गलातियों २:१६-२० इत्यादि)। अतः, कर्म पर नहीं, वरन् भक्ति व ईश्वर के अनुग्रह पर विश्वास तथा ईसा की उद्धारक क्रूशीय मौत पर विश्सास से ही मुक्ति मिलती है।

२. चूँकि ईश्वर प्रेमी है और प्रेम से विह्वल होकर ईश्वर मसीह में देहधारी हुआ ताकि वह अपनी क्रूशीय मौत से स्पष्ट कर दे कि ईश्वर विशुद्ध प्रेम है। परन्तु यहूदियों के लिये ईश्वर का अवतरण और देहधारी होना ईश्वर की निंदा करना है।

३. यही कारण है कि यहूदी न तो ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते, न उसकी मध्यस्थता (mediatorship) स्वीकार करते हैं। यहूदियों के अनुसार मानव और ईश्वर के बीच साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है।

यहूदियों की आपत्ति अभी स्वीकृत नहीं की जाती है क्योंकि बिना प्रतीक के ईश्वर की आराधना सम्भव नहीं, और ईसा को ईश्वर-पुत्र अथवा मध्यस्थ याजक इसलिये कहा जाता है कि वह प्रतीक है जो ईश्वर का भान कराता है ।

यहूदी इसलिये भी ईसा को नहीं स्वीकारते हैं क्योंकि उसने अपने को पैग़म्बर इब्राहिम और मूसा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बताया था । पर यहूदी पैग़म्बर इब्राहिम और विशेषकर मूसा को सबसे श्रेष्ठ समझते हैं ।

४. अतः, यहूदी त्र्येक परमेश्वर (trinity) और अवतार की धारणा को नहीं स्वीकारते हैं ।

५. चूँकि यहूदी ईसा को ईश्वर का पुत्र और मसीहा नहीं मानते हैं, इसलिये वे ईसा की क्रूशीय मौत को समस्त जाति के प्रायश्चित के रूप में प्रतिनिधिक (vicarious) उद्धार-मार्ग भी नहीं स्वीकारते हैं ।

६. यहूदी गृहस्थ जीवन को पवित्र मानते हैं, पर स्वयं ईसा संन्यासी रहे । अतः, ईसाई धर्म में संसार-विरक्ति की भी भावना पायी जाती है । स्वयं ईसा ने अपने चेलों को कहा कि अपने माँ-बाप को छोड़कर मेरे पीछे हो ले । इसके विपरीत, यहूदी पारिवारिक जीवन पर बहुत बल देते हैं ।

७. यहूदियों के लिये ईसा मसीह उनका मसीहा नहीं है, पर मसीहा अभी भी आने वाला है ।

८. चूँकि ईसाई समझते हैं कि मूसाई नियम अब गौण हो गया है और ईसा की क्रूशीय मौत में विश्वास को मोक्ष का आधार माना है, इसलिये यहूदी धर्म को छोड़कर ईसाई अपना धर्म-प्रचार करते हैं ।

●

अध्याय : ८

इस्लाम

विषय-परिचय

यहूदी और ईसाई धर्म के समान इस्लाम भी पैग़म्बरी धर्म है। इस्लाम, यहूदी और ईसाई दोनों धर्मों से निकला है, इसलिये दोनों धर्मों के तत्त्व इस्लाम में पाये जाते हैं। परन्तु इस्लाम धर्म की अपनी विशेषतायें हैं जिसके कारण यह विश्व का लोकप्रिय प्रचलित धर्म है। यहूदी और ईसाई, दोनों धर्मों में संन्यास के लिये स्थान है। यहूदियों के बीच इसीन (Essene) लोग थे और ईसाइयों में अभी भी संन्यास को ग्रहण योग्य समझा जाता है। इसके विपरीत इस्लाम में संन्यास को प्रश्रय नहीं दिया गया है। इस्लाम के अनुसार, गृहस्थ जीवन में रहकर, ईश्वर की आज्ञा पालन करता हुआ और अपने आपको ईश्वर की इच्छा पर पूर्णतया अर्पित कर, प्रत्येक मुसलमान स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है। अतः, इस्लाम के अनुसार, प्रत्येक मुसलमान ऐहिक (सांसारिक) और पारलौकिक, दोनों के सुखों को प्राप्त कर सकता है। इसलिये इस्लाम को संसार-पलायनवादी धर्म नहीं कहा जा सकता है।

'इस्लाम' से उस धर्म का अभिप्राय है जिसमें व्यक्ति अपने को ईश्वर की इच्छा पर अर्पित कर दे (Complete resignation to the sovereign will of God)। इस्लाम के स्वीकारने वाले को 'मुसलमान' संज्ञा दी जाती है। मुसलमान वह है जो ईश्वर के एकत्व (तौहीद) में अपने सारे हृदय और मन के साथ विश्वास (ईमान) रखता है और अपने मुँह से तथा कर्मों के द्वारा इस्लाम के विश्वास (creed) को व्यक्त करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है जो अपने मुँह से कहता है :

> 'अल्लाह को छोड़कर कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और मुहम्मद उसके पैग़म्बर (रसूल) हैं'।(लॉ इला-ह इल लल्ला, मुहम्मदन अबदुहु व रसुलुह)।

जो भी काम कोई मुसलमान करे, उसे उस काम को प्रारम्भ करने के पहले सच्चे दिल से कहना चाहिये। 'परम करुणामय एवं दयालु परमेश्वर के नाम पर (बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम)। इस उक्ति में गीता के निष्काम कर्म की स्पष्ट ध्वनि देखने में आती है।

'इस्लामी कर्म' का तात्पर्य है कि नमाज़ पढ़ना, ज़कात (अपनी कमाई का चालिसवाँ हिस्सा), रमज़ान का रोज़ा रखना और सामर्थ्य के अनुसार हज करना।

मुसलमान नीचे और ऊँचे, दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं, अर्थात् उस मुसलमान को निम्नकोटिक कहा जायगा जिसे इस्लाम के प्रति बौद्धिक रूप से दृढ़ विश्वास हो, पर जो वचन (लॉ इला-ह इल इल्ला इत्यादि) और कर्म (नमाज़, ज़कात इत्यादि) के द्वारा अपने विश्वास को व्यक्त न करे। ऊँचे वर्ग का वह मुसलमान है जो इस्लामी तत्त्वों को मन, वचन और कर्म से मानता है। इस्लाम के मात्र अध्ययन कर लेने ही पर कोई मुसल्मान नहीं कहा जा सकता है।

इस्लामी विश्वास-वचन

(१) ईश्वर, (२) स्वर्गदूत और आत्माओं, (३) पवित्र शास्त्रों, (४) नबियों, (५) पुनरुत्थान-दिवस और (६) ईश्वर द्वारा पूर्वनियति (predestination) में विश्वास को इस्लामी विश्वास-वचन (creed) कहा जा सकता है। इनकी व्याख्या निम्नलिखित रीति से की जा सकती है।

ईश्वर : एक अल्लाह (अल्ला तआला) को छोड़कर किसी अन्य आराध्य देवता को ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। इसे एकेश्वरवाद (monotheism) कहा जाता है। इस्लाम में शुद्ध एकेश्वरवाद यहूदी धर्म से लिया गया है और इस एकेश्वरवाद को यहूदी धर्म में ईश्वर-प्रदत्त आज्ञा में प्रथम स्थान दिया गया है। फिर ईसाई धर्म के अनुसार, सभी मानवजातियों में ईश्वर ने नबियों को भेजा है कि वे ईश्वर के एकत्व (तौहीद) को सभी को बतायें। ठीक इसी प्रकार सूरा (१०:४८) में बताया गया है कि ईश्वर ने सभी जातियों के बीच अपना नबी भेजा है कि वे सभी को ईश्वर के एकत्व का चेत करायें और उन्हें चेतावनी दें। फिर इस्लाम के अनुसार समस्त मानवजाति एक ही परिवार है, अर्थात् एक ही विश्व-कुटुम्ब है।

ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, एकत्व और शुभत्व पर बल दिया गया है। ईश्वर का एकत्व कोई दार्शनिक विवेचन नहीं, वरन् यह धार्मिक लगन और धुन का उद्‌गार है। ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का रचयिता और उसका स्वामी कहा गया है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व की कोई भी घटना बिना ईश्वर-ज्ञान और अनुमति के सम्भव नहीं हो सकती है। पीकौक के मत का अनुसरण करते हुए 'Glimpses of world Religions' में ईश्वर के गुणों का उल्लेख किया गया है जिसे संक्षेप में यहाँ वर्णित किया जा सकता है,

> ईश्वर तेरी स्तुति हो, जो सभी वस्तुओं का रचयिता और पालक है, जो ऐश्वर्यपूर्ण सिंहासन का स्वामी है, जो अपने सच्चे बन्दों को सही मार्ग पर चलाता है, जिसने अपने रसूल को चुना, उसको आशीष और शान्ति दी।
>
> वह ईश्वर एक है और अकेला है और उसका कोई साथी नहीं, कोई बराबर उसके नहीं और जो अनन्त है; उसका न कोई आदि है और जो शाश्वत और नित्य है।

जो अशरीरी है और जिसे न किसी द्रव्य और न किसी गुणों के द्वारा सीमित किया जा सकता है।

ईश्वर सभी सत्ताओं से ऊपर और अतीत है, तो भी सभी घटनाओं का द्रष्टा है और प्रत्येक जीव के उसके सभी अंगों की अपेक्षा निकटतम है। वह सभी सृष्ट जीवों से भिन्न और परे है तो भी परलोक में वह अपने सभी विश्वासियों को निस्सन्देह दिखाई देगा।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वह सदा जागता रहता है और जिसमें किसी भी प्रकार का ह्रास नहीं रहता है। अपनी इच्छा के अनुसार, उसी ने मानव की रचना की, उसका वह निर्वाह करता है और आयु को प्रदान करता है। अच्छी और बुरी सभी घटनाओं का संचालक है।'

इसी सन्दर्भ में ईश्वर के एकत्व के साथ ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता भी बतायी गयी है जिसके महत्त्व को पूर्वनियतिवाद के प्रसंग में दिखाया जायगा।

स्वर्गदूत तथा अन्य आत्मायें : यहूदी धर्म में भी स्वर्गदूत, शैतान, भूत-प्रेत के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। अतः, इस्लाम में भी स्वर्गदूतों के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। ये सूक्ष्मशरीरी बताये गये हैं और ज्योति से इनकी रचना ईश्वर ने की है। इनमें स्त्री-पुरुष का भेद नहीं रहता है और ये न खाते और न कुछ पीते हैं। ये स्वर्गिक जीव कहे जा सकते हैं। इनका मुख्य गुण है कि वे ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करें और उसकी नित्य स्तुति करें। चार मुख्य स्वर्गदूतों का उल्लेख किया जाता है, अर्थात् जबरैल जो प्रकाशना (revelation) के स्वर्गदूत हैं जिनके द्वारा ईश्वर का संदेश नबियों को प्राप्त होता है; माइकेल, अस्रायफिल जो पुनरुत्थान के दिन तुरही फूँकेंगे और अज्रायल जिन्हें यमदूत की भी संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि वे मानव देह से, मृत्युकाल में, आत्मा को अलग करते हैं। इसके अतिरिक्त मुनकर और नकीर, दो स्वर्गदूत हैं जो सभी मानवों के कर्मों का उल्लेख या तालिका रखते हैं।

स्वर्गदूतों के अतिरिक्त, यहूदी और ईसाई धर्मों के समान, शैतान (इबलीस) का भी अस्तित्व स्वीकारा गया है। परंपरा के अनुसार, शैतान भी प्रारंभ में एक बड़ा स्वर्गदूत था। पर जब ईश्वर ने उसे कहा, 'आदम को झुककर उसका आदर करो,' तो उसने ऐसा करने से इन्कार किया। इस आज्ञा की अवज्ञा करने के फलस्वरूप उसे शैतान के रूप में स्वर्ग से ढकेल कर पृथ्वी पर गिरा दिया गया।

स्वर्गदूतों के अतिरिक्त अच्छे और बुरे जिन के अस्तित्व को भी स्वीकारा गया है। इनकी रचना ईश्वर ने आग से की है।

ईश्वर-प्रेरित धर्मशास्त्र : ईश्वर सभी युगों में अपने विषय में नबियों को भेजकर सच्चे संदेश को देता रहा है। इस संदर्भ में स्वीकारा जाता है कि मूर्तिपूजा के विरुद्ध एकेश्वरवाद की सही शिक्षा नबी इब्राहिम के द्वारा मानवों को दी गयी। फिर नबी

मूसा के द्वारा तौरेत दिया गया; दाऊद नबी के द्वारा भजनसंहिता (ज़बूर) तथा पैग़म्बर ईसा के द्वारा इंजील दी गयी है। पर यहूदियों ने ईश्वर के दिये धर्मशास्त्र को विकृत कर दिया और ईसाइयों ने ईसा मसीह को 'ईश्वर का पुत्र' बनाकर ईश्वर के स्वरूप को ही बिगाड़ दिया है। ईश्वर न शरीरी है और न उसकी शरीरी संतान हो सकती है। इसलिये ईश्वर के संदर्भ में इब्राहिम नबी के द्वारा शुद्ध एकेश्वरवाद की शिक्षा पैग़म्बर मुहम्मद के द्वारा अंतिम रूप से दी गयी है। ईश्वर की प्रकाशना शुद्ध रूप से क़ुरान में दी गयी है।

कुछ मूलवादी (fundamentalist) ईसाई अब भी समझते हैं कि बाइबिल की असली प्रति स्वर्ग में सुरक्षित है जिसकी प्रतिलिपि संसार में पायी जाती है। संभवतः, इसमें प्लेटोवाद के प्रत्ययवाद की छाया हो। पर इस्लाम में अनेक लोगों का विश्वास है कि असली क़ुरान स्वर्ग में रखी हुई है जिसकी प्रतिलिपि इस संसार में पैग़म्बर मुहम्मद के द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसका कारण है कि अरबी भाषा में क़ुरान के पूर्व का कोई साहित्य नहीं देखा गया है, और अरबी में क़ुरान ही सर्वप्रथम ऐसी पुस्तक है जिसकी अरबी भाषा अनुपम और अपूर्व है। अरबी भाषा का साहित्य इस क़ुरान से उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार वाल्मीकि रचित रामायण से संस्कृत साहित्य की सृष्टि हुई। द्वितीय, स्वयं पैग़म्बर पढ़े-लिखे नहीं थे। इसलिये क़ुरान ऐसी पुस्तक को उनकी रचना नहीं बतायी जा सकती है। अतः, इस पवित्र क़ुरान को ईश्वर-प्रदत्त समझा जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर की प्रकाशना कैसे पैग़म्बर मुहम्मद को प्राप्त हुई। यह प्रकाशना या बोधि (इल्हाम, illumination) तथा साक्षात अनुभव के द्वारा प्राप्त हुई और प्रायः अदृश्य वस्तुओं का इन्हें ज्ञान हुआ। इन्हें स्वप्न में भी प्रकाशना प्राप्त हुई, पर ऐसा प्रतीत हुआ कि एक शुभ प्रभात हुआ है। प्रायः समाधि (trance) में प्रकाशना हुई, कभी आवाज़ स्पष्ट सुनी गयी, फिर ऐसे व्यक्ति का भी साक्षात्कार हुआ (जिसे जिब्रैल कहा जा सकता है) जिसने इन्हें ईश्वर-प्रदत्त प्रकाशना बतायी। पैग़म्बरों को दी गयी प्रकाशना को सर्वव्यापक स्वीकार्य समझा जाता है। इल्हाम (बोधि) व्यक्तिगत रूप से अमुक एवं विशिष्ट देश-काल और स्थितियों में सतों को प्राप्त होता रहता है। सभी धर्मों में बात कही गयी है कि स्वप्नों में ईश्वरीय प्रकाशना देखी जाती है।

जिस प्रकार वेद और बाइबिल को शाश्वत् और नित्य समझा जाता है, उसी प्रकार पाक क़ुरान की असली प्रति स्वर्ग में नित्य रूप में मानी जाती है।

पवित्र क़ुरान में ११४ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में छोटी-छोटी इकाइयाँ हैं जिन्हें आयत (पद, verses) कहते हैं। नवें अध्याय को छोड़कर सभी अध्याय का प्रारंभ बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम (करुणामय दयालु परमेश्वर के नाम में) से होता है।

इस पुस्तक को उच्चकोटिक साहित्य गिना जाता है। वास्तव में यही पवित्र क़ुरान मुसलमानों की पुनीत निधि है। इसकी प्रकाशना इसीलिये की गयी है कि मानव बुद्धि बिना ईश्वर की सहायता से ईश्वर के विषय में शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। यही बात ईश्वर-प्रमाण के संदर्भ में नैयायिकों ने 'पदात्' के अंतर्गत व्यक्त की है।

पवित्र क़ुरान किसी एक समय में ईश्वर-प्रेरित नहीं हुई। इसलिये ईश्वरीय प्रकाशना तितर-बितर लिखी हुई थी। इसलिये ओमर खलीफा ने इसे व्यवस्थित करवाना प्रारंभ किया। परंतु इसकी पूर्ण व्यवस्था उनके उत्तराधिकारी उस्मान खलीफा (सन् ६४४-५६) के समय में अधिकृत रूप से की गयी जो आज भी उसी रूप में पायी जाती है।

पवित्र क़ुरान एकमात्र ईश्वर-प्रेरित समझा जाता है, पर इससे सभी स्थलों पर मुसलमानों के लिये आदेश नहीं मिलता है। इसलिये इस कमी को पूरा करने के लिये **सुन्नाह** की मदद ली जाती है। सुन्नाह को हदीस भी कहते हैं। इसमें पैग़म्बर मुहम्मद की कथनी, करनी, उनकी आदतों तथा उनके संदर्भ की किंवदन्तियाँ पायी जाती हैं। इसे परंपरा का विज्ञान भी कहा जा सकता है जिसमें उत्प्रेरणामूलक कथानक तथा अनेक बात-विचार भी पाये जाते हैं। परंपरा को ठोस सत्य, स्वीकार्य तथा क्षीण, तीन रूपों में बाँटा गया है। जिस परंपरा को अनेक शृंखलाओं से पुष्ट समझा जाय उसे सबसे प्रामाणिक समझा जायगा। जिसमें केवल एक ही शृंखला के द्वारा पुष्टि हो उसे स्वीकार्य समझा जायगा। जहाँ शृंखला का तारतम्य टूट जाय उसे क्षीण माना जायगा। हदीस कार्यक्षेत्र के लिये लाभप्रद समझा गया है, पर इसे व्यापक ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं कहा गया है।

हदीस के बाद इज्मा को भी इस्लामी ज्ञान का श्रोत माना गया है। इसमें अंतर्जातीय देशों के लब्धप्रतिष्ठित विचारकों की मतैक्यता पर बल दिया गया है। अंत में क़ियास को जो एक प्रकार का साम्यानुमान है, स्थान दिया जाता है। कुछ ऐसे सिद्धान्त अथवा व्यवहार हैं जिसके संदर्भ में कुछ संदेह हो सकता है। ऐसे स्थलों पर इस्लामी धर्मदर्शन के विद्वानों के मत का संग्रह रहता है।

नबी या पैग़म्बर : सेमिटिक लोगों में ऐसे व्यक्ति होते थे जो भविष्य के विषय में पूर्वकथन करते थे, देवताओं की इच्छा को प्रगट करते थे तथा रहस्यपूर्ण उक्तियाँ भी किया करते थे। अंतिम रूप में इस्रायलियों के बीच ऐसे लोगों को 'नबी' कहते थे जिनका मुख्य उद्देश्य था कि एकेश्वरवाद और सामाजिक न्याय का प्रचार करें। इन नबियों में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते थे। उनमें संवेगमय उद्गार, कविता, ईश्वर तथा नैतिक समस्याओं में तल्लीनता पायी जाती थी। साथ ही साथ ईश्वर की इच्छा को लोगों पर प्रगट करने के लिये उनमें अंतर्बाध्यता भी देखी जाती थी। प्रश्न होता है कि ईश्वर क्यों नबियों को भेजता है ?

पहले ही कहा जा चुका है कि इस्लाम के अनुसार ईश्वर प्रत्येक काल और जाति में

अपने पैग़म्बरों को भेजता रहता है कि वे मानव को एकेश्वरवाद की शिक्षा दें और ऐसा न मानने अर्थात् मूर्तिपूजा से विमुख न होने पर उन्हें नरक इत्यादि का भय बतायें तथा अन्य चेतावनियाँ दें। लगभग २८ नबियों की चर्चा क़ुरान में की गयी है जिनके नाम बाइबिल के पुराने और नये नियमों में भी पाये जाते हैं। इनमें छः ऐसे नबी हैं जिन्होंने धर्म, विधि और समाज के विषय में विशेष ज्ञान दिया है। इसके अंतर्गत आदम, नूह, इब्राहिम, मूसा, ईसा और मुहम्मद पैग़म्बर ही नहीं, वरन् **प्रेरित** माने जाते हैं। पैग़म्बर मुहम्मद अंतिम नबी हैं जिन्होंने ईश्वर-विषयक शिक्षा को अंतिम रूप से बताया है।

मूसा और ईसा, दोनों के विषय में कहा गया है कि वे अपने नेत्रों के लिये न्याय-दिवस के अवसर पर उनके पापों की क्षमा के लिये ईश्वर से सिफ़ारिश करेंगे। यही बात पैग़म्बर मुहम्मद के विषय में मानी जाती है कि वे अपने अनुयायी मुसलमानों के लिये उनके पापों की क्षमा के लिये मध्यस्थता करेंगे।

न्यायदिवस (The Day of Judgment)

क़ुरान में बार-बार न्यायदिवस की चर्चा की गयी है, जिस दिन सभी लोगों को उनके किये अनुसार जज़ा-सज़ा होगी। ईश्वर के सिंहासन के सामने सभी लोगों का न्याय होगा। ईमानदारों को स्वर्ग प्राप्त होगा जहाँ उनकी सारी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। जिनके काम बुरे होंगे और जिन्हें अल्लाह और उसके पैग़म्बर पर विश्वास न होगा, उन्हें नरक की यातनायें सदा काल लों मिलती रहेंगी।

न्याय-दिवस के दिन तुरही फूँकी जायगी और सभी मुर्दे जी उठेंगे। इसलिये यहूदी और ईसाई धर्मों के समान, इस्लाम में भी पुनरुत्थान (resurrection) की बात कही गयी है। अतः, शुद्ध आत्मा याने बिना देह की आत्मा में विश्वास नहीं किया गया है, बरन् सदेही आत्मा की ही कल्पना की गयी है। इस संदर्भ में याद रखना चाहिये कि अधिकतर भारतीय धर्मग्रन्थ एवं दर्शन में शुद्ध आत्मा की बात कही गयी है, विशेषकर यह मत जैन और सांख्य के साथ रामानुज का भी है। पर इस्लाम में भी ईश्वर को अशरीरी ही कहा गया है, जैसा सेश्वरवादी भारतीय धर्मदर्शन में भी स्वीकारा गया है।

यह ठीक है कि क़ुरान में हूरों की चर्चा की गयी है, पर भारतीय कल्पना में भी देवियों तथा अप्सराओं को 'षोडशी बाला' कहा गया है।

यह स्पष्ट नहीं है कि इस्लाम में स्वर्ग-नरक मृत्यु-पश्चात् ही, न्याय-दिवस के पूर्व, तुरत मिलेगा, या न्याय-दिवस के बाद ही। यदि न्याय-दिवस के बाद ही स्वर्ग-नरक मिलेगा, तो ऐसी दशा में यह स्वीकारा जाता है कि मरने के बाद आत्मा ईश्वर के पास लौट आती है और तब फिर ये आत्मायें केवल पुनरुत्थान के समय देहधारी होंगी। सामान्यतः, ईसाई लोगों के समान मुसलमान भी न्याय-दिवस और पुनरुत्थान में विश्वास रखते हैं।

पूर्व-नियति (तक़दीर, Predestination)

ईश्वर सर्वशक्तिमान है और बिना उसकी अनुमति के कोई पत्ता तक भी नहीं हिलता है। अच्छी या बुरी, सभी घटनायें ईश्वर द्वारा नियन्त्रित होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म और उसकी मृत्यु का दिन भी अनादिकाल से निश्चित किया हुआ है। यहाँ तक कि उसे स्वर्ग या नरक मिलेगा, यह भी पूर्वनिश्चित किया हुआ है। तब क्या मानव स्वर्ग-प्राप्ति का प्रयास छोड़ दे, क्योंकि उसकी अन्तिम गति पूर्वनिर्धारित है ? नहीं। पुरुषार्थ तथा पुरुषकार का स्थान भी है। पूर्वनियति का विचार कैल्विन तथा संत पॉल के मत में भी देखा जाता है। यह बात गीता और कठ २:२३; मुंडक ३:२,३ में भी देखी जाती है। पर इस पूर्वनियति को विश्वासियों का ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण हेतु उद्‌गार मात्र समझना चाहिये। इस्लाम के अनुसार भी, ईमान लाना या न लाना मानव की स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करता है। पैग़म्बर ने बताया है कि विश्वासियों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने ईमान, कर्म इत्यादि में लगे रहे हैं और वे जो ईश्वर से प्रार्थना में माँगते हैं, उन माँगों की इच्छा करते रहें। अतः, पूर्वनियति को ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास, भरोसा और आत्मसमर्पण का आधार समझना चाहिये। हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि मुसलमान वही है जो अपने को पूर्णतया ईश्वर की इच्छा पर आत्मसमर्पित कर देता है। यही बात तो भारतीय धर्मदर्शन के भक्ति-प्रपत्ति-सिद्धान्त में अंतर्निहित है।

इस्लाम का कर्मकाण्ड

केवल क़ुरान-हदीस के कोरे ज्ञान प्राप्त करने से कोई अपने को मुसलमान नहीं कह सकता है, पर जो अपने मन और हृदय से इस्लाम में ईमान रखे, वचनों के द्वारा उसको अंगीकार करे और इस्लाम में बताये गये कर्मों का अनुसरण करे, वही वास्तव में मुसलमान होगा। अतः, इस ईमान और कर्मकांड में पाँच बातों का उल्लेख किया गया है, अर्थात् जो अपने पूरे मन और हृदय से विश्वास करे और स्पष्ट वचन से कहे लॉं इला-ह इल ल्लला, मुहम्मदन अबदुहु व रसुलुह (अर्थात् अल्लाह को छोड़ अन्य कोई ईश्वर नहीं और मुहम्मद ही उसके रसूल या पैग़म्बर हैं)। फिर दिन में पाँच बार नमाज पढ़े, जकात-सदकात दे, रमज़ानभर रोज़ा रखे और धन-सामर्थ्य रहने पर हज करे। सम्पूर्ण कर्मकांड में अंतर्निहित लक्ष्य है कि मानव अपने सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रति तथा सृष्ट समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन कर ऐहिक और पारलौकिक, दोनों के दायित्व को पूरा कर दोनों लोकों के सुख का भोग करे। इसलिये इस जीवन के सभी सुखों का उपभोग कर मानव अपने को ईश्वर को अर्पितकर ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्तकर, स्वर्ग प्राप्त कर सकता है। अतः, सामाजिक कर्तव्यों से विमुख होकर संन्यास लेने की बात इस्लामी

जीवन के लिये श्रेयस्कर नहीं कही गयी है। इस भूमिका को ध्यान में रखकर कर्मकांड के अंतर्गत भिन्न-भिन्न इकाइयों की संक्षिप्त व्याख्या की जायगी।

नमाज़ : नमाज़ का मुख्य उद्देश्य है कि नमाज़ी को दिनभर और प्रतिदिन धर्म और न्याय के मार्ग पर चलने के लिये बल मिले और बुरे (निषिद्ध) काम करने से बचे और अनुबाध्य (obligatory) कर्तव्यों को निभाने में उसे उत्प्रेरणा मिले। नमाज़-पढ़ने से प्रत्येक मुसलमान के जीवन में ईश्वर की महानता और उसकी उपस्थिति उसके जीवन का भाग हो जाता है। नमाज़ में पूरी तन्मयता के साथ एकाग्रभाव से ईश्वर के शरणागत रहकर नमाजी ईश्वर के सामने सिर झुकाता है। नमाज़ की स्थिति में नमाज़ी दुनियावी बातों को भुलाकर ईश्वर की महानता पर ध्यानता है।

चूँकि ईश्वर पवित्र महान है, इसलिये नमाज़ी को अपने शरीर और मन को भी पवित्र रखना पड़ता है। उसे अपने हाथ-पैर, मुँह, सिर और कान को शुद्ध जल से धोना चाहिये जिसे 'वुज़ु' कहते हैं। वस्त्र को भी साफ़ रखना चाहिये। तब ईश्वर का स्मरण कर, ईश्वर-संगोष्ठी के लिये तैयार हो जाना चाहिये और अपने ध्यान को ईश्वर पर रखकर ईश्वर की आज्ञा और प्रार्थना के उत्तर को हृदय से ग्रहण करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

नमाज़ी ईश्वर के सामने खड़ा होता है उसी प्रकार जिस प्रकार उसे न्यायदिवस के दिन खड़ा होना होगा। चूँकि इन्सान कमजोर होता है, इसलिये ईश्वर को परम करुणा-मय और दयालु समझकर नमाज़ी ईश्वर के सामने खड़ा होता है और वह अपना पाठ 'बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम के साथ प्रारम्भ करता है। फिर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और अपने को उस दयालु ईश्वर को अर्पित कर अल्लाहो अकबर (ईश्वर महान है) उच्चारित करता है।

चूँकि मुसलमान को ईश्वर को अपने जीवन का अंग बनाना होता है, इसलिये वह प्रातःकाल, दिन और रात में पाँच बार नमाज़ पढ़ता है, अर्थात् सूर्योदय के पूर्व, दोपहर, अपराह्न, संध्या और रात होने के पहले (अथवा दिन की समाप्ति के बाद) पाँच नमाज़ पढ़नी पड़ती है। प्रत्येक नमाज़ के अपने-अपने आसन (रुकूअ) हैं और इन आसनों का अपना-अपना अभिप्राय होता है। इन आसनों को योगासन के समान समझा गया है।

वर्ष में दो बार सामूहिक नमाज की व्यवस्था की गयी है, अर्थात् ईद अल-फित्र और ईद अल-अज़ा (जिसे बकरीद भी कहा जाता है) के अवसर पर। सभी लोगों को एक साथ नमाज़ पढ़ने पर ग़रीब-अमीर, ऊँच-नीच इत्यादि का भेद-भाव नहीं रहता है और प्रत्येक नमाज़ मक्का की ओर मुँह फेरकर पढ़ना होता है। इसलिये मुसलमानों में समता और समानता का भाव बराबर बना रहता है। यह सर्वव्यापक भाई-चारे का भाव हज-प्रथा में भी अन्तर्निहित है।

नमाज़ के महत्व को निम्नलिखित रूप में बताया गया है। जो व्यक्ति ठीक-ठीक समय पर पाँचों नमाज़ पढ़ेगा, उसे ईश्वर जन्नत (स्वर्गिक-वास) देगा, क्योंकि स्वर्ग-प्राप्ति की कुंजी नमाज़ है। नमाज़ पढ़ने पर पापों का प्रक्षालन होता है। पुनरुत्थान होने पर न्यायदिवस के समय पुण्यकर्मों के रहने पर भी, नमाज़ नहीं पढ़नेवालों को पाप-क्षमा नहीं मिल सकती है और उनकी संभवतः सुनवाई भी न हो। धर्म का आधार नमाज़ है और नमाज़ न पढ़े जाने से धर्म का ह्रास हो जाता है। प्रत्येक जुम्मा (शुक्रवार) की नमाज़ में भी लोगों को सम्मिलित रहना चाहिये।

डॉ० इक़बाल ने बताया है कि नमाज़ के द्वारा मानव का संकीर्ण जीवन अपरिमित ईश्वर के संपर्क में आकर नयी बोधि प्राप्त करता है जिससे उसकी संकीर्णता दूर होती, और उसको अपनी गहराई का अनुभव होता है। दूसरे शब्दों में, जीवन की व्यस्तता से हटकर और उसकी यांत्रिकता से अवकाश प्राप्त कर व्यक्ति नमाज़ पढ़ता है और नमाज़ पढ़ने पर व्यक्ति में नूतन सर्जनात्मक शक्ति का संचार होता है।

फिर डॉ० इक़बाल के अनुसार नमाज़ का उद्देश्य सामाजिक ही होता है। सामूहिक प्रार्थना करने में सामूहिक चेतना का विकास होता है और सामूहिक चेतना के प्रादुर्भाव रहने पर व्यक्ति की अपनी शक्तियाँ बढ़ जाती हैं। इसलिये आध्यात्मिक विकास के लिए सामूहिक नमाज महत्वपूर्ण माना जायगा।

पुनः, जैसा कहा जा चुका है कि नमाज़ करने की स्थिति में सभी नमाज़ी एक-बराबर हो जाते हैं जिससे उनके बीच भ्रातृसंघ की भावना उत्पन्न होती है।

रमज़ान और रोज़ा : उपवास रखना सभी धर्मों में बताया गया है क्योंकि इसके द्वारा शरीर, वासना तथा मन पर नियंत्रण होता है। इस्लाम में भी बताया गया है कि उपवास रखने से पाप कटता है और मन विमल होता है। वर्ष के नवें माह को उपवास-माह कहा जाता है और इसे रमज़ान कहते हैं। किरण फूटने के पूर्व से लेकर सूर्यास्त होने के बीच जल, अन्न, धूम्रपान तथा शारीरिक कामवासना से उपवासी को वंचित रहने का आदेश रहता है। बच्चे, गर्भवती औरतें, बीमार, बूढ़े इत्यादि को छोड़कर अन्य सभी मुसलमानों के लिये रोज़ा (उपवास) रखना आवश्यक कहा गया है।

> रमज़ान के काल में स्वर्ग-द्वार खुल जाता, नरक-द्वार बन्द हो जाते तथा शैतानी शक्तियों को बन्द कर दिया जाता है।

उपवास रखना उपासना का मुख्य द्वारा समझा जाता है। रोज़ा रखनेवालों को दो आनन्द अवश्य मिलता है : एक तो रोज़ा खोलते समय जल-अन्न प्राप्त कर लेने पर परम सुख और दूसरे ईश्वर-मिलन का आनन्द। भोजन तथा इन्द्रियभोग से विमुख होकर आत्मसंयम प्राप्त होता है, वासनाओं पर विजय और चित्त की विमलता सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति मनसा, वाचा तथा सम्पूर्ण हृदय से शुद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति

पूरे एक माह अपने को अपने वश में कर लेता है, उससे आशा की जाती है, वह शेष पूरे वर्ष इसी प्रकार अपने को अनुशासित कर संयमी बना रहेगा। नमाज़ पाँचों बार पढ़ने के अतिरिक्त रोज़ा रखनेवालों को दरिद्रों की भी सुधि लेनी पड़ती है और उन्हें सदक़ात (दान) देना पड़ता है।

रमज़ान का महीना याद दिलाता है कि ईमान रखने के लिये त्याग की आवश्यकता पड़ती है, अपनी इच्छाओं को मारना पड़ता है, क्योंकि सच्चे मुसलमान को अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, वरन् ईश्वर की इच्छा पर अपनी इच्छा को अर्पित करना होता है। अपने को ईश्वर को पूर्णतया अर्पित करने के लिये रमज़ान का रोज़ा रखना एक मुख्य साधन है।

ज़कह (ज़कात) : पहले ही कहा जा चुका है कि इस्लाम ईश्वर और समाज, दोनों की सेवा करना सिखाता है। नमाज़ पढ़ने में मानव अपने ऊपर ईश्वर के अधिकार को स्वीकार करता है। पर ज़कात देने में वह अपने ऊपर ग़रीबों के अधिकार को स्वीकार करता है। ज़कात करना उतना ही आवश्यक है जितना नमाज़ पढ़ना। ज़कात को दरिद्र-सेवा-टैक्स कहा जा सकता है। जितना ज़कात देना धनी का कर्तव्य है, उतना ही दरिद्र का अधिकार होता है कि वह धनी से ज़कात ले।

मूसाई नियम के अनुसार प्रत्येक यहूदी को अपने धन का १० प्रतिशत ईश्वर को अर्पित करने का आदेश था, और अभी भी कुछ ईसाई मंडलियों के सदस्यों को दहेकी देने की परम्परा है। इसलिये ज़कात देने की प्रथा यहूदी धर्म से ही प्राप्त हुई थी, पर इसे एक सामाजिक परम्परा बनाने की बात इस्लाम की अपनी देन है। चूँकि अरब के लोग अधिकतर चरवाहे और गड़ेरिये थे, इसलिये प्रारम्भ में ज़कह उगाहने का हिसाब भी ऊँट, भेंड़ इत्यादि के रूप में था। प्रायः २$\frac{1}{2}$–५ प्रविशत ज़कह समझा जाता है।

इसके अतिरिक्त, विशेषकर रमज़ान के दिनों में सदक़ात भी देना पुण्य समझा जाता है। अतः, ज़कात अनुबाध्य तथा सदक़ात ऐच्छिक दान समझा जा सकता है।

हज : प्रायः यहूदी लोग यरुशलेम की ओर मुँह करके प्रार्थना किया करते थे और यही बात पैग़म्बर के साथ भी थी। पर जब पैग़म्बर ने ईसा को भी नबी मानना शुरू कर दिया, तब यहूदियों ने इनका विरोध किया। उस समय से क़ाबा की ओर मुँह फेर-कर प्रार्थना करने की प्रथा बन गयी। क़ाबा-दर्शन की प्रथा का मुख्य कारण है कि पैग़म्बर मुहम्मद के अनुसार, शुद्ध एकेश्वरवाद का संदेश सर्वप्रथम नबी इब्राहिम ही को दिया गया था जिसे यहूदी और ईसाई, दोनों धर्मों ने अशुद्ध रूप में विकृत कर दिया है। अतः, इब्राहिम पैग़म्बर के शुद्ध एकेश्वरवाद को पुनर्जीवित करने के लिये क़ाबा को प्रधानता दी। अब हज की प्रथा इसी नबी इब्राहिम के स्मरण में मनायी जाती है। नबी इब्राहिम अपने माँ-बाप को छोड़कर शुद्ध एकेश्वरवादी रहे और आजीवन संपूर्ण परिवार

के साथ ईश्वर पर अपने को अर्पित कर विश्वासी बने रहे, यहाँ तक कि वे ईश्वर की आज्ञा-पालन करने के लिए अपने एकलौते पुत्र इजहाक को भी बलि चढ़ाने के लिये तैयार हो गये थे। अतः, इसी पैग़म्वर इब्राहिम के प्रति सर्वस्व त्याग के साथ विश्वास और निष्ठा के संस्मरण हेतु हज की प्रथा चली आ रही है।

जीवन में एक बार भी हज करना सभी के लिये बाध्य नहीं समझा गया है। पर यदि व्यक्ति सभी ऋणों से मुक्त हो, धन की दृष्टि से समर्थ हो और बूढ़ा हो गया हो, तब स्वस्थ रहने पर उसे एक बार हज कर लेना चाहिये। हज करने के पूर्व, पापों को स्वीकार कर उनकी क्षमा उसे ईश्वर से माँगनी चाहिये। नमाज़ पढ़कर और बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम उच्चारण कर उसे यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये। हज करने की अनेक प्रक्रियायें बतायी गयी हैं, पर क़ाबा के चारों ओर सात बार घूमना आवश्यक कार्यक्रम बताया गया है।

हज करते समय सभी बुरी आदतों से हाजी को अपने को मुक्त करना पड़ता है। हाजी को अपना शृंगार करना, विषय-वासना में लिप्त होना, विवाह की बात सोचना इत्यादि निषिद्ध है। वस्त्र पहनने का भी अपना विधान है।

हज के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के समस्त मुसलमान जातियों का सम्मेलन होता है जिसके द्वारा रंगभेद, अमीर-ग़रीब इत्यादि सभी भेदों से ऊपर उठकर विश्व-सौहार्द्र के सिद्धान्त का पालन किया जाता है। शुद्ध इस्लाम में जाति अथवा वर्णभेद नहीं स्वीकारा जाता है। यहूदियों के समान मुसलमानों में भी धर्म को ही राष्ट्रीयता का आधार माना जाता है। अब इसी बात को सिख भी मानने लगे हैं।

जेहाद : शायद जेहाद को अब वह सर्वमान्य इस्लामी कर्मकाण्ड नहीं माना जायगा, जैसा इस्लाम के प्रचार-प्रसार के काल में इसे स्वीकारा गया था। पर अविश्वासियों के द्वारा धर्मसंकट पड़ने पर तथा अपनी रक्षा हेतु जेहाद (अर्थात् धर्मयुद्ध) को भी स्वीकारा गया है।

इस्लाम में मानव-विचार

डॉ० इक़बाल ने मानव को सर्जनात्मक स्वतंत्र जीव माना है और इसी रूप में उन्होंने कुरान की विभिन्न उक्तियों का उल्लेख किया है। डॉ० इकबाल के अनुसार ईश्वर स्वयं अपरिमित क्षमताओं का प्रकाशन करता रहता है और वह चाहता है कि मानव भी अपनी स्वतंत्र इच्छा के साथ भलाई चुने और इस प्रकार ईश्वर के साथ वह ईश्वर का सहकर्मी (co-worker) बने और दिनोंदिन वह ईश्वर के प्रति बढ़ता चला जाय। इस सन्दर्भ में डॉ० इक़बाल की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'मानव अतिमानवता को भी छू सकता है।'

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तक़दीर से पहले,
खुदा बंदे से ख़ुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है ?

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो ज़ाता है कि डॉ० इक़बाल के अनुसार ईश्वर ने मानव की रचना इसलिये की कि वह ईश्वर के साथ विश्व का सह-रचयिता हो।

क़ुरान के अनुसार (२३:१२-१४) ईश्वर ने सूक्ष्म मिट्टी से मानव की रचना की, उसे भींगे जीवाणु के रूप में सुरक्षित स्थल दिया, तब उससे थक्का रक्त हुआ जिससे मांस हुआ, तब मांस से हड्डी बनी इत्यादि। तब मानव को एक दूसरे ही रूप में सृज़ा गया। यहाँ तक कि ईश्वर ने मानव को स्वर्गदूतों से भी बढ़कर बनाया क्योंकि ईश्वर ने स्वर्गदूतों से कहा कि तुम आदम के सामने झुको (७:१०), क्यों ? क्योंकि ईश्वर की दी हुई शक्ति के अनुसार आदम पशुओं का नामकरण कर उन नामों को याद कर सकता था। दूसरे शब्दों में मानव के अन्दर विचारने की शक्ति थी और इस कारण उसे स्वर्ग-दूतों से भी श्रेष्ठ समझा गया।

क़ुरान के अनुसार तीन बातें मानव के संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम, ईश्वर ने मानव को चुना है।

> 'बाद में ईश्वर ने आदम को अपने लिये चुना, उसकी ओर फिरा और उसकी अगुवाई की' (२०: ११४)।

द्वितीय, ख़ामियों के रहते हुए भी मानव को इस भूतल पर ईश्वर ने अपना प्रतिनिधि बनाया (६:१६५७; २:२८३२), तृतीय, ईश्वर ने मानव को स्वतन्त्र व्यक्तित्व का न्यासी (trustee) बनाया। इस बात पर डॉ० इक़बाल ने बहुत बल दिया है और ३३:७२ को कई बार 'The Reconstruction of Religions thought in Islam' में इसकी आवृत्ति की है। इस आयत के अनुसार स्वर्ग और पृथ्वी इस न्यास को वहन करने में जब असमर्थ हुए तब मानव ने इस न्यास को ग्रहण किया। इक़बाल के अनुसार इस बात को हल्लाज ने सही समझा और कहा कि 'मैं ही सर्जनात्मक सत्य हूँ'। यहाँ न तो ईश्वर ही होने का दावा हल्लाज ने किया और न उसमें विलीन हो जाने की बात कही, पर यह कि परम अतीत और अंत्यंतम व्यक्तित्व में उसने अपने व्यक्तित्व की पूर्णता का अनुभव किया।

मानव शरीर और आत्मा के योग से बना है और मरने के समय आत्मा फिर ईश्वर के पास लौट जाती है। पर एक और मत भी बताया गया है कि मृत्यु और पुनरुत्थान के बीच बर्ज़ख एक स्थिति है जिसमें मृत व्यक्ति अनुलंब (suspense) में रहता है।

मानव-स्वतंत्रता : हमलोगों ने देखा है कि इस्लाम में पूर्वनियतिवाद और मानव-स्वतंत्रता दोनों की बात कही गयी है। जब ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की बात कही जाती है तब बताया जाता है कि संसार का संचालन संपूर्णतया ईश्वर द्वारा नियंत्रित होता है।

फिर ईश्वर की करुणा और दया का जब आस्वादन भक्त को होता है तब वह समझता है कि ईश्वर ही उसका एकमात्र मुक्तिदाता है और उसने कुछ भी ईश्वर द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में नहीं किया है। अतः, पूर्वनियति का पाठ ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के भाव और भक्त की अपनी शरणागति के प्रति उद्गार मात्र है। क़ुरान में सूरा १७ और १८ में मानव की स्वतंत्रता की बात भी स्पष्ट कही गयी है। सूरा १८ में बताया गया है कि ईश्वर की प्रकाशना लोगों की चेतावनी के लिये की गयी है और मानव को स्वतंत्रता है कि वह चाहे तो उसे स्वीकार करे और नहीं चाहे तो उसे अस्वीकार करे (१८:२८)। फिर इसमें यह भी बात बतायी गयी है कि ईश्वर किसी का भी बुरा नहीं करता है। फिर सूरा १७:७ में बताया गया है कि जो ईश्वर की सहायता माँगते हैं, ईश्वर उनकी सहायता करता है, परन्तु जो भूल (पाप) करते हैं वे स्वयं उसका फल भोगेंगे। फिर यह भी इसके साथ आगे चलकर कहा गया है कि जो भविष्य का अनंत जीवन प्राप्त करने का प्रयास करता है, उसे निश्चय ही ईश्वर उसका फल देगा।

जब इस्लामी विचारकों में भाग्यवाद (दैववाद-fatalism) और मानव-इच्छा-स्वातंत्र्य के संदर्भ में चिंतन प्रारम्भ हुआ तो अनेक विचारकों ने मानव-इच्छा-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त की पुष्टि की। उनके विचार-विमर्श में यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर परम दयालु और करुणामय है और इसलिये वह किसी भी मानव को नारकीय यातना के लिए नहीं पैदा कर सकता है। हम लोगों ने अभी ही देखा है कि क़ुरान में स्पष्ट है कि ईश्वर किसी का भी बुरा नहीं चाहता है। अतः भाग्यभरोसावाद नहीं स्वीकारा जा सकता है। इसी परम्परा को डॉ० इक़बाल ने अपनाया है।

डॉ० इक़बाल ने विलियम टेम्पुल के समान स्वीकारा है कि ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र है और जब ईश्वर ने मानव को पूर्ण स्वतंत्रता देकर सृजा तो बुरा करने का विकल्प भी इसमें निहित ही था। क़ुरान (सूरा २) के अनुसार जब ईश्वर मानव को स्वतन्त्र इच्छा देकर रचने लगा सब स्वर्गदूतों ने स्पष्ट कहा 'तू इन्हें स्वतंत्र इच्छा देकर खून और बुराई करने के लिए क्यों रच रहा है जब हम सब तेरी केवल स्तुति किया करते आये हैं?" परन्तु ईश्वर ने कहा कि मैं मानव को स्वर्ग और पृथ्वी के रहस्य को जानने के लिये बना रहा हूँ अर्थात् जब मानव को सच्चा ज्ञान हो जायगा तब वह सत्यसंकल्पी जीव होकर ईश्वर की स्तुति और उसकी महिमा करेगा। पहले ही कहा जा चुका है कि पूर्ण ज्ञानी होकर अपनी स्वतंत्र इच्छा को ईश्वर की इच्छा के अनुसार काम करनेवाले जीव की रचना होना यही इस सृष्टि का चरम उद्देश्य है। इसलिए इस चरम उद्देश्य (३३:७२) की पूर्ति के लिये ईश्वर को बुरे काम की अनुमति देनी पड़ी। स्वयं ईश्वर को अपनी इच्छा से ही अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करना पड़ा ताकि इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ सत्यसंकल्पी जीव का उन्मज्जन हो सके। "....by permitting the emergence

of a finite ego, capable of private initiative, has limited this freedom of his own free will." (Reconstruction p. 103). अतः, डॉ० इक़बाल भाग्यभरोसावाद को नहीं स्वीकारते हैं, पर वे मानव के प्रति उस सिद्धान्त को स्वीकारते हैं जिसके अनुसार मानव को इच्छा-स्वातंत्र्य दिया गया है कि वह स्वर्ग और पृथ्वी के रहस्य को जानकर ईश्वर की इच्छा के अनुसार सत्यसंकल्पी जीव बने।

इस्लाम में जगत्-विचार

क़ुरान प्रकाशना की पुस्तक है और इसका उद्देश्य धार्मिक विचार और अनुष्ठान से है। इसमें न तो क्रमबद्धता है और न क्रमबद्ध दार्शनिक विचार। क़ुरान के अनुसार, ईश्वर ने कहा कि सृष्टि हो जा और सृष्टि हो गयी[1]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ने शून्य से इस जगत् की सृष्टि की है। सूरा ४४:३८ के अनुसार ईश्वर ने जगत् की सृष्टि लीला हेतु नहीं की है। उसने स्वर्ग, पृथ्वी और इनके बीच की सारी वस्तुओं को इसलिये रचा है कि उनका अध्ययन करने में सत्यता का ज्ञान मानव को हो। यह किस प्रकार की सत्यता है ?

पहली बात है कि सृष्टि में जीवन और मृत्यु दोनों ईश्वर के सामर्थ्य को दिखाता है। ईश्वर ने मानव को धूल से बनाकर उसमें जीवन देकर प्रजनन और प्रगुणित होने की शक्ति उसमें भर दी। उसी प्रकार स्वर्ग और पृथ्वी की अनेक भाषाओं और वस्तुओं के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व और उसकी महान शक्तियों का परिचय मिलता है (३०:२१)। फिर ईश्वर ने रात और दिन, वर्षा इत्यादि का ऐसा विधान किया है कि मानव उनकी गतिविधियों को जानकर प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करे और उस ज्ञान से लाभ उठाकर अपना जीवन यापन करे (२४,४४)। पुनः, ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की है ताकि मानव को मांस, फल और अन्न प्राप्त हो। उसने रात बनायी ताकि मानव विश्राम करे, सूर्य-चाँद बनाया ताकि मानव प्रकृति की गतिविधि सीखें, तारेगणों को बनाया ताकि रात में भी मानव सही मार्ग पर चले (सूरा २)।

डॉ० इक़बाल ने ३२.७२ की व्याख्या करते हुए बताया है कि प्रकृति के विधान में विशेषतया स्वतंत्र इच्छा का अभाव है, पर ईश्वर ने प्रकृति को विकासशील बनाया है (३५.१)। प्रकृति में श्रृंखलाबद्धता तथा क्रमबद्धता (सूरा २४) पायी जाती है। परंतु स्वर्ग, पृथ्वी और प्रकृति की सभी घटनायें ईश्वर-परिचायक और मानव-केन्द्रित हैं।

इस्लाम में मानव की अंतिम गति

इस्लाम के अनुसार इस सृष्टि और विशेषकर मानव के जीवन का अंतिम दृश्य पुनरुत्थान और न्याय दिवस ही है। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है कि न्याय-दिवस के

1. Penguin Koran, tr. N. J. Dawood, p. 336

अवसर पर अपने ईमान और ईश्वर की आज्ञा के अनुसार सही कर्मकांड के आधार पर उसे स्वर्ग-सुख लाभ हो। पर जो ईश्वर और उसके पैग़म्बर मुहम्मद पर ईमान न लाये उसे नरक का दंड भी दिया जाय। अतः स्वर्ग-नरक मानव जीवन की अंतिम गति है।

ईश्वर ने इस जगत् और मानव की इसलिये रचना की कि वह अपने श्रेष्ठ रूप को प्राप्त हो (९५ : ४)। पर यदि वह अपने इस रूप को नहीं प्राप्त करेगा तो उसकी अंतिम गति अधम से भी अधम होगी, अर्थात् उसे नारकीय यातना भोगनी पड़ेगी। यही बात सूरा १७ में बतायी गयी है कि जो विश्वासी ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करने की इच्छा से प्रयास करता जायगा, निस्संदेह ईश्वर उसकी आकांक्षाओं को पूरा करेगा।

डॉ० इक़बाल ने मानव गति के संदर्भ में तीन बातें बतायी हैं। सर्वप्रथम, मानव जीवन का प्रारंभ किसी न किसी काल में होता है और इसके पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं स्वीकारा गया है। दूसरे शब्दों में, मानव या उसकी आत्मा को अमर और नित्य नहीं स्वीकारा गया है, अर्थात् जैन, सांख्य तथा गीता के मत को इस्लाम में नहीं स्वीकारा गया है।

द्वितीय, मानव मर जाने के बाद फिर इस भूतल पर जन्म नहीं लेता है। क़ुरान में बार-बार पुनर्जन्म के विरुद्ध बात बतायी गयी है। पर पुनरुत्थान और न्यायदिवस तक व्यक्ति को बर्ज़ख में (निलंब रूप में) रहना पड़ता है जिस स्थिति से उन्हीं पुनरुत्थान के समय तुरही फूँकी जाने के बाद पुनर्जीवित किया जायगा। उस समय किस शरीर के साथ पुनर्जीवन प्राप्त होगा, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि इस विषय पर अज्ञात रहने की बात स्वीकारी गयी है (५६:५९-६१)।

अंतिम बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने किये हुए काम के अनुसार स्वर्ग या नरक मिलेगा (१७:२४)। जिन्हें स्वर्गिक जीवन प्राप्त होगा वे ईश्वर का दर्शन करेंगे और स्वर्गिक आनंद का भोग करेंगे। पर ईश्वर में कहीं भी विलीन होने की बात मानव के लिये नहीं कही गयी है।

डॉ० इक़बाल ने पाश्चात्य विचारकों के दर्शनों का गहरा अध्ययन किया था। उनके अनुसार व्यक्तिगत अमरता पर सभी मानव का अधिकार नहीं है, पर उन्हें अपनी अमरता प्राप्त करने के लिये अथक प्रयास करना पड़ता है।

> 'Personal immortality, then, is not ours as of right; it is to be achieved by personal effort.' (Construction, p. 113).

इसी प्रकार स्वर्ग और नरक को आप कोई विभिन्न निवास-स्थान नहीं मानते हैं। इनके अनुसार मरणोतर जीवन के विकास-क्रम में ये मानव की विभिन्न स्थितियाँ हैं। नरक वास्तव में नित्य निवास और यातना का स्थान नहीं, पर मानव को सुधारने का विधि-मात्र है।—(Construction, pp. 116-117)।

इस्लामी दर्शन और सूफीमत

इस्लाम का दर्शन बहुत गंभीर और स्वतंत्र है। प्रायः नवप्लेटोवाद और अरस्तू के सम्मिश्रण से इस्लामी दर्शन की रचना की गयी है और इस दर्शन का प्रभाव पाश्चात्य दर्शन पर भी पड़ा है। यहाँ उदाहरणार्थ मुआयतजिली दर्शन की चर्चा की जा रही है ताकि पाठकों को इसका ज्ञान हो जाय कि इस्लामी दर्शन में भी गंभीर और स्वतंत्र विचार पाये जाते हैं।

इस्लाम में ईश्वर और क़ुरान का स्वरूप तथा ईश्वर के साथ मानव संबंध के तीन बिन्दुओं को मुख्य माना जायगा। इस्लाम में ईश्वर के एकत्व को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। मुआयतज़िली दार्शनिकों का कहना है कि यदि ईश्वर शुद्ध रूप से एक हो तो उसमें उसकी नित्यता को छोड़कर कोई अन्य गुण नहीं पाये जा सकते हैं। करुणा और दया ये मानव गुण हैं, जो ईश्वर में आरोपित नहीं किये जा सकते हैं। फिर क़ुरान में स्पष्ट है कि स्वर्ग में ईमानदारों को ईश्वर दिखाई देंगे। मुआयतज़िली ईश्वर की दृश्यता को मानवारोपण (anthropomorphism) समझते हैं। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शन के समान यहाँ भी ईश्वर को प्रायः निर्गुण माना गया है।

फिर क़ुरान के असली रूप को जो स्वर्ग में है, नित्य और असृष्ट समझा जाता है। मुआयतज़िली इस सिद्धान्त के प्रति भी आपत्ति उठाते हैं। उनका कहना है कि यदि क़ुरान नित्य और असृष्ट हो तो ईश्वर के अतिरिक्त क़ुरान और ख़ुदा दो अंतिम सत्तायें हो जाती हैं। इसलिये कुरान को नित्य और असृष्ट नहीं माना जा सकता है। फिर जब ईश्वरीय प्रकाशना एक काल और एक सृष्ट व्यक्ति या पैग़म्बर को दी गयी, तो इस प्रकाशना को नित्य और शाश्वत कैसे कहा जा सकता है। पाठक देखेंगे कि यही समस्या वेद को नित्य और शाश्वत मानने में उठ जाती है।

अपितु, क़ुरान के कतिपय सूराओं में पूर्वनियतिवाद की बात कही गयी है। यदि इसे मान लिया जाय तो कहा जायगा कि ईश्वर ने पहले से ही कुछ व्यक्तियों को नारकीय यातना के लिये रचा है। ऐसा मान लेने पर न तो ईश्वर को न्यायी और न करुणामय ही समझा जा सकता है। फिर कुरान में यह भी कहा गया है कि स्वयं मानव अपनी बुराई के लिये उत्तरदायी है। अतः, इन दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर द्वारा पूर्वनियति के सिद्धान्त को नहीं स्वीकारा जा सकता है।

इस्लामी दर्शन की मुक्त रचना कुछ पुरानी ही नहीं रही है, पर भारतीय डॉ० इक़बाल ने भी स्वतंत्र इस्लामी दर्शन की स्थापना की है। आपने पाश्चात्य दर्शन का गहरा और व्यापक अध्ययन किया था और बर्गसाँ और ह्वाइटहेड की रचनात्मक सृष्टि को अपनाया है। आपने सृष्टि को यांत्रिक नहीं माना है। आपके अनुसार ईश्वर की सर्जनात्मक रचना नित्य जारी रहती है और ईश्वर की अपरिमित क्षमताओं का प्रकाशन-मात्र यह विश्व है।

"....the 'not-yet' of God means imfailing realization of the infinite creative possibilities of his being which retains its wholeness throughout the entire process."

—(Construction, p. 57).

इसी प्रकार डॉ० इक़बाल ने ईश्वर को अपने में निहित अपरिमित संभावनाओं की सर्जनात्मक शक्ति कहा है (पृ० ६१, ६२)। यही कारण है कि डॉ० इक़बाल ने स्वर्ग-नरक को कोई निवास-स्थान नहीं माना है, पर मानव के विकास-ह्रास की ये स्थितियाँ मात्र हैं। अतः, डॉ० इक़बाल ने पूर्वनियतिवाद के स्थान पर मानव के इच्छा-स्वातंत्र्य को स्वीकारा है। यहाँ तक कि क़ुरान में चर्चित सभी जीवों के पुनरुत्थान के स्थान पर बताया है कि अमरता का दान मानव के अपने प्रयास पर निर्भर करता है। हाँ, इस्लामी मत के अनुसार अपने व्यक्तित्व की अंतिम संरक्षा का सिद्धान्त माना है। पर पुनरुत्थान को उन्होंने मानव जीवन के विकास-ह्रास का मात्र लेखा-जोखा (stock-taking) स्वीकारा है (पृ० ११४)।

अतः, लेखक का विश्वास है कि इस्लामी धर्मदर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप भारतीय धर्मदर्शन में विकास आने के साथ सामान्य समस्याओं का विश्व स्तर पर समाधान भी निकल आयेगा। पर सम्भवतः सूफी मत ऐसा है जिसमें भारतीय भक्ति दर्शन के साथ इसका मेल खाता है।

सूफीमत

रहस्यवाद किसी धर्मविशेष की एकाधिकारिक संपत्ति नहीं है। किसी भी धर्म की अनुभूति जब पराकाष्ठा को पहुँचती है तो वह रहस्यवाद का रूप धारण कर लेती है। इसलिये उपनिषद्, गीता, भक्ति-दर्शन के अतिरिक्त बौद्ध, ईसाई तथा गूढ़ज्ञानवाद (gnosticism) में भी रहस्यवाद का पूरा विकास पाया जाता है। पर इस्लामी रहस्यवाद जिसे सूफीमत कहा जाता है, इसलिये ध्यानयोग्य है कि इसके बिना इस्लाम की पूरी विशिष्टता तथा उसकी धार्मिक अनुभूति को जानना कठिन है। सूफीमत इस्लामी दर्शन के साथ इस्लाम का लोकप्रिय रूप है। सूफी इस्लामी ऐसे संत हैं जो ईश्वर की समीपता और उसके साथ सायुज्य (communion) प्राप्त कर अनेक अद्भुत कार्यों के लिए सुप्रसिद्ध हैं। यह बात ठीक उसी प्रकार देखी जाती है जो भारतीय ध्यानी और योगियों में भी पायी जाती है। भारतीय ध्यानियों में भी ऋद्धि-सिद्धि पायी जाती है। सूफियों में भी बोधि, अन्तिम सत्ता के साथ साक्षात्कार तथा उसका गूढ़ ज्ञान देखा जाता है।

सूफी लोगों में समाधि की उन्मत्त दशा में ईश्वर के साथ ऐक्य का अनुभव होता था जिसे आधार मानकर एकवाद और सर्वेश्वरवाद भी अपनाया गया था। पर इस्लाम में शुद्ध एकेश्वरवाद पाया जाता है और इसलिये प्रमुख सूफी अल जुनैद (मृत्यु सन् ९१०), अल हल्लाज (मृत्यु सन् ९२२), अल-गज़ाली (सन् १०५९-११११) तथा इब्न अरबी (सन्

११६५-१२४०) ने व्यक्तित्व की पूर्णता और उसका संरक्षण ईश्वर के अंतर्गत स्वीकारा है। अतः, सूफियों के मत का मिलान वास्तव में रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के साथ किया जा सकता है।

सूफीमत यहूदी, ईसाई तथा बौद्ध रहस्यवाद से प्रभावित हुआ था[1]। फिर पहले ही कहा जा चुका है कि इस्लामी दर्शन में नवप्लेटोवाद और अरस्तूवाद, दोनों का सम्मिश्रित रूप देखा जाता है। फिर यह भी सर्वज्ञात है कि नवप्लेटोवाद का आधार रहस्यवादी प्लोटिनस में पाया जाता है। यहूदी-ईसाई धर्मों के निम्नलिखित तत्त्व सूफी मत में देखे जाते हैं।

१. ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में रचा। क़ुरान में भी बताया गया है कि ईश्वर ने मानव को अपनी सृष्टि में ईश्वर का प्रतिनिधि (deputy, खलीफ़ा) बनाया है (सूरह २ : २७-२८)।
२. ईसा वह ईश्वर का वचन (शब्द logos) है जिसके द्वारा सृष्टि रची गयी।
३. ईश्वर प्रेम है और यही बात क़ुरान में भी है (सूरह ७५.५९)।
४. मसीह ने कहा, 'जिसने मुझे देखा है, उसने ईश्वर को भी देखा है' अर्थात् ईसा अगोचर ईश्वर की साकार छवि है।

अल हल्लाज ने कहा,

'जिसे मैं प्यार करता हूँ वह मैं हूँ, और वह जिसे मैं प्यार करता हूँ वह मैं हूँ;
दो आत्मायें एकसाथ एक शरीर में हैं :
जो मुझे देखता है, वह उसे (अर्थात् ईश्वर को) देखता है;
वह जो उसे देखता है, वह हमदोनों को देखता है।'

फिर ईसाई धर्म में चर्चित त्र्येक ईश्वर की झलक भी सूफी मत में दिखाई देती है, अर्थात् सारतत्त्व रूप में ईश्वर एक है, पर सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि में व्यक्त होकर वह त्र्येक ईश्वर है।

'अगर कहो कि ईश्वर एक है (तत्त्वरूप में), तब ठीक है; यदि कहो दो है,
तो भी ठीक है, और यदि कहो कि नहीं, तीन है तो भी ठीक ही है।'[2]

अतः ईसाई मठवासी संन्यासियों से सूफीमत अवश्य प्रभावित हुआ था। पर इसमें सन्देह नहीं कि क़ुरान की लेखनी और पैग़म्बर मुहम्मद की जीवनी के अंतर्गत कुछ ऐसे विषय हैं जिनसे सूफीमत को बल मिला और अंत में वह स्वतंत्र रूप से एक विशाल धर्म-दर्शन का रूप बना।

---

१. देखें, R. A. Nicholson, **Studies in Islamic Mysticism**, Cambridge 1921, pp. 88. आप सूफ़ीमत के अधिकारी लेखक माने गये हैं। फिर देखें, A. J. Arberry, **Sufism**, pp. 37-39.

२. R. A. Nicholson, वही, पृ० ८६.

सूफ़ी : सूफ़ी वह है जो सूफ़ (अर्थात् ऊनी वस्त्र) पहने। प्रायः ईसाई मठवासी संन्यासी ऊनी कपड़े पहना करते थे। हमें याद रखना चाहिये कि ईसा का वस्त्र भी ऊन का ही था। जो भी ऊनी वस्त्र धारण करने का तात्पर्य हो, अंत में सूफ़ी उस मुसलमान संन्यासी को कहा जाता है जो ईश्वर के साथ सायुज्य (communion) कर इस्लामी पूर्णता को प्राप्त करता है। चूँकि मुसलमानों के लिये पैग़म्बर मुहम्मद ही आदर्श ईश्वर-भक्त थे, इसलिये प्रायः सूफ़ी अपने को ईश्वर के साथ सायुज्य प्राप्तकर पैग़म्बर के समान संत बनने का दावा करते थे। इसलिये सूफ़ी क़ुरान की आयतों से और पैग़म्बर की उस जीवनी से जो हदीस में बतायी गयी थी, अपना पाठ लेते थे। अल-बुख़ारी (मृ० ८७०) और मुस्लिम (मृ० सन् ८७५) ने बड़े परिश्रम के फलस्वरूप हदीस की रचना की थी और सूफ़ी लोग इस हदीस को अपने मतानुसार काम में लाते रहे हैं। पर यह निश्चित है कि स्वयं पैग़म्बर मुहम्मद ध्यानी थे और हीरा पर्वत की खोह में ईश्वर पर ध्यान करते थे और इसी ध्यान-मुद्रा में सन् ६१० में उन्हें अपने को पैग़म्बर बनने का अनुभव हुआ। फिर क़ुरान में सूरह १७.१ और ५३.३५-४२ में इस्रा (रात्रि-यात्रा) और मिराज (स्वर्गारोहण) की चर्चा की गयी है जिसे सूफ़ियों ने समझा है कि यही नश्वर देह लेकर पैग़म्बर स्वर्ग में पहुँचे थे और इसलिये उन्होंने इस आदर्श को अपनाकर उस रहस्यानुभूति को अपना लक्ष्य बनाया जिसके अनुसार वे भी इसी जीवन में ईश्वर तक पहुँच सकें।

सूफ़ीमत और ब्रह्मज्ञान के बीच मौलिक अन्तर यह है कि इस्लाम का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। पर ब्रह्मन् निराकार परम सत् है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी एकवादी तथा सर्वेश्वरवादी हो सकते हैं। शुद्ध इस्लाम में विश्वास रखनेवाले युक्तिसंगत रीति से एकवादी तथा सर्वेश्वरवादी नहीं हो सकते, और न ईश्वर-विलयन (mergence) की बात भी कर सकते हैं। इसलिये शुद्ध ध्यान अथवा समाधि की तुरीयावस्था का वे सहारा नहीं ले सकते हैं। उनका सबसे बड़ा साधन है ईश्वरीय प्रेम जिसके आधार पर वे ईश्वर के अति समीप आ सकते हैं। इसलिए सूफ़ी अपने व्यक्तित्व को ईश्वर के अनुग्रह से ईश्वर की पूर्णता में समाकर अपने को सीमित रूप में ही पूर्ण होने का प्रयास करते हैं। अब ईश्वरीय प्रेम और ईश्वर की समीपता, इन दोनों का उल्लेख क़ुरान में किया गया है। सूरह २:१८२ में बताया गया है कि ईश्वर सबके सन्निकट है और उससे कोई भी भेद छिपा नहीं है। फिर सूरह ५०·१५ में बताया गया है कि ईश्वर गले की रगों की अपेक्षा बहुत ही निकट है। पुनः, सूरह २.१०९ में बताया गया है कि ईश्वर सभी जगहों में है, चाहे हम किसी भी दिशा में अपने मुँह को क्यों नहीं फेरें*। इसी प्रकार

---

* यही बात गुरु नानक के सन्दर्भ में की जाती है। जब गुरु अपने पैरों को क़ाबे की ओर किये हुए थे तो लोगों ने क़ाबे के प्रति इस अनादर भाव के प्रति आपत्ति की। तब गुरु ने कहा कि उनके पैरों को उस दिशा में कर दिया जाय जहाँ ईश्वर न हो।

सूरह ५ में बताया गया है कि ईश्वर न्यायप्रिय लोगों से प्रेम रखता है। फिर जो उससे मुहब्बत रखते हैं, वह उनसे भी मुहब्बत रखता है। हदीस के अनुसार, पैग़म्बर ने बताया है कि ईश्वर स्वर्ग और पृथ्वी में नहीं अट सकता, पर विश्वासी दास के हृदय में वह समाता है[1]। यही बात गीता में भी बतायी गयी है कि ईश्वर बिना अपने भक्त के नहीं रह सकता है।

क़ुरान में शुद्ध संन्यास की बात नहीं कही गयो है और इसलिये अनेक सूफ़ी अपनी पत्नी के साथ रहते थे। पर ईसाई एकान्तवासी (hermit) और मठवासी संन्यासी का प्रभाव सूफ़ियों पर पड़ा था और ये संन्यासी दरिद्रता की शपथ लेते थे। यह बात सूफ़ियों ने अपनाया। क़ुरान में भी बताया गया है कि धनवानों की अपेक्षा दरिद्र स्वर्ग में पहले प्रवेश करेंगे। पर सूफ़ी दरिद्रता-शपथ को स्वयं पैग़म्बर और उनके अनुयायियों के जीवन से जोड़ने लगे। अल-हसन सूफ़ी ने लिखा है कि पहले के सभी नबी जैसे मूसा, दाऊद और ईसा, सबों ने ग़रीबी अपनायी और उसने यह भी लिखा कि पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद ने भी दरिद्रता को अपनाया। इसलिए अल-हसन के लिए दरिद्रता धर्म का बैज (लक्षण, badge) है।[2] वास्तव में पहले तीन-चार खलीफ़ों ने जीवन में दरिद्रता को अपनाया, यद्यपि उनका बहुत बड़ा साम्राज्य फैल गया था। यही बात पैग़म्बर के साथ भी थी जबकि उन्हें अंतिम वर्षों में बहुत धन हो गया था तो भी वे बड़ी सादगी और ग़रीबी के साथ जीवन व्यतीत करते थे।

क़ुरान में यह बात बतायी गयी है कि ईश्वर की प्रकाशनना में से किसी एक शब्द को भी नहीं हटाया जा सकता है। इसलिए सूफ़ी हाफिज़ हुआ करते थे और अपने मत को सिद्ध करने के लिए यथा-तथा क़ुरान की आयत को उद्धृत किया करते थे। पर साथ ही साथ जितनी बात ईश्वर के माहात्म्य के लिए कही गयी उसे याद रखने के लिए ईश्वर का नाम वे जपते थे (धिक्र)। फिर ठीक उपनिषद् के तज्जलान के समान सूफ़ी भी रहस्य नाम लिया करते थे, जैसे या हू (ओह ! वह)।

ईश्वर-सायुज्य की कथा सूफ़ियों में विभिन्न रूप से बतायी गयी है, पर सामान्यतः इसमें भी **तत्त्वमसि** की बात चली आती है। अबू यज़ीद ने अपने रहस्यवादी अनुभव को व्यक्त करते हुए कहा है।

> 'हे प्रभु ! मैं अपने व्यक्तित्व (खुदी, egoity) को छोड़ नहीं सकता हूँ और बिना अपने व्यक्तित्व को छोड़े हुए तुझे प्राप्त भी नहीं कर सकता हूँ।'

---

१. A. J. Arberry, वही, पृ० २८, जो निकोल्सन के 'Mystics' के पृ० ६८ से लिया गया है।

२. देखें A. J. Arberry, **Sufism**, pp. 33-34.

इस पर ईश्वर ने उसे बताया, 'अये अबू यज़ीद ! बिना अपने व्यक्तित्व को त्यागे हुए तेरी मुक्ति नहीं हो सकती। तू मेरे प्यारे पैग़म्बर की चरण-धूल से अपनी आँखों को मलकर उसका अनुसरण कर।'

फिर अबू यज़ीद (मृ० सन् ८७५) ने ईश्वर से कहा, "तू मुझे अपने एकत्व और व्यक्तित्व से ऐसा मंडित कर दे कि जो मुझे देखे वह तेरी समस्त सृष्टि व तेरे एकत्व को देखे और कहे मैंने तुझे (ईश्वर को) देखा है; तब तू वह (अर्थात् अबू यज़ीद) होगा (Thou will be That) और तब मैं वहाँ न हूँगा।"[१]

यहाँ ईश्वर में लय (fana, फना) और फिर उसमें स्थिर रहना (बक़ा), ये दोनों बातें इस प्रकार कही गई हैं कि सूफ़ी का व्यक्तित्व ईश्वर में संरक्षित रह जाता है। हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि इस्लाम का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है और इस्लाम के अनुसार ईश्वर ने मानव को बनाकर उसे नाश नहीं करना चाहा है। इसलिए जो ईश्वर को मानते हैं और उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, उन्हें वह स्वर्गिक वास का आनन्द देकर सर्वदा के लिए संरक्षित रखेगा। इसी तौहीद (एकत्व) की बात अल-जुनैद ने (मृ० सन् ९१०) कही है।

अल-जुनैद ने क़ुरान ७·१६७-७ को इस प्रकार अपने सूफ़ीमत में परिणत किया है कि मानव के दो रूप होते हैं, अर्थात् मानव का पूर्वसृष्ट रूप और सृष्ट रूप। दोनों ईश्वर के नित्य, तात्विक स्वरूप में रहते हैं। मानव पूर्वसृष्ट में भी ईश्वर का आत्मिक ज्ञान रखता है, पर इस स्थिति में उसका अपना व्यक्तित्व नहीं रहता है। इस सिद्धान्त को रामानुज के विचार से मिलाया जा सकता है क्योंकि रामानुज के अनुसार भी प्रलयकाल में जीव ईश्वर में सूक्ष्म रूप में रहते हैं ऐसा कि उनका कोई पृथक् अस्तित्व व्यक्त नहीं होता है।

फिर अल-जुनैद के अनुसार, ईश्वर ने अपनी इच्छा मात्र से मानव के पृथक् व्यक्तित्व की रचना की और अपनी सत्ता को मानव में डालकर उसे फिर उसके अस्तित्व के पूर्व के एकत्व को प्राप्त कर लेने के लिए अनुप्रेरित करता है। यह बात प्लेटो के उस मिथक से मिलती है जिसके अनुसार आदि में एक ही लिङ्ग था जिसे ज़ीऊस ने नर-नारी, दो भागों में विभक्त कर दिया। अब वे दोनों भाग सतत मिलकर पुनः एक होना चाहते हैं। यही बात सूफ़ियों में बतायी जाती है कि मानव ईश्वर से निकलकर उससे मिलने की उत्कट लालसा रखते हैं। यही बात संत पॉल और अगस्टिन ने भी कही है कि ईश्वर ने मानव को अपने लिए बनाया है और जब तक मानव ईश्वर को नहीं प्राप्त कर लेता वह अशान्त रहता है और उसे चैन नहीं मिलता है। इसलिए अल-जुनैद के अनुसार, जब

---

१. A. J. Arberry, वही, पृ० ५५। अल-जुनैद का भी मत पृ० ५७-५८ में बताया गया है।

सूफ़ी ईश्वर से मुहब्बत करने लगता है तब वह ईश्वर का ही कान होकर उसकी आवाज़ सुनता है। यह मानव की अपनी आवाज़ नहीं होती, पर ईश्वर की ही आवाज़ होती है। यह है ईश्वर के एकत्व की प्राप्ति। इस स्थिति में सूफ़ी का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता (फ़ना) और फिर वह ईश्वर में स्थिर (बक़ा) हो जाता है। इसमें हेगेल के dying to live अर्थात् सच्चे जीवन को प्राप्त करने के लिए सीमित व्यक्तित्व के लय होने की बात कही गयी है। सूफीमत की अंतिम स्थिति में मानव नहीं, वरन् ईश्वर ही साकार हो जाता है। यह बात अल-हल्लाज के रहस्यवाद से स्पष्ट हो जाती है।

अल-जुनैद ने ईश्वर के साथ सायुज्य प्राप्तकर मानव द्वारा ईश्वर-प्राप्ति की बात कही थी, पर अल-हल्लाज उससे भी एक पग आगे बढ़ गये। वे रहस्यानुभूति के आधिक्य में आकर मानव को ईश्वर का अवतार, अर्थात् ईश्वर का देहधारी रूप मानने लगे। फिर वे सूफ़ी संत को पैग़म्बर से भी ऊँची श्रेणी का समझने लगा। उन्होंने कहा 'मैं हक़्क़ हूँ'। 'हक़्क़' से अभिप्राय सत्य, उचित और परम सत् का होता है। इसलिये परम्परा-वादी उनकी इस उक्ति के कारण उन्हें कुफ्र (ईश्वर-निंदा) का दोषी समझकर क्रूश पर चढ़ा दिया है। क्रूश पर चढ़ाने का विशेष कारण यह भी था कि हल्लाज ईसा को, न कि पैग़म्बर को अपना आदर्श मानते थे। जब आपको क्रूश पर चढ़ाया गया तो आप ठीक ईसा के समान ही ईश्वर से प्रार्थना करने लगे।

> 'हे प्रभु! ये तेरे दास तेरे ही धर्म के कारण और तुझे प्रसन्न करने के लिये यहाँ एकत्रित हुए हैं। इन पर तू दया कर। यदि तू इन्हें उन गुह्य बातों को प्रकाशित करता जिन्हें तूने मुझे बताया है, और यदि तू मुझसे उन बातों को छिपाकर रखता जिन्हें तूने इन लोगों से छिपा कर रखा है, तो मुझे यह यातना नहीं सहनी पड़ती। जो तू करता है उस सब के लिये तेरी महिमा और तेरी सारी मर्ज़ी के लिये तेरी स्तुति हो'।

परन्तु न तो हल्लाज ने अपने को ईश्वर के बराबर समझा और न उसके साथ आत्मसात् करने की बात कही। ईश्वर की शक्ति द्वारा ईश्वर की शरणागति में अपनी पूर्णता की बात आपने की थी। हल्लाज के समान सन् ११९१ में अबु इल फुतूह को भी ईश्वर के साथ अपने को आत्मसात् करने के अपराध में उसके लोगों ने उसे प्राण-दण्ड दिया था।

अल-हल्लाज के उदाहरण को देखकर जब भी किसी सूफ़ी को ईश्वरत्व की अनुभूति होती थी तो वह मौन हो जाता था ताकि ऐसा न हो कि लोग उसकी उक्ति को ईश्वर-निंदा समझें। फिर बाद के सूफ़ी पैग़म्बर मुहम्मद को ही आदर्श मानव मानकर उनकी ही स्तुति करने लगे। तब भी यह बात स्पष्ट है कि अतिधार्मिक होते हुए भी सूफ़ियों को शास्त्र-सम्मत नहीं माना जाता था और उन्हें सशंकित दृष्टि से देखा जाता था। इस सन्दर्भ में

अल-गज़ाली (सन् १०५९-११११) का मत उल्लेखनीय है। शायद इस्लाम के ये सबसे बड़े विद्वान् शिक्षक माने जायंगे। इनके लेख की यहाँ एक झांकी ही रखी जायगी। पर गज़ाली ऐसे रहस्यवादी विद्वान् थे जिन्होंने रहस्यवाद को समादृत और शास्त्रसम्मत बनाने का प्रयास किया है।

अल-गज़ाली इस्लाम के जाने-माने विद्वान् सूफ़ी हैं। इन्हें इस्लाम-सिद्ध पुरुष (हुज्जत अल-इस्लाम) कहा जाता है। आपका जन्म खोरासान में सन् १०५९ में हुआ। आप सन् १०९१ में बग़दाद में प्रधान अध्यापक गिने जाने लगे। परन्तु बौद्धिक ज्ञान और इस्लामी विधि के अध्ययन से आपको पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। सन् १०९५ में आपने अध्यापन-कार्य छोड़ दिया। तब आप सूफ़ी मत की ओर फिरे।

आप जानते थे कि बिना सूफ़ी मत के अध्ययन और उसके अभ्यास से उन्हें पूरी सफलता नहीं मिलेगी। वे जानते थे कि बिना शारीरिक वासनाओं और चेष्टाओं को छोड़े हुए, ईश्वर के नाम का बिना स्मरण किये हुए उन्हें पूरी सफलता नहीं मिलेगी। सूफ़ी मत का ज्ञान प्राप्त करके आपने अपने को संत्रस्त व्यक्ति के ऐसा ईश्वर के शरणागत कर दिया। मृत्यु-पर्यन्त (सन् ११११) अल-गज़ाली सूफ़ी की सादगी में रहे। आपकी पुस्तकें प्रामाणिक मानी जाती हैं। आपने सूफ़ी साधना को इस्लामी मतानुसार चार भागों में बाँटा है[1]।

(क) उपासना : इसे इन्होंने ज्ञान-मीमांसा तथा धर्मदर्शन, शास्त्रीय अनुष्ठान तथा आराधना के अन्तर्गत ९ अंगों में वर्णित किया है।

(ख) व्यक्तिगत व्यवहार : इसे इन्होंने धार्मिक विधि (law) और रहस्यवादी प्रशिक्षण के अन्तर्गत ११ अंगों में विभाजित किया है।

(ग) घातक पाप : इन्होंने मनोविज्ञान और आध्यात्मिक अभ्यास के अन्तर्गत यहाँ १० बातों का उल्लेख किया है।

(घ) मुक्ति-मार्ग : तौबा अर्थात् संन्यास, ईश्वर को धन्यवाद देना, ईश्वर का भय (ख़ौफ़) और आशा, दरिद्रता और आत्म-त्याग, ईश्वर की एकता में विश्वास और उस पर भरोसा, ईश्वर की प्रीति और उस पर भरोसा एवं संतोष, ईश्वर के प्रति दृढ़ संकल्प एवं निष्कपटता, ईश्वर पर ध्यान तथा मृत्यु-स्मरण की चर्चा की गयी है।

अल-गज़ाली की रचना के द्वारा सूफ़ीमत को इस्लाम में स्वीकृत स्थान प्राप्त हो गया है। सूफ़ी-परम्परा विश्वधर्म के लिए बहुत बड़ी देन है। इसके धर्मदार्शनिक पक्ष को इब्न अरबी ने (सन् ११६५-१२४०) प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है जिसे यहाँ अति-संक्षेप में लिखा जा सकता है[2]।

---

१. देखें, A. J. Arberry, **Sufism**, pp. 81-82.

२. A. J. Arberry, वही, पृ० १००-१०१.

१. ईश्वर निरपेक्ष सत्ता है और सम्पूर्ण अस्तित्व का एकमात्र आधार है। उसमें सत् और अस्तित्व (Being and Existence) दोनों अवियोज्य रीति से पाये जाते हैं। संत टामस ने भी इसे स्वीकारा है।

२. सम्पूर्ण ब्रह्मांड, वास्तविक और सम्भव (possible, potential), दोनों रूपों में ईश्वर की अपेक्षा सापेक्ष है। यह नित्य और कालिक (temporal), वास्तविक और सूक्ष्म, दोनों रूपों में पाया जाता है और दोनों रूपों में ईश्वर में निहित रहकर उसके परिज्ञान में रहता है।

३. ईश्वर अतीत और अंतर्व्याप्त (immanent), दोनों है। अतीत रूप में ईश्वर को हक़्क़ और अन्तर्व्याप्त रूप में ईश्वर अपनी सृष्टि में रहता है। वास्तव में ईश्वर की 'अन्तर्व्याप्ति' से यहाँ ईश्वर का सर्वविद्यमान् रहना अधिक क़ुरान के साथ संगत कहा जायगा। सृष्टि से परे और पृथक् ईश्वर की सत्ता स्वीकारी जाती है।

४. ईश्वर की इच्छा के अनुसार संपूर्ण ब्रह्मांड का संचालन होता है।

५. ब्रह्मांड-सृष्टि के पूर्व ईश्वर प्रच्छन्न तथा सूक्ष्म रूप में था।

६. 'ईश्वर-सायुज्य' से ईश्वर के साथ एक हो जाना नहीं माना जा सकता है। पर रहस्यवादी ईश्वर के साथ, उसमें वास्तविक रूप में रहता है, इसे स्वीकारा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, रहस्यवादी ईश्वर के अनुग्रह से उसके व्यापक अस्तित्व में अपनी पूर्णता प्राप्तकर सदा के लिये विद्यमान् रहता है।

७. विश्व की पालक, बौद्धिक एवं सर्जनात्मक शक्ति को मुहम्मद-तत्त्व कहा जा सकता है जो सत्ताओं का परम सत् है। यह रूप पूर्ण मानव (कामिल इन्सान) में संपूर्णतया व्यक्त होता है। इब्न अरबी द्वारा बताये गये मुहम्मद-तत्त्व का मिलान बुद्ध के 'धर्मकाय' के प्रत्यय के साथ किया जा सकता है।

८. सभी नबी शब्दरूप ईश्वर के वचन हैं, पर नबी मुहम्मद परम अथवा सर्वोच्चन वचन अर्थात् प्रकाशना है, क्योंकि पैग़म्बर मुहम्मद को अंतिम प्रकाशना की छाप या मुहर कहा गया है (seal of the prophets)।

९. पूर्ण मानव (कामिल इन्सान) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का लघु रूप है।

सूफ़ी मत को जिस इब्न अरबी तथा अल-जुनैद ने व्यक्त किया है वह रामानुज के विशिष्टाद्वैत से बहुत मिलता है। क्योंकि रामानुज के अनुसार भी जीव ब्रह्म के पृथक् पर अवियोज्य अंग है जो ईश्वर में संरक्षित रहकर उस पर सर्वदा निर्भर रहते हैं। रामानुज के अनुसार सच्चा भक्त वही है जो ईश्वर की शरणागति प्राप्त कर उसकी आज्ञाओं का दास-भाव से पालन करता है। सूफ़ी मत में भी मुमुक्षु (लालायित होकर) रहकर, दरिद्रता, शारीरिक तप, वासनाओं के दमन, पापों के पश्चात्ताप इत्यादि के आधार पर मानव अपनी परम गति को प्राप्त कर सकता है।

इस्लाम का नीति-विचार

वास्तव में इस्लामी विश्वास-वचन तथा कर्मकांड (practice) इसके बाहरी रूप हैं। इसका आन्तरिक रूप सूफ़ीमत है। अतः, जनसाधारण का नीति-विचार भी सामाजिक व्यवहार के नियमों में पाया जाता है, पर इसका आन्तरिक रूप सूफ़ी विधि में ही देखा जाता है।

हमलोगों ने पहले ही देखा है कि इस्लाम में ऐहिक जीवन पर उतना ही बल दिया गया है जितना पारलौकिक स्वर्ग प्राप्ति पर। इसलिये इस्लामी नीति-विचार में सामाजिक आचार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यहूदी धर्म में भी भक्ष्य और अभक्ष्य अनुष्ठानों की चर्चा की गयी है और इन्हें इस्लाम में संपूर्णतया अपना लिया गया है।

फटे खुरवाले तथा जुगाली करनेवाले पशु भक्ष्य हैं।
पंखवाले तथा छिलके वाले (चोंयटा) जलचर भक्ष्य हैं।

मरे पशु, खून, शूकर तथा मूर्तियों पर चढ़ायी गयी बलि आदि के पशु अभक्ष्य हैं।

चोरी किया हुआ अन्न तथा पशु अभक्ष्य हैं।
मदिरा-पान भी निषिद्ध ही है।

विवाह का आदेश है, पर व्यभिचार को पाप समझा गया है। स्त्री को तलाक़ (विवाह-विच्छेद, divorce) दिया जा सकता है, पर जब तक वह फिर किसी दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर ले और निर्धारित अवधि बीतने पर दूसरा पति भी उसे तलाक़ न दे, तो पहला पति फिर उससे विवाह नहीं कर सकता है। पर दूसरे पति द्वारा तलाक़ देने पर स्त्री पहले पति के साथ पुनः अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे का वस्त्र कहा गया है क्योंकि वे एक-दूसरे के दोषों को ढाँकते हैं।

स्त्रियों को माँ बाप की संपत्ति का अधिकारिणी माना गया।

दान : प्रत्येक मुसलमान पर संपन्न होने पर ज़कात करने का दरिद्र-टैक्स रखा गया है। फिर रमज़ान तथा अन्य समयों पर भी सदकात देने की प्रथा स्वीकारी गयी है। दायभाग की प्रथा भी ऐसी की गयी है कि किसी एक व्यक्ति के पास बहुत संपत्ति जमा न हो जाय। फिर ग़रीबी को अच्छा ही कहा गया है।

दण्ड-विधान : ज़ब नरक-यातना की बात याद की जाती है तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि क़ुरान में कठोर दंड की व्यवस्था बतायी गयी है। चोरी के अपराध में हाथ काट डालने का आदेश है। फिर प्राणों के बदले प्राण, आँख के बदले आँख इत्यादि के घोर दंड का प्रावधान भी बनाया गया है। व्यभिचार के लिये सौ कोड़ों का विधान है।

जहाँ तक सूफ़ी मत की बात है उसमें आत्मविकास (culture of the soul) का पाठ दिया हुआ है। इसमें बहुत ऊँचे आन्तरिक आचार की बात कही गयी है। वासनाओं का उन्मूलन, संन्यास, शारीरिक यातना तथा तप की व्यवस्था बतायी गयी है। कहा गया है कि सच्चा जेहाद तो अपनी शारीरिक तृष्णाओं अथवा वासनाओं के विरुद्ध करना चाहिये।

नीतिशास्त्र में अच्छे-बुरे को नैतिकता का निरपेक्ष धर्म कहा जाता है। पर क्या इस्लाम के अनुसार कहा जा सकता है कि ईश्वर बुरे-भले को इसलिये चाहता है कि वे निरपेक्षतया नैतिकता के स्वतंत्र गुण हैं ? शायद इस्लाम के अनुसार बुरा-भला, उचित-अनुचित वही है जिसे ईश्वर ने रचा है। इसलिये संभवत: इस्लाम में नैतिक स्वायत्तता के सिद्धान्त को नहीं स्वीकारा जायगा। पर हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि इस्लाम ईश्वर-प्रकाशना का धर्म है और यह दार्शनिक चिन्तन से नहीं निकला है। क्रान्ट का नैतिक स्वायत्तता का सिद्धान्त दार्शनिक चिंतन से उत्पन्न हुआ है, न कि रहस्यानुभूति के किसी स्फुरण से।

यहूदी धर्म और इस्लाम

इसमें सन्देह नहीं कि इस्लाम का शुद्ध एकेश्वरवाद यहूदी धर्म पर आधारित है। खाने-पीने इत्यादि बातों में भी यहूदी और मुसलमानों में मतैक्य है। तो भी यहूदी ईसा और पैग़म्बर मुहम्मद को नबी नहीं मानेंगे और पैग़म्बर को नबियों की अन्तिम मुहर भी नहीं स्वीकार करेंगे।

यह ठीक है कि इस्लाम में ईश्वर को करुणामय और दयालु अवश्य कहा गया है, पर करुणा और दया की अपेक्षा ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर बहुत बल दिया गया है। यह बात अय्यूब की पुस्तक में विशेष रूप में मिलती है। पर यहूदी अन्तिम रूप में ईश्वर को करुणामय और दयालु समझने लगे थ और ईश्वर को प्रसन्न रखने के लिये नैतिक अच्छाई पर बहुत बल देते थे। यहूदी मूसा को ही अपना सर्वश्रेष्ठ नबी मानते हैं।

फिर यहूदी और मुसलमान, दोनों ही ईसा को ईश्वर का पुत्र मानने के लिये तैयार नहीं हैं। इसका कारण है कि दोनों अशरीरी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। यह ठीक है कि इस्लाम में बताया गया है कि मरणशील कोई भी व्यक्ति ईश्वर को नहीं देख सकता है। पर वे स्वीकारते हैं कि न्यायदिवस के अवसर पर सभी ईश्वर को देखेंगे। पर ईसाई धर्म में यूनानी दर्शन का प्रभाव है जिसमें अशरीरी आत्मा का अस्तित्व स्वीकारा गया है। इसलिये ईसाई ईश्वर की पवित्र आत्मा के प्रभाव से ईसा का कुँवारी मरियम से पैदा होना मानते हैं। स्वयं शरीरधारी ईश्वर से कुँवारी मरियम को गर्भ नहीं रहा था। इसी अर्थ में क़ुरान में भी ईसा के जन्म की बात कही गयी है कि ईश्वर की पवित्र आत्मा के द्वारा ईसा का जन्म हुआ। तो भी इस्लाम में ईसा

को किसी भी लाक्षणिक अर्थ में ईश्वर का पुत्र नहीं माना है। ईसा को ईश्वर-पुत्र न मानने में इस्लाम और यहूदी धर्मों में मतैक्यता है।

यहूदी धर्म और इस्लाम में अन्तर उनकी निष्ठा के बल से चला आता है। दोनों ही मूसा को नबी मानते हैं, पर यहूदी मूसा को सबसे बड़ा नबी मानते हैं। यहूदियों के अनुसार, मूसा ने ईश्वर की शारीरिक उपस्थिति का अनुभव किया, उसकी आवाज़ को सुना। इस्लाम इस बात को स्वीकार नहीं करता है कि मूसा ने साक्षात् रूप से ईश्वर की प्रकाशना को ग्रहण किया, क्योंकि ईश्वर स्वयं निराकार है। फिर यहूदी जितना तौरेत की प्रतिष्ठा करते हैं, उसे इस्लाम अत्यधिक श्रद्धा समझता है। अतः, इस्लाम और यहूदी दोनों धर्मों में मूसा को पैग़म्बर और मूसा के तौरेत को ईश्वर-प्रकाशना मानते हैं। इस्लाम के अनुसार मूसा और उनके तौरेत को आवश्यकता से अधिक मात्रा में यहूदी धर्म में उन्हें श्रद्धा का पात्र समझा जाता है। इसका कारण है कि यहूदी न तो पैग़म्बर मुहम्मद को पैग़म्बर मानते हैं और न ईसा को। फिर वे न इंजील और न क़ुरान को ईश्वर की प्रकाशना स्वीकार करते हैं। पुनः, यहूदियों में गुरुओं (Rabbis) और शास्त्रियों (Scribes) को बहुत बड़ा स्थान दिया जाता था, जो इस्लाम के अनुसार धर्म-विरुद्ध था। फिर कुछ यहूदी अन्य देवी-देवताओं (Teraphim) की पूजा करते थे जो यहूदी धर्म और इस्लाम दोनों के विरुद्ध बात थी। इन सब कारणों से पैग़म्बर मुहम्मद ने यरुशलेम को छोड़कर मक्का को धर्म स्थान चुना और मूसा से अधिक इब्राहिम नबी को धर्मदूत समझकर, उन्हें इस्लाम के सच्चे धर्म का संस्थापक भी माना है।[1]

इस्लाम और ईसाई धर्म

क़ुरान के अनुसार, ईसाई धर्म में एकेश्वरवाद को भ्रष्ट कर दिया गया है। सर्वप्रथम इसमें त्र्येक ईश्वर की बात कही गयी है और द्वितीय, ईसा को ईश्वर का पुत्र बताया गया है। पिता, पुत्र और पवित्र आतमा, तीनों को पुरुष मानकर फिर एक कहना युक्ति-संगत नहीं दिखता है। परन्तु यदि इन तीनों को पुरुष न मानकर ईश्वर की ये तीन स्थितियाँ मानी जायँ तो ईश्वर का एकत्व रह जाता है। अर्थात् अव्यक्त रूप ईश्वर, व्यक्त ईश्वर के प्रकाशन को पुत्र, तथा व्यक्त अथवा सृष्ट सत्ता के संचालन शक्ति को पवित्र आतमा की संज्ञा दी जा सकती है। ईसाई ईसा मसीह को ईश्वर का पुत्र साक्षात् शारीरिक रूप में नहीं मानते हैं। चूँकि ईसा मसीह अपने जीवन, अपनी शिक्षा और क्रूशीय मृत्यु के द्वारा ईश्वर को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि लोगों ने उसकी प्रशंसा अथवा प्रशस्ति हेतु उसे 'ईश्वर-पुत्र' की संज्ञा दी है। इसी बात को ईसाई धर्मदर्शन की भाषा में

1. Haridas Bhattacharya, **The Foundations of Living Faiths**, University of Calcutta, 1938, pp. 134-135.

ईसा को ईश्वर का प्रतीक कहा जा सकता है। क़ुरान में भी स्वीकारा गया है कि ईसा ईश्वर की पवित्र आत्मा के द्वारा जन्मे (सूरह १९.१७)। पर क़ुरान में ईसा को 'नबी' कहा गया है और इन्हें केवल मानव समझा गया है। यह भी क़ुरान में कहा गया है कि ईसा कुँवारी मरियम से पैदा हुए।

अतः, इस्लाम और ईसाई धर्म में 'ईसा-विचार' के सन्दर्भ में केवल शब्दों का अन्तर है, मौलिक अन्तर नहीं है।

फिर क़ुरान के अनुसार ईसा क्रूश पर नहीं मारे गये (सुरह ४:१५५), पर स्वीकारा जाता है कि अन्य नबियों के समान ईसा स्वर्ग में हैं और मिराज में पैग़म्बर ने उन्हें स्वर्ग में देखा।

पुनः, मुसलमानों में ईसा का द्वितीय आगमन भी प्रायः स्वीकारा जाता है।

पर ईसाई पैग़म्बर मुहम्मद को नबी नहीं स्वीकारते हैं। फिर ईश्वर का चित्रण ईसाइयों के लिये प्रेमी उद्धारक का है और ईसाई को अपने प्रेम को वैसा ही अभेदपरक कर लेना चाहिये जैसा ईश्वर का प्रेम है। ईश्वर मानव से बिना किसी भेद के प्रेम करता है और धर्मी, अधर्मी दोनों को सूर्य-प्रकाश, वर्षा इत्यादि एकरूप से देता रहता है (मत्ती ५:४५)। ईश्वरीय प्रेम प्राप्त करने पर वह मानव-सेवा में परिणत होता है, जैसा मदर तेरेसा के जीवन-कार्य में देखा जाता है।

इस्लाम के प्रारम्भ काल में ईसाई-यहूदियों और इस्लाम में स्वर्ग-नरक, स्वर्गदूत इत्यादि को प्रायः एक समान माना जाता था। पर वैज्ञानिक कसौटी पर बार-बार कसे जाने के बाद कम से कम ईसाई धर्म में बहुत अधिक अन्तर आ गया है। उदाहरणार्थ, कुछ मूलवादियों को छोड़कर शायद ही ईसाई विचारक कहेगा कि बाइबिल की एक प्रति असली रूप में स्वर्ग में है और प्रचलित बाइबिल उसकी मात्र नकल है। जिस प्रकार कुछ इस्लामी दार्शनिक और डॉ० इक़बाल नरक को कोई लोक नहीं, वरन् मानव-विकास की मात्र दशा समझते हैं, वही बात अब ईसाई भी मानते हैं।

अतः, इस्लाम और ईसाई धर्म के बीच सैद्धान्तिक एकता सन्निकट भविष्य में सम्भव हो सकती है।

अध्याय : ९

सिख धर्म

मुख्य लक्षण

'सिख' शब्द 'शिष्य' का अपभ्रंश है। इसलिये यह वह धर्म है जिसे गुरुओं ने चलाया और जिसे शिष्यों तथा अनुयायियों ने स्वीकार किया। इसलिये इसे 'गुरु-शिष्य' संबंध से उत्पन्न धर्म कहा जा सकता है। इस धर्म के दस गुरु हुए हैं, अर्थात्

गुरु नानक (सन् १४६९–१५३९)
गुरु अंगद (सन् १५०४–१५५२)
गुरु अमरदास (सन् १४७९–१५७४)
गुरु रामदास (सन् १५३४–१५८१)
गुरु अर्जुन (सन् १५६३–१६०६)
गुरु हरगोबिन्द (सन् १५९५–१६४५)
गुरु हर राय (सन् १६३१–१६६१)
गुरु हर कृषण (सन् १६५६–१६६४)
गुरु तेगबहादुर (सन् १६२२–१६७५)
गुरु गोबिन्द सिंह (दिस० २६,१६६६–अक्टूबर ७, १७०८)

गुरु नानक का संदेश शुद्ध आध्यात्मिक था और इस रूप में इन्हें रामानुज, रामानन्द चैतन्य, नामदेव, तुकाराम, मीराबाई और कबीर के समकक्ष भक्ति-परंपरा में रखा जा सकता है। चूँकि पाँचवें और नवें गुरुओं को उनके धर्म के आधार पर मार डाला गया, इसलिये सिखों में युद्ध और विरोध की भावना उद्दीप्त हुई। गुरु गोबिंद सिंह ने शान्त भक्तों को योद्धा बनाकर विश्व-विख्यात 'खालसा' का नाम प्रचलित किया है। गुरु गोबिन्द सिंह का कहना था कि जब सब उपाय विफल हो जायँ तब तलवार उठाना धर्म कहा जायगा।

गुरु नानक ने अपने मत में हिंदू धर्म और इस्लाम दोनों से लेकर दोनों के बीच समन्वय करने का प्रयास किया है। आप को फारसी, हिंदी तथा पंजाबी इत्यादि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था और आपने अपनी रचनाओं को राग-रागिनी के उपयुक्त बनाकर इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। इसलिये इनकी रचनाओं को ठीक-ठीक रूप से स्पष्ट करने में मत-मतान्तर का रहना स्वाभाविक है। आपके उपदेश के भाव और भाषा दोनों में इस्लाम, वेद, भक्ति इत्यादि स्पष्ट दीखती है। इसके बावजूद सिख-धर्म वास्तव में हिंदू धर्म का ही परिष्कृत और सुधारात्मक रूप है। सिख धर्म को इसलिये

हिंदू परंपरा में गिना जायगा, क्योंकि इसमें भी कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तंभ पाये जाते हैं। गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं के संदेश में कर्म और पुनर्जन्म की भावनाओं को अंतिम रूप में स्वीकारा गया है। पर चूँकि आपका संदेश मुसलमानों के लिये भी था, इसलिये गुरु नानक की रचनाओं में न्याय-दिवस[1], आदेश-मात्र से सृष्टि का होना[2] तथा लेखा-जोखा रखनेवाले स्वर्गदूतों की भी चर्चा की गयी है[3]। हाँ, सिख धर्म संपूर्णतया एकेश्वरवादी है और संभवतः इसे इस्लाम से ही लिया गया है। फिर इस्लाम से प्रभावित होकर सिख धर्म में मूर्तिपूजा और जातिभेद (वर्णविचार, caste) का विरोध किया गया है। अतः, कहा जा सकता है कि इस्लाम के एकेश्वरवाद को अपनाकर गुरु नानक ने हिंदू धर्म में सुधार का प्रयास किया है, जिसे आगे चलकर आर्य समाज ने भी अपनाया है। पर पाखंड के विरुद्ध, होने के कारण गुरु नानक ने अपने को 'हिंदू' नहीं कहा है और अपने को सभी पंथों से अलग माना है।[4] आपने कबीर के उस भजन को उद्धृत किया जिसके आधार पर आपने वेद और क़ुरान, दोनों को स्वीकार नहीं किया है। फिर आपको वैष्णव मत भी स्वीकृत नहीं था। आपने दयालु ईश्वर की दया को ही अपने धर्म का आधार माना है।[5]

गुरु नानक ने मूर्तिपूजा, पाखंड, वर्ण-विचार के आधार पर बहिष्करण अथवा जाति के आधार पर एकाधिकार, सती, मादक द्रव्य-सेवन, तम्बाकू, तीर्थस्थान के प्रति तीर्थयात्रा इत्यादि के विरुद्ध आवाज उठायी थी। फिर न्याय, सत्यता, ईमानदारी, दान, पक्षपात-रहित भाव, कृतज्ञता आदि के पक्ष में अपने मत को स्पष्ट किया है। अतः गुरु नानक ने इस्लाम और हिंदू धर्मों के पाखंड और बुराइयों को दूर कर दोनों की अच्छाइयों को संरक्षित रखने का प्रयास किया है। आरंभ में गुरु नानक के संदेश को हिन्दू और मुसलमान दोनों ने स्वीकार किया। इसलिये कहा गया है :

गुरु नानक शाहे फकीर,
हिंदू का गुरु, मुसलमान का पीर।

कहा जाता है कि गुरु नानक के शव को हिंदू और मुसलमान, दोनों ही लेकर उसकी

---

१. Max Arthur Macauliffe, **The Sikh Religion**, Vols. I-VI, Oxford 1909, pp. XXXIV, 14, 215, 217, 357 (भाग १)।

२. वही, पृ० १६४।

३. वही, XXVII, २०६, २१०।

४. M.A. Macauliffe, वही, पृ० १७९।

५. M.A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० १७७।

अंतिम क्रिया करना चाहते थे। पर शव के बदले उन्हें केवल फूल ही मिले जिसकी सुरभि आज भी खोजियों के लिये प्राप्य है।[1]

इसमें संदेह नहीं कि गुरु नानक ने सिख मत की स्थापना की। उनकी रचनायें भी अनेक और विविध हैं। पर वे व्यवस्थित नहीं थीं। गुरु अर्जुन (सन् १५६३–१६०६) ने इसे क्रमबद्ध कर गुरुग्रन्थसाहेब[2] की रचना की। फिर अमृतसर में स्थित गुरुद्वार को पूरा करके इसे पवित्र स्थल बनाया। गुरु नानक ने लगभग सभी धर्मपंथों की परीक्षा की थी और सभी देवी-देवताओं पर ध्यान लगाया था। पर उन्होंने सभी को अनित्य पाया और पंथों को पाखंडियों का अखाड़ा समझा था। गुरु अर्जुन ने इसे स्पष्ट कर अपने को हिंदुओं से अलग माना है।

> 'मैं न हिंदू-व्रत रखता हूँ और न रमज़ान का रोज़ा, मैं केवल एक की सेवा करता हूँ जो मेरा शरणस्थान है, मेरा स्वामी अल्लाह भी है।
> पर मैं हिंदू और मुस्लिम से छिटक गया हूँ, मैं हिंदू के साथ पूजा नहीं करता और न मुसलमान के समान मक्का जाऊँगा, मैं न मूर्ति से प्रार्थना करूँगा, न पढ़ूँगा नमाज,
> मैं अपने हृदय में सर्वोच्च सत्ता के चरण को रखूँगा,
> क्योंकि न हूँ मैं हिंदू और न हूँ मुसलमान।'[3]

सबसे प्रसिद्ध गुरु गोबिन्दसिंह हैं, क्योंकि आधुनिक स्तर पर उन्होंने ही शान्तप्रिय भक्त सिखों में योद्धापन की श्वास फूंकी, जिसने अभी भी उन्हें संसार के सर्वश्रेष्ठ योद्धा का रूप दे दिया है। गुरु गोबिन्द सिंह ने आनंदपुर में सन् १६९९ में सिखों की सभा बुलायी। उनमें से पाँच को चुन लिया जिन्हें 'पंज प्यारा' कहा गया है। ये पाँचों विभिन्न हिंदू जातिभेद के वर्णों के थे। इन्हें अमृत (शक्कर में घुले शर्बत) को एक ही प्याले से पिलाया और इन्हें 'सिंह' का उपनाम दिया, अर्थात् नरों में सिंह-हृदय वाले साहसी और वीर। इन्हें **खालसा** (शुद्ध) पुकारा गया और पंच ककार व्रत को अपनाने का आदेश दिया है, अर्थात् केश (सिर के बाल, दाढ़ी और मूँछ को काटने का आदेश), कंघा, काछा (धारण करना, जो मल्लयुद्ध का चिह्न है) और कड़ा (लोहे का कड़ा जो अनिष्ट को हटाने के लिये दाहिने हाथ में धारण करना) और कृपाण (धारण करना) का व्रत। तब इन पाँचों को जलसंस्कार की प्रथा से शुद्ध किया और अंत में इन पाँचों से अपना भी जलसंस्कार किया। तब इन सबों ने एक-दूसरे को—

---

१. M. A. Macauliffe, भाग १, पृ० १९०-१९१।

२. 'साहेब' से अर्थ महान् अथवा 'पवित्र' (Holy) का है।

३. Khushwant Singh, **The Sikhs Today,** Sangam edition, 1976, p. 5.

'वाह गुरु जी का खालसा,
वाह गुरु जी की फतह'

कहकर उनका आह्वान् किया ।[१]

'सिंह' कहकर सिखों को वीर-परिवार की संज्ञा दी । एक ही प्याले से अमृत-पान कराकर तथा एक ही परिवार का सदस्य बनाकर गुरु गोविंदसिंह ने वर्ण-विचार को हटाने का व्यावहारिक कदम लिया । आज भी गुरद्वारे के लंगर में सभी जातियों के लोग एकसाथ भोजन करते हैं ।

अधिकतर सिख 'खालसा' कहाते हैं और इन्हें छोड़कर थोड़े से सिख 'सहजधारी' कहाते हैं जो पंच ककार नहीं मानते हैं ।

गुरु का स्वरूप या स्थान

गुरुओं ने अपनी वाणी ईश्वर के संदर्भ में काम में लायी । पर उनमें से किसी ने न तो अपने को पैगम्बर कहा और न ईश्वर का अवतार । स्वयं गुरु नानक ने कहा, 'मैं प्रकृति-विधान में आया और ईश्वर की इच्छा के अनुसार अपने समय पर चला जाऊंगा ।' इन गुरुओं ने अपने को ईश्वर का 'दास' कहा है । इनका कहना है कि ईश्वर जन्म नहीं लेता है और फिर ठीक क़ुरान के समान इनका कहना है कि ईश्वर शारीरिक रूप से किसी को भी जन्म नहीं देता है । फिर गुरु गोविंद सिंह ने कहा है कि जो उन्हें देवता या ईश्वर कहेंगे वे अभिशप्त होकर विनाश को प्राप्त करेंगे । इनका कहना है कि वह (ईश्वर) जो आदि और अकाल है वह कैसे उनके द्वारा प्रगट हो सकता है जो जन्म लेकर मरते हैं ? दूसरे शब्दों में अनंत और अकालकालिक एवं मरणशील व्यक्ति का रूप नहीं धारण कर सकता है । पर गुरु का धर्म है कि वह पथदर्शक हो । अतः, अंतिम गुरु गोविंदसिंह ने गुरु-प्रथा को समाप्त कर श्री गुरुग्रन्थसाहेब को अंतिम गुरु माना है । सर्वप्रथम कोई ग्रन्थ को ईश्वर नहीं मानेगा और फिर कोई अन्य सिख गुरु अपने को ईश्वर अथवा 'ईश्वर के अवतार' की संज्ञा नहीं दे पायेगा । पर श्री गुरुग्रन्थ इस रूप में सबका मार्ग दर्शन करता है कि किसी अमुक समस्या के समाधान हेतु सिख ग्रन्थ-साहेब को बंद कर खोल लेते हैं । जो भी पाठ उस खुले पृष्ठ पर मिले वह उससे अपनी समस्याओं का समाधान कर लेते हैं ।

आदिग्रन्थ अथवा ग्रन्थसाहेब

पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु अर्जुन ने गुरु नानक इत्यादि की वाणियों को समाकलित कर आदि अथवा ग्रन्थसाहेब की रचना की । इस ग्रन्थसाहेब का भी वही स्थान है जो बाइबिल, क़ुरान, वेद का है । अतः, सिख धर्म को हिंदू धर्म से अलग रखने में ग्रन्थसाहेब का प्रमुख स्थान है ।

---

१. Khushwant Singh, वही, पृ० ६-७ ।

इस ग्रन्थसाहेब में लगभग ६००० पद हैं जिन्हें १४५० पृष्ठों में छापा गया है। इसमें कबीर, फरीद तथा नामदेव की रचनाओं और उनके भाव भी इस आदि ग्रन्थ में समाविष्ट किये हुए हैं। फिर पुरुष-सूक्त (ऋग्वेद १० : ९०), ऋग्वेद १० : १२१ (हिरण्यगर्भ) तथा १० : १२९ (नासदीय सूक्त) की छाप गुरु नानक की रचना[१] में स्पष्ट दिखती है। इस आदि ग्रन्थ की भाषा में भी संत साहित्य की छाप देखने में आती है। यह पुस्तक गुरुमुखी में संतभाषा में लिखी गयी है जिसे संगीत अथवा भजन के रूप में गाया जा सकता है।

ग्रंथसाहेब को प्रमुख स्थान गुरद्वारा, सिख मंदिर तथा धनी सिखों के घरों में दिया जाता है। गुरुग्रंथसाहेब सभी सिखों की श्रद्धा का पात्र है, पर इसे देवी-देवताओं के समान पूजा नहीं जाता है। सिख धर्म में मूर्ति-पूजा का कहीं स्थान नहीं है।

अतः, सिख धर्म में वाहेगुरु, गुरु और गुरुग्रन्थसाहेब के त्रिरत्न पाये जाते हैं।

गुरुग्रन्थसाहेब में जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानंद, साधन, वेनी, रामानंद, पीपा, साईं, कबीर, रैदास, सूरदास के भजन भी सम्मिलित हैं। मुसलमान भक्त फरीद और भीखन के भजन भी ग्रंथसाहेब में लिखे हैं। प्रायः ये संत शुद्ध एकेश्वरवादी और मूर्तिपूजा के विरोधी थे। M.A. Macauliffe ने Sikh Religion के भाग ६ में इन भजनों का और इन संतों का भी उल्लेख किया है।

ईश्वर-विचार

गुरु नानक द्वारा जुप जी (जप जी) सबसे मुख्य भजन है जिसे प्रतिदिन प्रातःकाल गाया जाता है और जिसे सिख धर्म का कुंजी-भजन और ज्ञान समझा जाता है। इस जुप जी की प्रथम पंक्ति में ही ईश्वर-प्रत्यय को व्यक्त किया गया है।

> '१ (एक) ओंकार सत्नाम करता पुरुष निरभव (निर्भय) निरवैर अकाल मूरत अजूनी (अजन्मा) सैभंग (स्वयंभू) गुरु प्रसाद।'

यह एक ईश्वर आदि में था, है और रहेगा। इस ईश्वर को निरंकार जुप जी XVI–XIX[२] में बार-बार निरंकार बताया गया है। फिर उसे सृष्टिकर्ता, सर्वशक्तिमान, सर्वदाता, अद्भुत बताकर एकेश्वरवाद की पुष्टि की गयी है। अतः, ईश्वर निरंकार भी है और सगुण भी है। उसका सगुण रूप गौण है, पर निर्गुण रूप नित्य, शाश्वत, अनादि और अजन्मा है। स्वयं गुरु नानक तथा इनकी परंपरा में अन्य गुरु भी भक्त और कवि थे। इसलिये ईश्वर के इन दोनों पक्षों की चर्चा की गयी है। भक्त बिना ईश्वर के नहीं रह सकता है और ऐसा ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण ही हो सकता है। पर गुरु ऐसे ईश्वर की

---

१. M.A. Macauliffe, वही (भाग १) पृ० LXI, १६५-१६७ तथा पृ० २०६ की रचनाओं को देखें।

२. M. A. Macauliffe, वही, पृ० २०२–२०५।

कल्पना करते हैं जो किसी संप्रदाय विशेष की वस्तु न हो जाय। इसलिये ईश्वर को निरंकार तथा सत्‌नाम बताकर ऐसी परम सत्ता की ओर निर्देश किया गया है जो सभी देवी-देवताओं के आधार में है। गुरु नानक ने बताया कि 'सतनाम्' सभी देवताओं का परमेश्वर है। फिर कोई दुर्गा, कोई शिव भगवान् और कुछ गणेश की पूजा करते हैं। पर गुरु नानक ने एक सत्यनाम की पूजा बताकर इन सब देवताओं के बीच के भेद को हटा दिया है।[1] फिर बताया है कि ईश्वर के प्रसाद (अनुग्रह) से ही भक्तों को सत् नाम का ज्ञान प्राप्त होता है।[2] इसलिये गुरु नानक बार-बार बताते हैं कि परम गुरु (ईश्वर) ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा, पार्वती, लक्ष्मी और सरस्वती हैं।[3] पुनः जुप जी में गुरु नानक ने बताया है कि ईश्वर ने अपनी मायाशक्ति से अपनी तीन संतान, अर्थात् सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा), सृष्टिपालक (विष्णु) और सृष्टि-संहारक (शिव) को उत्पन्न किया है।[4] अपितु जुप जी, भजन ३५ में बताया है कि कृष्ण, शिव, सिद्ध, बुद्ध तथा नाथ और अनेक देवियाँ केवल एक सत्‌नाम अथवा शुद्ध नाम के प्रतीक मात्र (representations) हैं। शायद गुरु नानक के ईश्वर-वर्णन का असली अभिप्राय यही था कि बिना किसी न किसी प्रतीक के मानव निर्गुण, निरंकार एक ईश्वर की पूजा नहीं कर सकता है। परंतु ये प्रतीक उस एक वर्णनातीत परमेश्वर की ही ओर संकेत करते हैं जिसे केवल ज्ञानी ही अपने हृदय में रख सकते हैं।

निर्गुण होते हुए भी निरंकार परमेश्वर के काम, दान, रंग-रूप और मूल्य अनेक, बहुमूल्य और वर्णनातीत हैं। वेद, पुराण, ब्राह्मण, इन्द्र, कृष्ण और गोपियाँ, सभी उसी एक ईश्वर का वर्णन करती हैं। सिद्ध और बुद्ध पुरुष जिन्हें ईश्वर ने ही उत्पन्न किया है, वे भी उसी का बखान करते हैं। देवता और राक्षस, मानव और मुनि सभी उसी एक ईश्वर का बखान करते हैं। हवा, पानी, अग्नि, यमराज, शिव, ब्रह्म और देवी, सभी तेरी स्तुति करते हैं। फिर भी उसका पूरा और सही बखान नहीं हो सकता है।[5]

इसी एक सत्‌नाम के स्मरण करने पर मानव सिद्ध, पीर, सूर और नाथ बन जाते हैं। इसी सही नाम को समझ लेने पर शोक मिट जाते और आनन्द का संचार हो जाता

---

१. M.A. Macauliffe वही, पृ० १३८ (भाग १)।

२. M.A. Macauliffe, वही, पृ० १५४ (भाग १)।
वास्तव में देखा जाय तो यह शंकर का ब्रह्म-ज्ञान है जिसमें सभी इष्ट-देवताओं का विलयन हो जाता है। ऐसा ज्ञान ईश्वर की कृपा से होता है।

३. M.A. Macauliffe, (भाग १) वही, पृ० १९८, १९९, २१०, २१३, २१५।

४. वही, पृ० २१३।

५. M.A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० २०९-२११।

है। इसी एक नाम के सुनने पर मानव शिव, ब्रह्मा और इन्द्र बन जाते हैं। इसी नाम से योग और शरीर का रहस्य प्राप्त हो जाता है और मानव शेख़, पीर और सम्राट् हो जाते हैं। इसी नाम के सुनने से पाप और दुःख दूर हो जाते हैं। इसी ईश्वर के द्वारा सभी धर्म उत्पन्न होते हैं, पर कोई भी मानव उस पूर्ण परमेश्वर में कुछ भी धर्म और गुण नहीं जोड़ सकता है।[1]

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसकी कथा भी वर्णनातीत, उसकी दया और दान की कोई सीमा नहीं है। जिस किसी पर उसकी दया और कृपा होती, उसे वह अपना दान देता रहता है। जिसे वह चाहता है उसे वह प्रभु-गुण की स्तुति करने का वरदान देता है। पुनर्जन्म देना या उससे छुटकारा, ये दोनों उसकी ही इच्छा पर निर्भर करते हैं।[2]

कर्मवाद और पुनर्जन्म, दोनों को गुरु नानक स्वीकार करते हैं[3]। बिना पूर्वजन्म के संस्कार के कुछ प्राप्त नहीं हो सकता है[4]। पर गुरु नानक के अनुसार पुनर्जन्म और मुक्ति दोनों ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करते हैं[5]। इस अर्थ में ईश्वर कर्म-नियम का भी संचालक और उसका प्रभु है, जो गीता के मत से मेल खाता है।

इस्लाम से प्रभावित होकर गुरु नानक और अन्य गुरुओं ने एकेश्वरवाद को पूर्णतया स्वीकारा है। फिर सिख धर्म में मूर्तिपूजा की घोर निंदा की है। गुरु अमरदास ने मूर्तिपूजा की निंदा में लिखा है :

> 'वे मानव और उनका निवास-स्थान अभिशप्त हों जो विकृत देवताओं की पूजा करते हैं। वे अमृत को त्यागकर विष पान करते हैं। उनका भोजन विष, उनका वस्त्र विष, उनके मुँह के निवाले विष होते हैं। इस जीवन में वे दुःखपूर्ण रहते और मरने के बाद नरक में वास करेंगे'[6]।

गुरुग्रंथसाहेब में ईश्वर को निराकार, आदिपुरुष, अकालपुरुष, सत्पुरुष तथा कर्तापुरुष कहा गया है। वाहे गुरु, वाहे गुरु (ईश्वर) को आदि, मूल, शुद्ध, अनादि अविनाशी तथा त्रिकालीन 'जप जी' में XXVIII से XXXII बताया गया है[7]। पर साथ ही साथ ईश्वर को सगुण भी बताकर उसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहा गया है।

---

१. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० २००-२०१।
२. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० २०८, २०९।
३. Khushwant Singh, Ibid, p. 16.
४. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० १८८, १९९।
५. M. A. Macauliffe, वही, पृ० २०६, २०९।
६. M. A. Macauliffe, वही, भाग २, पृ० २१७।
७. M. A. Macauliffe, भाग १, वही, पृ० २१३-२१४।

यह भी कहा गया है कि कृष्ण, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सिद्ध, बुद्ध और नाथ ये सब उसी एक सत्नाम निरंकार के प्रतीक मात्र हैं[1]। कहने का तात्पर्य है कि सत्नाम दोनों है निर्गुण और सगुण।

निर्गुण और सगुण एक
सरगुन (सगुण) निरगुन थापै नाओ,
दुह मिलि एकै कीनो थाओ (ग्र० सा० ३४७)।

वास्तव में मूलमंत्र ओंकार में दोनों एक ही दिखते हैं। जो वर्णनातीत है उसे भक्त कैसे अपने हृदय में रखें? इसलिए अपने-अपने स्वभाव-गुण के अनुसार, प्रत्येक भक्त उस निरंकार को कोई एक रूप देकर भजते हैं। पर अन्त में, जैसा गीता में ४.११, ७.२१ में कहा गया है, ये सब साकारी देवी-देवता उसी एक वर्णनातीत, निरंकार के मात्र प्रतीक हैं। जो इन साकारी देवी-देवताओं के मर्म को जानते हैं, वे ही उस सत्नाम को अपने हृदय में जपते हैं और इसी सत्नाम के रहस्य को जानकर पुनर्जन्म से पारकर उसमें लय हो जाते हैं। अतः सिख में ईश्वर भावना गीता, शंकर, पॉल तीलिख तथा विट्गिन्स्टाइन के मत से मेल खाती है।

सिख धर्म में जगत् विचार

मेकौलिफ़ ने The Six Religion के प्रथम भाग (पृ० १६४-१६७) में गुरु नानक के उस भजन को प्रस्तुत किया है जिसमें ऋग्वेद के ९०, १२१ तथा १२९ सूत्रों का स्पष्ट निर्देश देखने में आता है तथा इसके साथ ही कुरान में दी गयी सृष्टि का भी आभास मिलता है। इस भजन में बताया गया है कि आदि में घोर अंधकार था और न पृथ्वी थी न आकाश, न दिन न रात, और ईश्वर शून्य में रहकर उसका ही ध्यान करता था। तब ईश्वर ने सृष्टि रचना की और उसे वास्तविकता प्रदान की। अतः जगत् की अपनी यथार्थता है और ईश्वर इस सृष्टि में अन्तर्व्यासकर इसका पालन करता है। उसने अपने मुख की वाणी से आकाश और पृथ्वी बनायी और फिर सूर्य-चाँद बनाया।

ईश्वर द्वारा रचित् जगत् यथार्थ है और इस दृष्टि से जगत् को अयथार्थ मानकर इसे ठुकराना नहीं चाहिये[2]। यह जगत् मानव की कर्मभूमि है जहाँ मानव ईश्वर की आज्ञा पालनकर अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त किया है। इस जगत् को वास्तविक जानकर आठवें गुरु को छोड़कर १० में से ९ गुरुओं ने गृहस्थाश्रम में रहकर अपना जीवन व्यतीत किया[3]। जप जी के ३१ वें भजन में गुरु नानक ने कहा कि सृष्टिकर्ता अपनी

१. M. A. Macauliffe, भाग १, वही, पृ० २१५।
२. Daljeet Singh, **Sikhism**, Sterling Publishers, 1979, p. 195 और इसे गुरुग्रन्थ पृ० ६११ का उल्लेख किया है।
३. Daljeet Singh, वही, पृ० १९७।

सृष्टि को यथार्थ मानकर इसका अवलोकन करता है। यह सृष्टि सत्य ईश्वर की सत्य रचना है[1]। फिर जप जी भजन २७ में लिखा है कि यह सृष्टि ईश्वर के हाथ की रचना है जो उसकी महानता को सिद्ध करती है[2]।

क्या सृष्टि शून्य से उत्पन्न हुई है या पूर्वस्थित भूततत्वों से ? दोनों ही विकल्पों का उल्लेख आता है। यदि कहा जाय कि यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड केवल ईश्वर के हुकुम से उत्पन्न हुआ है, तो इस सृष्टि को शून्य से उत्पन्न माना जायगा। परन्तु गुरु नानक ने बताया है कि जगत् चार से नहीं, वरन् पाँच तत्वों से ईश्वर ने इस जगत् की रचना की है[3]। यह वाहेगुरु की अद्भुत और आश्चर्यजनक रचना अथवा कुदरत है जिसे अज्ञानी और मूढ़-मति नहीं समझ पाते हैं। पर गुरुवाणी से तथा सद्गुरु के द्वारा सिखाये जाने पर, सृष्टि की आवाज को ईश्वर की आवाज समझा जा सकता है। गुरु-शिक्षा से मानव समझता है कि ईश्वर सब जगह है और सभी में समाया है[4]। दूसरे शब्दों में, जब तक प्रकृति को ईश्वर की क़ुदरत और उसकी चेरी न समझा जाय तब तक प्रकृति का सही ज्ञान हो नहीं सकता है। 'प्रकृति के सही ज्ञान' से अभिप्राय धर्म-ज्ञान तथा धार्मिक दृष्टि का होना समझना चाहिये। यह ठीक है कि जगत् ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है, इसकी अपनी कोई वास्तविकता नहीं है। केवल एक ईश्वर ही स्वयंभू और शाश्वत है। ईश्वर इस जगत् की इसलिये रचना करता है कि जीवों को अवसर मिले कि वे अपना उद्धार प्राप्त कर सकें[5]।

अतः, सिख धर्म केअतुसार, जगत् माया अथवा स्वप्नवत् नहीं है। यह उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार ईश्वर है क्योंकि ईश्वर जगत् की रचना करता है और फिर इसमें समाकर इसका प्रतिपालन करता है। पर वास्तव में जगत् मायाजाल है या मुक्ति का कार्यक्षेत्र है, यह मानव की अपनी स्थिति पर निर्भर करता है। इसलिये जानना चाहिये कि मानव का असली स्वरूप क्या है। क्या उसे मनमुख रहना चाहिये या गुरुमुख ? यदि गुरुमुख रहना चाहिये तो इसे कैसे प्राप्त किया जाय ? अतः, अब सिख धर्म में जीव-विचार पर ध्यान देना चाहिये।

जीव-विचार

जीव ईश्वर का ही लघु रूप माना गया है। ईश्वर परम ज्योति है जिससे जीवात्मा चिंगारी के समान निकलती है। यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर समुद्र के समान

---

१. M. A. Macauliffe, भाग १, वही, पृ० २१४।
२. M. A. Macauliffe, वही, पृ० २१२।
३. M. A. Macauliffe. वही, पृ० १७८।
४. M. A. Macauliffe, वही, पृ० १९८।
५. Daljeet Singh, Ibid, pp. 194, 195; ग्रं०साहेब ७५१।

अथाह और असीम है और जीवात्मा उसकी तुलना में ग्लास में रखे हुए जल के समान है। इस ग्लास को जिसमें जलरूप मानव की अमर आत्मा घिरी हुई है, उस सूक्ष्म शरीर की संज्ञा दी जा सकती है। जब तक यह सूक्ष्म शरीर भी नहीं लय होता है तब तक जीवात्मा जन्म-जन्मान्तर के चक्कर में पड़ा रहता है।[1] अतः, जानना चाहिये कि क्यों जीवात्मा संसार के चक्कर में भ्रमण करता रहता है और दुःखपूर्ण चक्कर से पार हो सकता है।

जीवात्मा की दो दशायें हैं, अर्थात् मनमुख और गुरुमुख। मन-मुख वह दशा है जिसमें जीव अपने स्वार्थ और अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करता है। इसके विपरीत गुरुमुख वह दशा है जिसमें जीव अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा में समर्पित कर अंत में अपनी परम गति को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर को अपनी इच्छा के समर्पण की बात ईसाई धर्म, इस्लाम तथा गीता और रामानुज की भक्ति-परंपरा में एक समान चली आती है। इन दो दशाओं को स्पष्ट करने के लिये हौमें-प्रत्यय का बोध कराया गया है।

हौमें-प्रत्यय कुछ कठिन मालूम देता है, पर मानव का यह वह स्वरूप है जिसमें जीव अपने अहंकार, अपनी इच्छा और अपनी पाशविक वृत्तियों के अनुसार जीवनयापन करता है। दूसरे शब्दों में, जब जीव ईश्वर के ज्ञान से विमुख होकर अपने अहंकार (अहंभाव) की संतुष्टि निमित्त कार्य करता है तो इसे उसकी हौमें की दशा बतायी जा सकती है।[2]

हौमें की स्थिति में जीव मन-मुख रहता है और क्रोध, लोभ, मोह, काम और अहंकार से ग्रस्त रहता है। इस स्थिति को अज्ञान एवं माया की दशा भी कहा जा सकता है। इस स्थिति में जीव अपने को ईश्वर से पृथक् मानता है और इसलिये यह स्थिति मानव के बंधन और सांसारिक चक्र में चक्कर खाने का मुख्य आधार है। अतः मानव की इस स्थिति में दुःख भोगना अनिवार्य है। पर ईश्वर नहीं, वरन् मानव स्वयं अपनी ही इच्छा से दुःख में पड़ता है और जगत् की आनी-जानी को दुःखपूर्ण मानता है। यदि गुरुप्रसाद से जीव मनमुखो न होकर गुरुमुखी हो जाय तो यही संसार उसे अद्भुत

---

१. M. A. Macauliffe, वही, LXVIII–LXIX.

२. हमें भूल नहीं जाना चाहिये अद्वैत वेदान्त, बौद्ध तथा रामानुज के दर्शन में भी अहंभाव के विलयन की बात कही गयी है। गुरु नानक इस हिन्दू परंपरा से अवगत थे और इसलिये हौमें का यह सही अर्थ हो सकता है। देखें, Nirmal Kumar Jain, **Sikh Religion and Philosophy,** Sterling Publishers, 1979, pp. ६६-६७; Daljeet Singh, Ibid pp. १९८-१९९।

और आश्चर्यजनक ईश्वर की रचना दिखाई देगा। अपनी इच्छा को ईश्वर में समर्पित कर भक्त जीव संसार के लोक-कल्याण हेतु काम करने लगता है। याद रखना चाहिये कि सिख धर्म के अनुसार मानव जीवन एक बहुमूल्य अवसर है जिसमें मानव अपनी इच्छा को ईश्वर को समर्पित कर अपनी परम गति को प्राप्त कर लेता है। इस शुभ अवसर से लाभ नहीं उठाने पर उसे फिर जन्म लेना पड़ेगा। अतः, यह जगत और यह मानव जन्म धार्मिक कर्त्तव्यों का कार्यक्षेत्र और शुभ अवसर माना जा सकता है।[1]

यह संसार ज्ञानियों के लिये शुभ कार्य का कर्मक्षेत्र है, यह बोधिसत्व-सिद्धांत तथा अद्वैतवाद के सर्वमुक्ति-संदेश में बताया गया है तथा ईसाई धर्म से प्रभावित होकर रामकृष्ण आश्रम ने भी अपनाया है। तो भी स्वीकारना होगा कि संत परंपरा में यह सिख धर्म की अनूठी और अनुपम देन है। फिर जगत् माया अथवा सर्वथा दुःखपूर्ण है, यह भी सिख धर्म में नहीं बताया जाता है। गुरुमुखी को जगत् ईश्वर की आश्चर्यजनक रचना, उसकी चेरी और अद्भुत लीला है जो ज्ञान ईश्वर-भक्ति में सहायक होता है।

अंतिम गति को प्राप्त करने के लिये गुरु की आवश्यकता पड़ जाती है। इसलिये गुरु के स्वरूप को भी समझना चाहिये। सिख-धर्म में त्र्येक गुरु (Trinity) की शिक्षा दी गयी है, अर्थात् ईश्वर परम गुरु है। उस परम गुरु को जाननेवाले धार्मिक, शिक्षा और ज्ञाता दस गुरु हुए हैं। अंत में, गुरुग्रंथसाहेब सब समय के लिये मार्गदर्शक स्वीकारे गये हैं। गुरु के तीन रूप भारतीय परंपरा में माने गये हैं। न्यायदर्शन में ईश्वर को आदिगुरु माना गया है क्योंकि ईश्वर प्रत्येक नूतन सृष्टि में वे ही कुछ ऋषियों को प्रथम ज्ञान प्रदान करते हैं। फिर वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानी ही गुरु हो सकता है और बिना गुरु के अद्वैत ब्रह्म का मार्ग दूसरा नहीं बता सकता है। कबीर पंथ में भी गुरु-परंपरा पर बल दिया है। अंत में, जिस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने गुरुग्रंथसाहेब को अंतिम गुरु का स्थान प्रदान किया है, उसी प्रकार बुद्ध भगवान् ने बताया था कि बौद्धों को उनकी शिक्षा अर्थात् 'धर्म की शरण' लेनी चाहिये। पर इसमें संदेह नहीं कि गुरु-त्र्येक का सिद्धान्त सिख धर्म की अपनी अनूठी परंपरा है।

गुरु के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि किसी महान् धर्म-शिक्षक को 'गुरु' संज्ञा दी जाती है।[2] सच्चा गुरु वह है जो मानव और परम सत्ता के बीच मध्यस्थता करे[3] और जिसने अपनी पापवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर लिया।[4] फिर गुरु

---

१. M. A. Macauliffe, भाग ६, पृ० ३११ $न_2$ जिसमें बताया गया है कि मानव जीवन में ही मुक्ति मिल सकती है। इसलिये इस जीवन के सुअवसर को खो नहीं देना चाहिए।

२. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० ४ $न_3$।

३. M. A. Macauliffe, वही, भाग २, पृ० २५१ न।

४. M. A. Macauliffe वही, भाग ३, पृ० २६५ न।

वह है जो अपने शिष्यों की देखभाल करता है, अपने दासों पर करुणा रखता है, अपने शिष्यों की बुराइयों को दूर करता है। गुरु की शिक्षा के द्वारा शिष्य वाहेगुरु का नाम जपना सीखता है और अपनी जंजीरों से मुक्त हो जाता है। अंत में, गुरु वह है जो वाहेगुरु को अपने हृदय में रखता है और अपनी आत्मा को उसी को समर्पित करता है।[१]

अतः धार्मिक गुरु के द्वारा ही ईश्वर-विषयक ज्ञान होताहै, ईश्वर की आवाज शिष्यों तक पहुँचती है और वही बताता है कि वह सब जगह है और शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि भी वाहेगुरु ही है।[२]

अंतिम गति का स्वरूप

कबीर की एक रचना गुरुग्रंथसाहेब में उद्धृत की गयी है और उसमें चार प्रकार के मोक्ष का उल्लेख किया गया है। सिख विद्वानों के अनुसार ये चार प्रकार के मोक्ष हैं स्वर्ग-प्राप्ति, ईश्वर-सामीप्य, ईश्वर-सरीखे होना और ईश्वर के साथ सायुज्य।[3] ये चारों प्रकार की मोक्ष-गतियाँ रामानुज के विशिष्टाद्वैत में बतायी गयी हैं जिसमें भक्तों के व्यक्तित्व का संरक्षण होता है। फिर इसी रचना में कबीर ने बताया है कि एक ही ईश्वर अनेक दिखाई देता है और अन्त में अनेकता फिर उसी एकत्व में विलीन हो जायगी।[४] अतः, सिख विद्वानों में कोई मानव के लय-सिद्धान्त को और कोई संरक्षण-सिद्धान्त को अपनाते हैं। वास्तव में दोनों ही मत ग्रंथसाहेब में पाये जाते हैं।[५]

लय-सिद्धान्त शांकर मत तथा बौद्धों के निर्वाण में पाया जाता है। लय-सिद्धान्त को बताकर कहा गया है कि मानव ईश्वर से निकली चिंगारी है जो अंत में उसी परम ज्योति में विलीन हो जायगी। फिर कहा जाता है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार मानव भी ईश्वर में विलीन हो जाते हैं। साथ ही साथ बताया जाता है कि मानवों की अंतिम गति सच खंड (स्वर्गप्राप्ति) निवास है जहाँ प्रियजनों का मिलन होगा और वे परमानंद को प्राप्त करेंगे। चाहे विलयन हो अथवा स्वर्ग-प्राप्ति; दोनों ही स्थितियों में दुःख का अंत माना जायगा।[६]

लय-सिद्धान्त प्रायः रहस्यवादी भक्ति-परंपरा में पाया जाता है और लय का अर्थ

---

१. M. A. Macauliffe, वही, भाग ३, पृ० २५१।

२. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० १९८।

३. M. A. Macauliffe, वही, भाग ६, पृ० २५० न।

४. M. A. Macauliffe,, वही, भाग १, L।

५. **Linkage with God or Mass in God,** The Sikh Review 1983; Daljeet Singh, **Sikhism,** chap. 18.

६. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, LXIV-LXV.

होता है ईश्वर-प्राप्ति की पराकाष्ठा। इसी अभिप्राय से ईश्वर को मानव की अन्तरस्थ शक्ति कहा गया है। यही कारण है कि राम-भक्त तुलसीदास ने भी ईश्वर को 'स्वान्तः-रस्थ' कहा है। अतः, इस रूप में ईश्वर मानव की अपनी अन्तरात्मा है और जो अपनी अन्तरात्मा को जानेगा वह ईश्वर को भी पहचानेगा।

आप पचनै हर मिले—(ग्र. सा. १४१०-११)।

गुरमुख बूझाय एक लिवलाय, निज घर वासाय साच समाये—(ग्र. सा. २२२)।

पर क्या वास्तव में भक्त जीव का विनाश हो जाता है ? नहीं। अहंभाव क्षीण पड़ जाते और जीवन्मुक्त होकर—

ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप, जैसे जल माहि कमल अलेप—(ग्र. सा. २७२)।

इस स्थिति में 'काय मित्र सतर समान' (ग्र. सा. २७२)। चूँकि सिख धर्म में समाज-सेवा और राजनैतिक सुधार पर भी बल दिया गया है, इसलिये सिख विद्वान् सच-खंड-निवास तथा ब्रह्म-लय, दोनों को एक ही मानते हैं।

मुक्ति-मार्ग

सिख धर्म में कर्मवाद स्वीकारा गया है, पर नियतिवाद को नहीं। अपने ही कर्म के अनुसार, मानव को ईश्वर द्वारा शरीर मिलता है और जब जीव को मानव-शरीर मिलता है तो उसके अनुग्रह को प्राप्त करके जीव मुक्ति प्राप्त करता है।[1] अतः कर्म के अनुसार ईश्वर जीवों को शरीर प्रदान करता है, यह मत रामानुज का भी है। फिर पूर्व नियतिवाद के विरुद्ध मानव के इच्छा-स्वातंत्र्य को स्वीकारा गया है। जप जी में गुरु नानक ने स्पष्ट कहा है कि मानव स्वयं बीज बोता है और उसका ही फल खाता है।[2] फिर कहा है।

> 'अपने शरीर को खेत बनाकर उसमें अच्छे कर्म-रूप बीज को बो, ईश्वर-नाम से पानी पटा; तेरा हृदय किसान बने और तब तुझे निर्वाण का माहात्म्य प्राप्त होगा'।[3]

तब मानव-प्रयास एवं पुरुषकार के फलस्वरूप ईश्वर के अनुग्रह से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अतः, मोक्ष-मार्ग के तीन तत्व बताये गये हैं।

१. निजी साधना
२. गुरु-निर्देश, आदेश और सेवा
३. ईश्वर- प्रसाद अथवा अनुग्रह

---

१. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० १९८, १९८ न।
२. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० २०६।
३. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० २१।

बार-बार गुरुग्रंथसाहेब में ईश्वर-स्मरण को मुक्ति-मार्ग का मार्ग बताया गया है। यह नाम-स्मरण बिना ईश्वर-भक्ति के व्यर्थ है। पर नाम-स्मरण कैसे किया जाय ?

गुरु अमरदास ने बताया है कि गुरु की शरण में आकर ही नाम-स्मरण और ईश्वर भक्ति संभव है।[1] अतः गुरु-सेवा और गुरु-प्रसाद मुक्ति-मार्ग का प्रथम सोपान है।[2] परंतु पुरुषकार और समाज-विषयक नीति को गुरु गोविंदसिंह ने ही बताया है जिसे 'मुक्तिनाम' संज्ञा दी गयी है। उन्होंने कहा,

> "हे सिखो ! तुम कर्ज न लो। यदि ऐसा करने के लिये विवश हो जाओ, तो ईमानदारी के साथ कर्ज़ अदा करो। झूठ न बोलो और असत्यभाषी का साथ न दो। सत्संग करो। सत्य बोलो, सत्य से प्रीति रखो और इसको हृदय से लगा लो। ईमानदारी के साथ परिश्रम करके कमाओ। धोखा न दो, लालच न करो। जप जी का पाठ करो और भोजन के पूर्व भी इसका पाठ करो...... तम्बाकू का सेवन न करो। अमर परमेश्वर का स्मरण करो।........जल संस्कार को स्वीकारो, गुरुवाणी और ग्रंथसाहेब की शिक्षा ग्रहण करो।........अन्य किसी धर्म को स्वीकार नहीं करो........।[3]"

गुरु गोविंदसिंह ने 'वाहगुरुजी की फतह' कहकर इस मुक्तिनाम का अंत किया। इस गुरु-संदेश में मानव-प्रयास और पुरुषकार का पूर्ण स्थान है। अतः, मानव अपनी स्वतंत्र इच्छा को गुरुमुख होने के लिये काम में लाने के लिये पूर्णतया स्वतंत्र समझा जायगा।

साथ ही साथ गुरुओं ने आन्तरिक विशुद्धि पर बहुत बल दिया है। गुरु नानक ने हिंदू धर्म, जैन धर्म, योग-क्रिया तथा इस्लाम को बुरा नहीं कहा है, पर पाखंडियों की भर्त्सना की है।[4] शुद्ध हृदय से ईश्वर पर ध्यानना तथा नाम का स्मरण करना, यही अंतिम गति-प्राप्ति का असली नुस्खा है। पर क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि पर विजय प्राप्त करना आसान काम नहीं है। पर गुरु-महात्म्य में बताया जा चुका है कि गुरु अपने शिष्यों की पापवृत्तियों को दूर करने में सहायक होता है, उन्हें ईश्वर-नाम को स्मरण-कराने में समर्थ होता है और तब भक्त ईश्वर-मुखी हो जाता है।[5]

'नाम-स्मरण' करने का अर्थ होता है कि मन-मुखी, अहंकारी साधक उस आध्यात्मिक

---

१. M. A. Macauliffe, वही, भाग २, पृ० १३४।
२. M. A. Macauliffe, वही, भाग ५, पृ० १२३।
३. M. A Macauliffe, वही, भाग ५, पृ० ११६-११८।
४. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० १५०-१५२, ३५६-३५७; भाग २, पृ० १९३, २३९।
५. Daljeet Singh, **Sikhism**, p. 216.

मार्ग की ओर आगे बढ़ते हैं जिसमें स्वार्थ और अहंकार दूर होने लगता है और ईश्वर-दास होने का भाव होने लगता है।[१] नाम-स्मरण से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है। यह ईश्वर-अनुग्रह का क्या स्वरूप है? इससे अभिप्राय है कि ईश्वर भक्ति से प्राप्त होता है, पर ईश्वर का अनुग्रह किसी कर्म से खरीदा नहीं जा सकता है। यह ईश्वर का वह प्रसाद है जो वह उसे देता है जिस पर उसकी दया होती है।[२] जब यह ईश्वर का दान किसी भक्त को प्राप्त होता है तब उसे ईश्वर की स्तुति और गान करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी दान के कारण संसार-चक्र से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

सिख और हिन्दू धर्म का सम्बन्ध

गुरुग्रन्थसाहेब में अनेक स्थलों पर इस्लाम में प्रयुक्त शब्द, नमाज, रमजान इत्यादि की चर्चा की गयी है। न्याय-दिवस कामों के लेखा-जोखा रखनेवाले स्वर्गदूत[३] तथा वचनमात्र पृथिवी-रचना[४] की बातें भी बतायी गयो हैं। पर वास्तव में सिख-धर्म हिंदू धर्म-परम्परा में ही गिना जायगा। इसके निम्नलिखित कारण हैं:

१. भारतीय परम्परा के अनुसार सिख-धर्म में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तम्भ पाये जाते हैं।

२. सिख-जीवन के जन्म-मरण, विवाह इत्यादि में अभी भी ब्राह्मण-पुरोहितों की सहायता ली जाती है[५]। इसका कारण है कि अनेक गुरुद्वारों में उदासी-शाखा के लोग पुजारी बनने लगे जो हिन्दू धर्म के बहुत समीप थे। चूँकि ब्राह्मणों को सिख-धर्म में स्थान मिलने लगा, इसलिये गो-हत्या-निषेध की भी परम्परा इसमें चली आयी है। यहाँ तक कि गुरु-शिक्षा के प्रतिकूल जाति-भेद, तीर्थ-यात्रा और सती-प्रथा तक सिखों में देखा गया है[६]।

३. फिर गुरुग्रंथसाहेब में सन्त-साहित्य, सन्त कवियों और सन्तों को आदर का स्थान दिया गया है,। उदा०, कबीर, तुकाराम, रायदास (रैदास) इत्यादि। इन सन्तों को हिन्दू-परम्परा में ही गिना जाता है।

अतः, सिख-धर्म हिंदू-परंपरा के अन्तर्गत आता है। यही कारण है कि भारत के संविधान की धारा २५, २ बी, स्पष्टीकरण II में सिखों को 'हिंदू' संज्ञा दी गयी है। पर इस समय अनेक सिख अपने को 'हिंदू' कहने के लिये तैयार नहीं हैं। इसका मुख्य कारण वर्तमान

---

१. M. A. Macauliffe, वही, भाग ४, पृ० ५९; देखें, भाग १, पृ० २०८।

२. M. A. Macauliffe, वही, भाग १; पृ० २०९।

३. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० XXXIV, १४, २१५, २१७, ३५७ आदि।

४. वही, पृ० २०६, २१०।

५. वही, पृ० १६४, M. A. Macauliffe, वही, LVII।

६. Khushwant Singh, **The sikhs Today** p. २३।

समय में राजनैतिक है। परंतु हिंदू अथवा भारतीय परंपरा एक है और 'हिंदू' संज्ञा देना दूसरी बात है। सिख धर्म को सनातन अथवा प्रचलित धर्म के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता है। यह जैन, बौद्ध धर्मों के समान एक भारतीय परम्परा, विशेषकर सन्त परम्परा के अन्तर्गत गिना जायगा। इसके निम्नलिखित कारण हैं।

सिख गुरुओं ने मूर्तिपूजा, वर्णविचार, तीर्थयात्रा, अवतारवाद तथा शास्त्रिक विधियों के प्रति आवाज उठायी है। इसलिये वैदिक मंत्र-जप को भी नहीं स्वीकारा जा सकता है। फिर गुरु नानक ने हिन्दू-जैनों के बाह्य आडम्बरों की निन्दा की है। गुरु अमरदास ने तथा गुरु नानक ने भी वर्ण-विचार की निन्दा की हैं। गुरु अमरदास ने बताया है कि कुम्हार चार प्रकार के पात्र बनाता है, पर उनकी मिट्टी एक ही है। इसी प्रकार सभी मानव शरीर एक-समान पाँच तत्वों से बनी है[1]। इसी प्रकार गुरु नानक ने बताया है कि ईश्वर में किसी प्रकार का वर्णभेद नहीं है।[2] फ़िर गुरु नानक ने बताया है कि स्मृति, पुराण तथा शास्त्रों के विद्वान् पंडित केवल पाखण्ड-व्यवहार करते हैं[3]। गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

> 'मैं इस युग में लोगों को सही मार्ग बताने के लिये आया हूँ। मैं सभी मतों और पंथों का बहिष्कार करता हूँ। मैं केवल एक ईश्वर को मानता हूँ जो स्वर्ग, पृथ्वी तथा सभी दिशाओं में विद्यमान हैं'।[4]

इसलिये श्री इन्द्रजीत सिंह ने 'Times of India', जुलाई २, १९८३ के अपने पत्र में बताया है कि ग्रन्थसाहेब में निम्नलिखित बातें स्पष्ट लिखी हैं।

'न मैं हिन्दू व्रत रखता हूँ और न इस्लामी रमजान का रोजा',
'मैंने सदा के लिये हिन्दू और इस्लाम धर्मों से अपना नाता तोड़ लिया है',
'न मैं हज करने जाता हूँ और न मंदिर में पूजा',
'न मैं मूर्ति पूजा करूँगा और न पढ़ूँगा नमाज',
'हम सिख, न हैं हिन्दू और न हैं मुसलमान'।

पर सिख धर्म प्राचीन भारत की धर्म-परम्परा के अन्तर्गत है, क्योंकि चतुष्पदी स्तम्भ के अतिरिक्त इसकी धर्मभाषा में वेद, उपनिषद्, योग तथा भक्ति विशेष रूप में पायी जाती है, सिख धर्म की विशेषताओं में एकेश्वरवाद, गुरु-परम्परा, गुरुग्रन्थसाहेब का उल्लेख किया जा सकता है। पर सिखों का विशेष स्थान आत्म-संरक्षा निमित्त योद्धा

---

१. M. A. Macauliffe, वही, भाग २, पृ० २३८।
२. वही, पृ० १६४, १६५, १६६।
३. M. A. Macauliffe, वही, भाग २, पृ० २३९;
गुरु नानक, भाग १, पृ० १९३, ३५६-७ तथा जैनों के विरुद्ध पृ० १५०-१५२।
४. M. A. Macauliffe, वही, भाग १, पृ० १७९।

होने की बात कही गयी है। 'खालसा' सिख की दीक्षा देकर सिखों को सभी क्षेत्र में सफलता का दान देकर एक महामन्त्र गुरु गोबिन्दसिंह ने फूँक दिया है। केवल २ प्रतिशत होने पर भी सम्पूर्ण विश्व में ये भारतीयों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वयं भारत में ये खालसा सिख सभी क्षेत्रों में अपनी निपुणता के लिये प्रसिद्ध हैं। पंजाब आज भारत का अनाज भण्डार है तथा सिख भारत के औद्योगीकरण में सबसे आगे हैं। पर इनकी प्रसिद्धि विशेषकर योद्धा के रूप में है। आज भी भारत की १० प्रतिशत सेना सिखों की है। 'The Six Review', नवम्बर १९८३ के अनुसार स्वतंत्रता के लिए २१२५ शहीदों में १५५० सिख थे। स्वतंत्रता-संग्राम में १२७ में से ९२ (८० प्रतिशत) फाँसी पर चढ़ाये गये। इंडियन नेशनल आर्मी के ४२,००० जवानों में २८,००० सिख थे। फिर आपातकालीन नियम के अंतर्गत १ लाख में ४०,००० सिख जेल गये थे।

इन सब कारणों से भारत इन वीर सिखों को अपने अन्दर लाकर इन्हें सम्मानित स्थान देने का प्रयास करता है। पर सिख धर्म को भारतीय धर्म-परम्परा में अवश्य गिना जायगा और हिन्दुत्व की छाप अभी भी इसमें है। इसमें भी जातिभेद किसी न किसी रूप में है; इसमें भी गोरक्षा की भावना है; अभी अनेक संस्कार ब्राह्मणों के द्वारा सम्पादित होते हैं। अतः व्यापक अर्थ में जैन, बौद्ध, सनातन हिन्दू धर्म तथा सिख धर्म, सभी को भारतीय संविधान की धारा २५ के अनुसार 'हिन्दू' कहा जा सकता है।

●

अध्याय : १०

पारसी धर्म

ऐतिहासिक महत्त्व—पारसी धर्म के अनुयायी बहुत कम हैं और इनकी जनसंख्या में अपने आप ह्रास होता जा रहा है। इसका मुख्य कारण है कि इनका विवाह समय से बहुत बाद में हुआ करता है। पर पारसी लोग भारतीयों में प्रगतिशील विचारक, उद्योगपति तथा समृद्धिशाली वर्गों में गिने जाते हैं।

अनुयायियों की जनसंख्या की दृष्टि से तो नहीं, पर पारसी धर्म अपनी ऐतिहासिक स्थिति के आधार पर महत्त्वपूर्ण गिना जायगा। यहूदी लोगों को लगभग ७००–६०० ई० पू० में नेबुकदनजर दास बनाकर बाबिल देश में ले गया था। फिर ई० पू० ५३८ में साईरस ने इन्हें स्वतन्त्र कर यहूदिया देश में वापस जाने की आज्ञा दी थी। अब पूर्व-निर्वास और निर्वासोत्तर काल के यहूदी-धर्म-विचारों में बड़ा अन्तर देखा जाता है। पूर्वनिर्वास काल में यहूदी अनेकेश्वरवादी, मूर्तिपूजक तथा अधिकतर कर्मकाण्डी (ritualist) थे। न्यायदिवस और पुनरुत्थान का विचार भी सम्भवतः इनमें नहीं था। पर निर्वासो र काल में यहूदी एकेश्वरवादी हुए, नैतिक आचरणों पर बलियों की अपेक्षा अधिक बल देने लगे थे, तथा पुनरुत्थान, न्याय-दिवस, स्वर्ग-नरक में विश्वास करने लगे थे। इन धर्मविचारों को यहूदियों ने पारसियों से प्राप्त किया है।

यहूदियों के एकेश्वरवाद और नैतिक विचारों को ईसाइयों ने अपनाया। स्वर्ग-नरक न्याय-दिवस, मृतकों का पुनरुत्थान और पापमोचन-सिद्धान्त इत्यादि धर्मविचारों के द्वारा प्रभावित हुए थे जिन्हें यहूदियों ने बाबिली प्रभाव से प्राप्त किया था। फिर इस्लाम, यहूदी और ईसाई, दोनों धर्मों से प्रभावित हुआ था। यदि जतीन्द्र मोहन चटर्जी के मत को प्रश्रय दिया जाय, तो इस्लाम का साक्षात् प्रभाव इसी पारसी धर्म के द्वारा सम्पन्न हुआ था[1]। अतः पारसी धर्म को पैगम्बरी धर्मों में बहुत बड़ा स्थान दिया जायगा। चटर्जी के अनुसार पारसी धर्म का साक्षात् प्रभाव सिख धर्म में भी देखा जाता है।

---

१. Jatindra Mohan Chatterjee, **The Ethical Conceptions of the Gatha**; Bombay, 1934. यह पुस्तक अभी भी पठनीय है। पारसी धर्म को पैगम्बरी कहा जायगा क्योंकि ज़राथुस्त्र ने अपने को अहूरमज़्दा का पैगम्बर माना था। (देखें, M. N. Dhalla, History of Zoroastrianism, N. Y., 1938, pp. 17-26)।

जो बात पैगम्बरी धर्म-परम्परा के सन्दर्भ में कही गयी है, वह बात हिन्दू धर्म-परम्परा में साक्षात् रीति से कही जा सकती है। वास्तव में ईरानी और भारतीय आर्य, दोनों एक ही आर्य जाति के हैं। लगभग २०००-१५०० ई० पू० में इन दो आर्य जातियों के दो सम्प्रदायों में अनुमानतः बहुत संघर्ष हुआ। सम्भवतः पारसी धर्म के संस्थापक जराथूस्त्रा (Zarathustra) ने नैतिक आचार (न कि बलि एवं कर्मकाण्ड), एकेश्वरवाद (न कि अनेकेश्वरवाद) पर बल दिया है। इसके विपरीत वैदिक आर्यों ने कर्मकाण्ड एवं अनेकेश्वरवाद को अपनाया था। इसी संघर्ष के फलस्वरूप वैदिक आर्य भारत में आये, पर उनमें भी जराथूस्त्रा की वाणियों का प्रभाव देखा जाता है। सम्भवतः आरम्भकाल की वरुण-पूजा पारसी धर्म की अहूरमज़्दा की आराधना से बहुत मिलती है।[1] दोनों धर्मों में (वैदिक वरुण और पारसी) प्रारम्भकाल में पाप-भावना, पापों की क्षमा-याचना तथा नैतिक ऋत की भावना इत्यादि समान रूप में देखी जाती है। वास्तव में पारसी धर्म-पुस्तक गाथा और बाद के अवेस्ता की भाषा में और ऋग्वैदिक भाषा में बहुत अधिक समानता है। पर पारसी और वैदिक आर्यों में बहुत अधिक विरोध पाया जाता है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि आर्यों के दोनों टुकड़ों में वास्तव में धर्म-संघर्ष हुआ होगा जिसके फलस्वरूप वैदिक आर्य भारत में आये। इसका एक उदाहरण इस मत का उग्र उदाहरण कहा जाय गा।

गाथा और ऋग्वेद, दोनों में 'देव' और 'असुर' शब्द आये हैं। पर भारतीय आर्यों ने 'देव' की पूजा जारी रखा और 'असुर' को 'राक्षस' कहा। ठीक इसके विपरीत गाथा और ज़ेन्दावेस्ता में 'असुर' (अहुर मज़्दा) की आराधना को ही मान्य बताया गया है और 'देव-पूजा' को निंदनीय ठहराया गया है[2]। गाथा से उद्धृत कर चटर्जी ने देव और असुर (अहुर) के विरोध को बताया है[3]। हिंदू और पारसी धर्म के बीच के अन्य विरोधी लक्षणों को बाद में लिखा जायगा। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि वैदिक धर्म को भी समझने के लिये पारसी धर्म तथा उसकी धर्म-पुस्तकें गाथा और ज़ेन्दावेस्ता को महत्त्वपूर्ण समझना चाहिये।

अतः, पारसी धर्म वास्तव में पैग़म्बरी और भारतीय परम्परा, दोनों के लिये एक बड़ी ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत करता है।

पारसी धर्म में एकेश्वरवाद—वास्तव में देखा जाय तो पारसी धर्म जिसे ज़रतुस्त

---

१. J. M. Chatterjee, **Ibid**, pp. 196-205.

२. H. D. Bhattacharya, **The foundations of living faiths** (Cal. Univ. 1938), p. 423.

३. J. M. Chatterjee, **Ibid**. pp. 498-499.

अथवा ज़राथूस्त्रा ने प्रचारा वह शुद्ध एकेश्वरवाद ही था। कुछ उद्धृत कथनों के द्वारा इस मत की पुष्टि की जा सकती है[1]।

> 'वही जिसका नाम अहुर मज़्दा है, मैं अपने कर्मों के द्वारा केवल उसी की उपासना करता हूँ', (गाथा ४५-१०)
>
> 'मैं केवल तुझ ही को सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ और अन्य सभी (अस्तित्वों) को अपने मन से हटा देता हूँ', (गाथा ४४-११)
>
> 'तुझ एक को छोड़कर मैं अन्य किसी को भी (अपना) संरक्षक नहीं मानता हूँ', (गाथा २९-१ तथा गाथा ३४-७)

सन् १८४३ में जॉन विलसन ने ईश्वर के गुणों का बखान किया है, जिसे उस समय के पारसियों के मुख्य पुजारी ईदल दारू ने बताया था।

> 'दोनों लोकों का सृष्टिकर्त्ता ईश्वर पवित्र और महिमापूर्ण है। उसका अपना कोई रूप नहीं है और न कोई उसके समतुल्य है। उसने सभी सत्ताओं की सृष्टि की है और वह उनका आधार है।............
>
> वह सर्वज्ञ और न्यायी है और सर्वथा स्तुत्य और सेवाओं का अधिकारी है। वह सर्वदा एक रूप बना रहता है।
>
> मानव उसे अपनी समझ की ज्योति तथा ज्ञान के आधार पर खोज कर सकते हैं। हम उसके प्रभाव को सतत् अनुभूत करते हैं और उसके अद्भुत आश्चर्यपूर्ण कर्मों को भी निरीक्षित करते हैं।[2]'

इस परम ईश्वर का प्रतीक अग्नि है, अर्थात् तेज, ज्योति तथा दिव्यज्योति। इस 'अग्नि' प्रतीक को वैदिक अग्नि-पूजा से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये। यह अग्नि पावक (शोधक) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

पारसियों का अहूर-मज़्दा का सम्बन्ध साक्षात् जीवों के साथ होता है और इसका सम्बन्ध जाति विशेष के साथ नहीं होता है। प्रायः यहूदियों के 'महोवा' का सम्बन्ध यहूदी जाति के साथ माना गया है। यह ठीक है कि निर्वास से लौट आने पर यहूदियों में विश्वास जगने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके किये के अनुसार स्वर्ग या नरक प्राप्त होगा। अतः पारसियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर ने स्वतन्त्र सृष्ट किया है और वह अपने सभी कामों के लिये उत्तरदायी समझा जायगा।

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईदल दारू ने ईश्वर (अहूर मज़्दा) को

---

१. J. M. Chatterjee, **Ibid**, pp. 92-93 में उद्घृत कथनों के आधार पर।

२. John Wilson, **The Parsi Religion**, Bombay, 1843, p. 107.

धर्म और आचार, दोनों का धाम समझा है। इस रूप में अहूर मज़्दा के स्वरूप को इस प्रकार वर्णित किया गया है[1]।

१. अहूर मज़्दा एक, सर्वज्ञ और शुभ है।

२. अहूर मज़्दा बलि नहीं, वरन् हृदय की भक्ति चाहता है।

३. अहूर मज़्दा में किसी प्रकार की अपूर्णता एवं अशुभ नहीं पाया जाता है। यहाँ रामानुज और प्राचीन काल के ज़राथुस्त्रा के धर्मोपदेश एक-दूसरे से मिल जाते हैं।

४. अहूर मज़्दा सभी व्यक्तियों में इच्छा-स्वातंत्र्य का दान देते हैं जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों का उत्तरदायी ठहराया जायगा।

५. अशुभ की सत्ता को स्वीकार करने पर पारसी का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अशुभ का सामना करे और उसे दूर करने का प्रयास करे।

६. पारसी को दृढ़ विश्वास है कि अन्त में अशुभ की पराजय होगी और शुभ की ही जय होगी।

७. पारसी का यह भी विश्वास है कि धर्मी अन्त में आशिषों के पात्र होंगे और अधर्मियों का अन्त हो जायगा। पारसी धर्म में 'अनन्त नरक' के होने की बात नहीं बतायी जाती है[2]।

नैतिक द्वैतवाद

चूँकि पारसी धर्म में नैतिकता पर बहुत बल दिया गया है, इसलिये व्यावहारिक जीवन में ज़राथूस्त्रा को अशुभ की वास्तविकता को भी मानना पड़ा है। ज़राथूस्त्रा मानते हैं कि अनेक दुःख मानवों को उनके किये कर्म का भुगतान होता है, पर इनके अतिरिक्त ऐसा भी आभासित होता है कि एक ऐसी सत्ता है जो अहूर मज़्दा के शुभ कार्य में बाधा पहुँचाती है। अतः, नैतिक जीवन की अनुभूति के आधार पर व्यावहारिक रूप से अहूर मज़्दा के साथ अहरिमन के अस्तित्व को भी स्वीकारा गया है। इसलिये नैतिक अनुभव की दृष्टि के अनुसार पारसी धर्म में द्वैतवाद (dualism) दिखाई देता है। इस अहरिमन को अँग्र मैन्यु भी कहा गया है। इस अहरिमन को यहूदी और ईसाई धर्म में शैतान और इस्लाम में 'इबलीस' कहा गया है। इस अहरिमन के स्वरूप को इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है।

---

१. H. D. Bhattacharya, **Ibid**, p. 434.

२. H. D. Bhattacharya, **Ibid**, p. 446. इसके विपरीत M. N. **Dhalla** ने (History of Zoroastrianism), pp. 106-107 में बताया है कि पारसी धर्म में नरक के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। Dhalla स्वयं विद्वान पारसी पुजारी हैं। इसलिए नरक की वास्तविकता को भी स्वीकारना होगा। पर अन्तिम रूप में (पुनरुद्धार) सर्वसुधार होने के बाद नारकीय वास का भी अन्त हो जायगा।

'अहरिमन ईश्वर का विरोधी, मानवों का शत्रु, झूठ का रचयिता, धोखेबाज एवं विश्वासघाती, राक्षसों का सरदार और नरक का स्वामी है।'

यह ठीक है कि ज़राथुस्त्रा ने आन्तरिक वासनाओं को मानव का शत्रु माना है, पर अशुभ की व्यावहारिक वास्तविकता भी स्वीकार की है। युंग के अनुसार बुराई वास्तव में मानव में रहती है, पर मानव के लिए इस बात को स्वीकार करना दुःखमय प्रतीत होता है। इसलिये प्रायः मानव अपने मन की बुराइयों पर विजय प्राप्त करने के लिये वे उनका (बुराइयों का) बाह्यारोपण कर देते हैं। अतः जिसे अहरिमन कहा गया है वह वास्तव में मानव में अन्तर्निहित कुत्सित भावनायें ही हैं जो शुभ अहूर मज़्दा के आदेश को पालन करने में रोड़े अँटकाती रहती हैं। ठीक इसके विपरीत भारतीय परम्परा है जिसके अनुसार तृष्णा ही मानव की सबसे बड़ी बाधा है जिसके कारण मानव अपना मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः भारतीय परम्परा के अनुसार, मानव को अपनी साधना के आधार पर आन्तरिक तृष्णा और उसके वासस्थान 'अहंभाव' को हटाने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

यह ठीक है कि नैतिक जीवन पर ध्यान देने से अशुभ की वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। पर पारसी धर्म में अहूर मज़्दा और अहरिमन के द्वैत को अन्तिम तत्त्व नहीं स्वीकारना चाहिये, क्योंकि अन्त में अहरिमन का विलयन हो जाता है। जिस प्रकार भारतीय धर्मदर्शन में अज्ञान की व्यावहारिक वास्तविकता मान ली जाती है, पर इसे सान्त माना जाता है, ठीक उसी प्रकार अशुभ की व्यावहारिक वास्तविकता पायी जाती है, पर इसे अन्तिम सत्ता नहीं स्वीकारा गया है, क्योंकि अहरिमन के विनाश और अहूर मज़्दा की अन्तिम विजय की बात कही गयी है। इसलिये अन्त में अहूर मज़्दा की अन्तिम, अनन्त, नित्य, स्वयंभू (खुदा अर्थात् जो खुद से हो) सत्ता ही स्वीकारी गयी है। अतः, पारसी धर्म वास्तव में एकेश्वरवादी ही है।

पारसी धर्म के अनुसार शुभ प्राप्ति का विषय है और अशुभ के साथ संघर्ष करके ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। उदा०—प्राकृतिक अशुभ में बाढ़, सूखा, भूकंप इत्यादि गिने जाते हैं। इन्हें मानव को अहूर मज़्दा की मदद से विजित किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार बुद्ध भगवान् ने मानव जीवन के दुःख को 'जरा-मरण' की संज्ञा दी है। इस अशुभ को मानव अपनी बुद्धि के द्वारा विजित कर सकता है। इसी प्रकार सामाजिक और राजनैतिक समस्यायें हैं जिनके साथ भी सच्चे पारसी को युद्ध करना है। अतः, अशुभ के साथ संघर्षकर अहूर मज़्दा में अस्था रखकर अशुभ पर विजय प्राप्त करना धर्मयुद्ध माना गया है[1]। इस रूप में अशुभ की समस्या पारसी के लिए

---

1. M. N. Dhalla **History of Zoroastrianism**, O. U. Press, New-York, 1938, chap. X; H. D. Bhattacharya, **Ibid**, p. 449.

जीवन की चुनौती है और उसका ईश्वर (अहूर मज़्दा) अशुभ को पराजित करने में उसका सहकर्मी और सहायक है।

यद्यपि अहूर मज़्दा एकदम शुद्ध, पवित्र और शुभ है, तो भी सीमित सत्ता को सृष्ट करने में सीमित को कभी भी पूर्ण नहीं बनाया जाता है। लाइबनित्स का यह कथन पारसी धर्म की अशुभ-समस्या में लागू किया जा सकता है। ईश्वर ने मानव को स्वतन्त्र इच्छा का दान दिया है ताकि वह ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करे। केवल ईश्वर में भक्ति और उस पर पूरा भरोसा रखकर ही मानव स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है। अतः, अशुभ सृष्टि का अनिवार्यतः प्रतिफल (by product) कहा जा सकता है। पर यह अनावश्यक भी नहीं है क्योंकि अशुभ को विजित कर मानव अपने को स्वर्ग का अधिकारी बना सकता है।

मानव की अन्तिम गति

जो अहूर मज़्दा की आज्ञाओं का पालन करेंगे, उन्हें ज्योति में और पापियों को अन्धकार में प्रवेश करना होगा। अहूर मज़्दा सभी मानवों की जाँच अग्नि-परीक्षा के द्वारा करेंगे। धर्मियों को आग से कुछ हानि न होगी और पापियों को अग्नि-परीक्षा में बहुत कष्ट होने लगेगा। धर्मियों को स्वर्ग का वास मिलेगा जिसे शुभ मानसों का स्थान कहा जा सकता है। यह आनन्द और शान्ति का धाम कहा जा सकता है। यहाँ शोक और दुःख का नाम भी नहीं रहता है और सुख की नित्यता पायी जाती है। अधर्मियों को नरक का वास दिया जाता है जहाँ अस्वादु भोजन, दुर्गन्ध, कष्ट तथा अन्धकार छाया रहता है। क्या नरक का वास सर्वदा बना रहेगा ?

कहीं-कहीं पर नारकीय वास को नित्य भी माना गया है, पर अधिकांश स्थलों पर बताया गया है कि जब तक अन्तिम पुनरुद्धार (ɪenovation) न हो जाय तब तक ही नरक भी रहेगा। पर शुभ और अशुभ शक्तियों का अन्तिम संघर्ष होगा और उस अन्तिम लड़ाई में अहरिमन और उसके सभी समर्थकों की पूरी हार हो जायगी। सभी अशुभ शक्तियों को आग से जला दिया जायगा और इसके साथ ही नरक का भी विनाश हो जायगा। अतः, नारकीय वास का दुःख दीर्घकालीन अवश्य कहा जायगा, पर इसे नित्य और शाश्वत नहीं माना जायगा।

स्वर्ग और नरक के बीच अन्तर्वर्त्ती स्थान की भी कल्पना की गयी है। जिन व्यक्तियों का विश्वास और आचरण पूर्ण नहीं होता है; उन्हें अन्तर्वर्त्ती स्थान में रहकर अपना सुधार करना पड़ता है। इसे शोधन-स्थान (purgatory) भी कहा जा सकता है। अतः, पारसियों के अनुसार—

१. शरीर नश्वर है, पर आत्मा अमर है।

२. पुनरुत्थान और न्यायदिवस भी विश्वास के विषय हैं।

३. मरणोत्तर जीवन में धर्मी को स्वर्ग और अधर्मी को नरक मिलता है, पर नारकीय-वास पुनरुद्धार-दिवस तक ही रहेगा।

४. चूँकि अन्त में शुभ की ही विजय निश्चित है, इसलिए पारसी धर्म को आशावादी ही कहा जायगा।

उपर्युक्त पारसी धर्म के लक्षणों को ध्यान में रखकर पारसी धर्म के प्रभाव तथा उसके भेद को अन्य धर्मों को ध्यान में रखकर बताया जा सकता है। सर्वप्रथम, यहूदी धर्म के साथ पारसी धर्म का मिलान कर पारसी धर्म के प्रभाव को यहूदी धर्म में दिखाया जा सकता है।

यहूदी धर्म और पारसी धर्म

१. बाबिल देश में दासता के पूर्व यहूदियों में एकेश्वरवाद नहीं था। उनका ईश्वर यहोवा था जो अन्य देवताओं में से एक था।

२. यहोवा आँधी-तूफान से सम्बन्धित प्राकृतिक शक्ति का मात्र मानवीकरण कहा जा सकता है।

३. यहोवा की पूजा पशुबलि के द्वारा सम्पन्न की जाती थी।

४. यहोवा यहूदियों के कुल का ही ईश्वर था जिसका निवास-स्थान सनाई पर्वत था। इस रूप में यहोवा की पूजा सीमित देवता की पूजा कही जा सकती है तथा व्यापक अर्थ में इसे मूर्त्तिपूजा भी कहा जा सकता है। मूर्त्तिपूजा वह है जिसमें असीमित ईश्वर को सीमित बनाकर पूजित किया जाता है।

५. यहूदियों को मरणोत्तर जीवन के सन्दर्भ में किसी प्रकार का निश्चित ज्ञान नहीं था।

बाबिल देश में रहने के बाद यहूदियों के धर्म में बहुत परिवर्तन आ गया[1]।

निर्वासोत्तर यहूदी धर्म का चित्र यशायह की पुस्तक में स्पष्ट दिखता है। इस चित्र के अनुसार—

१. एक ही परमेश्वर है जो महान् और पवित्र है। अन्य देवता निष्प्राण और वास्तव में पूज्य नहीं हैं।

२. यह परमेश्वर सर्वथा नैतिक शुभ का ही अभिलाषी है। वह पशुबलि से प्रसन्न नहीं होता, पर पश्चाताप और शुद्ध हृदय की ही चाहना रखता है।

३. प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्म का उत्तरदायी होगा, न कि सम्पूर्ण कुल और जाति।

४. मरणोत्तर जीवन में विश्वास, पुनरुत्थानदिवस तथा न्यायदिवस भी उनके विश्वास-वचन में आने लगे।

---

१. बिशप मुल्टन के मत को J. M. Chatterjee, **Ibid**, p. 132 में लिख दिया है।

५. साथ ही साथ उन्हें स्वर्ग और नरक में भी विश्वास होने लगा ।

६. अन्त में यहूदियों के बीच एक उद्धार-कर्त्ता की भी आकांक्षा होने लगी, जिस प्रकार की शिक्षा ज़राथुस्त्रा के सन्दर्भ में थी, अर्थात् ज़राथुस्त्रा के द्वारा पारसी लोगों की मध्यस्थता अहूर मज़्दा के सामने की जायगी ।

सबसे बड़ा भेद यह था कि यहूदियों का ईश्वर का प्रारम्भ प्राकृतिक शक्ति (आँधी-तूफान, बिजली की कड़क) का मानवीकरण मात्र था । पर अहूर मज़्दा की कल्पना शुद्ध रीति से आध्यात्मिक तथा अतीत महान् व्यक्तित्वपूर्ण परमेश्वर की थी । वास्तव में धर्म के इतिहास में शुद्ध एकेश्वरवाद की भावना प्रथम बार केवल पारसी धर्म में पायी जाती है और ज़राथुस्त्रा को प्रथम नबी अथवा पैग़म्बर कहा जा सकता है ।

पारसी और ईसाई धर्म

पारसी और ईसाई, दोनों धर्मों में बहुत अधिक समानता है ।

१. दोनों में एकेश्वरवाद पाया जाता है ।

२. दोनों में न्यायदिवस, पुनरुत्थान, स्वर्ग-नरक में विश्वास पाया जाता है ।

३. दोनों धर्मों में त्राणकर्त्ता की आवश्यकता पायी जाती है ।

४. दोनों में नैतिकता के साथ समाज-सेवा पर बल दिया जाता है ।

भेद

१. पारसी और ईसाई, इन दोनों धर्मों में मुक्तिमार्ग के सम्बन्ध में सबसे बड़ा भेद पाया जाता है । पारसी धर्म में मुक्तिमार्ग के लिये पारसी कर्मकाण्डों में विश्वास तथा दान, पश्चात्ताप, तप तथा मित्रों द्वारा मध्यस्थता पर बल दिया जाता है[1] । दान के पात्र पुजारी, कुत्ता तथा चिड़ियों को समझा जाता है । इसके विपरीत, ईसाई धर्म के अनुसार ईसा की उद्धारक, पापमोचक मृत्यु में दृढ़ विश्वास को मुक्ति का अनुपम साधन स्वीकारा जाता है ।

२. अहूर मज़्दा मानवों से इतना अतीत है कि उसका पैग़म्बर हो सकता है, पर वह स्वयं मानव में अवतरित नहीं होता है । पर ईसाई धर्म में ईसा को ईश्वर का अवतार माना गया है ।

३. पारसी और ईसाई, दोनों धर्मों में पापियों को नारकीय-वास में दुःख भोगना पड़ता है, पर पारसी धर्म में नरक का भी विनाश पुनरुद्धार-दिवस में हो जाता है । अतः, पारसी धर्म में शुभ की अन्तिम विजय की कल्पना की जाती है ।

४. ईसाई धर्म में संन्यास और मठवास को स्तुत्य माना जाता है, पर पारसी धर्म

---

1. John Wilson, Ibid. p. 380.

में इन्हें प्रश्रय नहीं दिया जाता। गृहस्थ के शुद्ध जीवन से ही पारसी को मुक्ति मिल सकती है।

इस्लाम और पारसी धर्म

१. दोनों पैग़म्बरी धर्म हैं और दोनों में एकेश्वरवाद, स्वर्ग-नरक, न्यायदिवस, पुनरुत्थान इत्यादि सामान्य रूप से स्वीकारा जाता है।

२ सम्भवतः, पारसी धर्म का प्रभाव इस्लाम पर साक्षात् रूप से पड़ा है। प्रायः हदीस की वार्ता में पारसी धर्म की प्रतिध्वनि दिखायी देती है। पर सूफ़ीमत विशेषतया पारसी धर्म के प्रभाव में आकर पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है।

ऋग्वैदिक धर्म और पारसी धर्म

१. तेल-एल-अमर्णा के लेख से स्पष्ट हो जाता है कि ई० पू० पन्द्रहवीं शताब्दी तक ईरानियों में भी इन्द्र-वरुण-आश्विन के समान देवता पूजित होते थे। फिर गाथा और ऋग्वैदिक भाषा में धर्म सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द लगभग एक समान ही हैं।

२. पारसी धर्म और ऋग्वैदिक, दोनों धर्मों में स्वर्गप्राप्ति को जीवन का निःश्रेयस् स्वीकार किया गया है।

३. दोनों धर्मों में गार्हस्थ्य जीवन पर बल दिया गया है और प्रारम्भ में ऋग्वैदिक धर्म में भी संन्यास और मोक्ष की बात नहीं कही गयी है।

४. दोनों धर्मों में आशावाद का सन्देश है क्योंकि स्वर्ग में सभी को पितरों के साथ मिलने की चर्चा की गयी है और सभी इच्छाओं की पूर्ति स्वीकारी गयी है। इस संसार को दोनों में सुखमय माना गया है और पुत्र, धन-धान्य, दीर्घायुपन, शत्रु विजय की कामना-पूर्ति के लिए देवों की आराधना की गयी है। तब अंतर ?

१. सर्वप्रथम, ईरानी-पारसी देव-विरोधी हो गये, उन्हें पशुबलि क्रूरता मालूम देने लगी। इसके विपरीत ऋग्वैदिक आर्य देव-पुजारी थे और पशुबलि के आधार पर स्वर्ग-प्राप्ति की कामना रखते थे।

२. पारसी धर्म शुद्ध एकेश्वरवादी था जिसकी तुलना में ऋग्वैदिक धर्म अनेकेश्वर-वादी था और अधिक से अधिक हेनोथीस्टिक था (जिसमें एक-एक करके पूजा के समय किसी एक देवता को 'एकेश्वर' संज्ञा दी जाती थी)। बाद में चलकर विकल्पेश्वरवाद ने (Henotheism) हिन्दू धर्म में एकत्ववाद अथवा अद्वैतवाद का रूप धारण कर लिया। पर पारसी धर्म में आज तक एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की उपासना जारी है।

३. प्रायः ऋग्वैदिक धर्म में देवताओं को प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण के रूप में माना जाता है। पर ज़राथुस्त्र का ईश्वर (अहूर मज़्दा) प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक

स्वीकारा गया है। सम्भवतः, इस प्रकार शुद्ध आध्यात्मिक ईश्वरवाद धर्म के इतिहास में सबसे प्राचीन एकेश्वरवाद समझा जायगा।

४. प्रारम्भ में ऋग्वैदिक और पारसी, दोनों धर्मों में मूर्त्तियों (प्रतिमाओं, image) की पूजा नहीं होती थी। पर प्रचलित हिन्दू धर्म में शिव भगवान्, विष्णु इत्यादि की पूजाओं के फलस्वरूप ही प्रतिमा-पूजन की प्रथा चली है। सम्भवतः, भारतीय प्रतिमा-पूजा सिन्धुतट-सभ्यता से प्रारम्भित कही जायगी जिसे प्राग्वैदिक ही माना जाता है।

ऋग्वैदिक और ईरानी, दोनों आर्यों के बीच मुख्य अन्तर असुर और देव-पूजा, पशुबलि, नैतिकता तथा आध्यात्मिक ईश्वर के सन्दर्भ में था। पारसी असुरोपासना, नैतिकता तथा आध्यात्मिक ईश्वर पर बहुत बल देते थे। इसकी तुलना में भारतीय आर्य अनेकेश्वरवाद, पशुबलि तथा कर्मकाण्ड पर बल देते थे। सम्भवतः, पारसी वरुण को इन्द्र की अपेक्षा अधिक पूज्य समझते थे, पर अपेक्षाकृत भारतीय आर्य इन्द्र देवता को ही परम पूज्य मानते थे। बाद में चलकर भारतीय आर्यों पर सिन्धुतट-सभ्यता, अजीविकावाद, जैन-बौद्ध धर्मों का बहुत प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप प्रचलित हिन्दू धर्म पारसी धर्म से अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में भिन्न समझा जायगा।

प्रचलित हिन्दू धर्म और पारसी धर्म

१. पारसी और ऋग्वैदिक, दोनों धर्मों में स्वर्गप्राप्ति को मानव का निःश्रेयस् समझा गया है। पर प्रचलित हिन्दुत्व में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तम्भ को स्वीकारा जाता है। स्वर्ग-सुख को मुक्ति की तुलना में निम्नकोटिक समझा जाता है। फिर पारसी धर्म में आवागमन का सिद्धान्त नहीं है और न ब्रह्मज्ञान की बात कही गयी है।

२. पारसी और ऋग्वैदिक आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का भेद पाया जाता है। पर कालगति में प्रचलित हिन्दुत्व में ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर लिया गया है और साथ ही शूद्रों के चतुर्थ वर्ण को निम्नकोटिक कहा गया है। इसकी तुलना में पारसी धर्म में जातिभेद को नहीं स्वीकारा गया है। जहाँ जातिभेद की बात कही गयी है वहाँ क्षत्रियों को ही ब्राह्मण की तुलना में श्रेष्ठ समझा गया है[1]। यह बात बुद्ध भगवान् की जातिविषयक संगोष्ठी में भी पायी जाती है।

३. चूँकि पारसी धर्म में स्वर्गप्राप्ति को मानव का चरम लक्ष्य बताया गया है। फिर समाज सेवा और अशुभ के साथ संघर्ष कर शुभ के विजय की बात कही गयी है, इसलिए पारसी धर्म में संन्यास (अर्थात् संसार-विरक्ति) की बात नहीं उठती है। परन्तु

---

1. J. M. Chatterjee, Ibid. p. 511.

प्रचलित हिन्दुत्व में संन्यास को भी स्थान दिया गया है। आश्रम-विचार में गार्हस्थ-जीवन की अवहेलना नहीं की गयी है।

४. चूँकि प्रचलित हिन्दुत्व में मोक्ष को मानव की चरम गति कही गयी है, इसलिए संसार को हीन और तुच्छ कहा गया है। प्रायः इस मान्यता को निराशावाद समझा जाता है। पर चूँकि पारसी धर्म में सांसारिक जीवन को विजयपूर्ण बनाने का सन्देश है, इसलिए इसे आशावादी धर्म कहा जाता है।

५. पारसी धर्म प्रारम्भ से ही मूर्तिभञ्जक (iconoclast) रहा है और इस दिशा में यह युयुत्सी तथा संग्रामी एवं क्रान्तिकारी रहा है। साथ ही साथ यह अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु रहा है। यही कारण है कि पारसी धर्म को अन्य सिमेटिक धर्मों के साथ संघर्ष करना पड़ा है। आज भी ईरानी शीया मुसलमान धर्म के लिये युद्धकारी ही कहे जायेंगे। इसकी तुलना में प्रचलित हिन्दुत्व में मूर्त्तिपूजा मान्य और प्रचारित मत है।

६. पारसी धर्म में पशुबलि का स्थान नहीं है। पर प्रचलित हिन्दुत्व में भी पशुबलि बहुत प्रचलित नहीं है, पर अभी भी शक्ति-पूजा में पशुबलि का स्थान है। साथ ही साथ, आर्यसमाज को छोड़कर, हिन्दुत्व को अपने धर्म में लाने के लिए प्रचारक धर्म (missionary) नहीं कहा जा सकता है जैसे पारसी, ईसाई तथा इस्लाम धर्म को कहा जा सकता है। पर हिन्दुत्व में सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता को अपनाया गया है। यदि शंकर के अभेदमूलक सिद्धान्त को स्वीकारा जाय तो हिन्दू धर्म में धर्म-सहिष्णुता के साथ विश्वधर्म-समन्वय का भी सिद्धान्त पाया जाता है जिसे हिन्दुत्व की विश्व को सबसे बड़ी देन कहा जा सकता है।

७. कर्मवाद के सिद्धान्त को पारसी धर्म में स्वायत नहीं कहा जा सकता है। अजीविकावाद, जैन और बौद्ध धर्म में ही कर्मवाद प्रमुख है। पर गीता तथा रामानुज के धर्मदर्शन में ईश्वर-अनुग्रह पर भरोसा रखकर भक्त कर्मवाद को विजित कर सकता है।

अन्त में स्वीकारना होगा कि पारसी धर्म का अध्ययन विश्व के धर्मों के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सभी प्रकार के धर्म, चाहे पैग़म्बरी या भारतीय, सभी का श्रोतस्थान पारसी धर्म में पाया जाता है और इसका प्रभाव सभी धर्मों की शिक्षा और विकास में महत्त्वपूर्ण समझा जायगा।

उपसंहार : पारसी धर्म का शुद्ध आध्यात्मिक ईश्वरवाद श्लाघनीय है। साथ ही साथ अशुभ के साथ संघर्ष करके सभी प्रकार के सामाजिक एवं राजनैतिक तथा प्राकृतिक अशुभ को विजित करने का सन्देश भी स्तुत्य है। पर क्या पारसी धर्म एकेश्वरवादी रहा है?

१. सर्वप्रथम, पारसी एकेश्वरवाद द्वैतवाद में परिणत हो गया। फिर इसका सम्बन्ध स्पेन्टा मन्यु इत्यादि अनेक अन्तर्वर्त्ती सत्ताओं से जोड़ दिया गया है जिसके कारण इसका शुद्ध ईश्वरवाद दोषपूर्ण बन गया है।

२. द्वितीय, किसी भी प्रकार का ईश्वरवाद विश्वधर्म नहीं हो सकता है क्योंकि यह भेदमूलक होता है। पर युद्धकारी पारसी धर्म को अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु होने के कारण संघर्ष और तनाव उत्पन्न करने वाला कहा जायगा।

३. बाद में चलकर इसके कर्मकाण्ड भी अन्धविश्वासपूर्ण बन गये हैं, जैसे ज़मीन के छेदों को बन्द करना क्योंकि उनसे शैतान नीचे से ऊपर आता है[1]।

□

1. John Wilson, **'The Parsi Religion'** p. 381 में इसके पूर्ण विवरण को देखें।

अध्याय : ११

धर्मों के कुंजीपदों का तुलनात्मक अध्ययन

हम लोगों ने नबीमूलक और भारतीय धर्मों का अध्ययन किया है। भारतीय धर्म-विचारधारा के मन्तव्य हैं—कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति का चतुष्पदी मूलाधार और नबीमूलक धर्म में एकेश्वरवाद-नबी-प्रकाशना-सृष्टि-पुनरुत्थान-न्यायदिवस-स्वर्ग-नरक की मूल धारणाएँ। इनका अध्ययन करने तथा उन पर ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है कि इनमें बहुत-कुछ समानता है। इस समानता को पारिवारिक सादृश्य (family resemplance) कहा जा सकता है, जैसा विट्गिन्स्टाइन ने कहा है। किसी न किसी विचार से ईश्वर प्रत्यय ऐसा है कि इसे धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन करने के अभिप्राय से प्राथमिकता देनी पड़ती है।

ईश्वर-विचार

नबीमूलक और भारतीय परम्पराओं को ध्यान से अध्ययन करने पर निम्नलिखित ईश्वर-संबंधी विचारों को तालिकाबद्ध किया जा सकता है।

नबीमूलक परम्परा	भारतीय परम्परा
१. ईश्वरवादी परम्परा है जिसे मूलतः एकेश्वरवाद (monotheism) की संज्ञा दी जा सकती है। इस संदर्भ में ईश्वर केवल अपने वचनमात्र से संपूर्ण सृष्टि को रचता है और इस सृष्टि-रचना को शून्य से सृष्टि की रचना कही जाती है। (ex-nihilo) ईश्वर ही इस विश्व का उपादान और निमित्त दोनों कारण माना गया है। ईश्वर को परम सत्ता स्वीकारा गया है।	१. (क) रामानुजी धर्म दर्शन में एक प्रकार का एकेश्वरवाद है, पर साथ ही साथ इसमें विशिष्टावाद भी है, क्योंकि जगत् और जीव दोनों ईश्वर के शरीर हैं। (ख) शंकर भी ईश्वर को जगत् का उपादान और निमित्त, दोनों कारण मानते हैं, पर अंतिम रूप में ईश्वर को गौण और ब्रह्म ही को एकमात्र परम सत्ता मानते हैं। (ग) न्याय वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को केवल निमित्त (afficient) कारण माना गया है, क्योंकि ईश्वर इस सृष्टि को शाश्वत अणुओं और मानव कर्मों के द्वारा रचता है।
२. ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है।	२. जहाँ भी ईश्वर की भावना आयी है

वहाँ ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है, यहाँ तक कि सिख धर्म में ईश्वर को 'निराकार' कहा गया है तो भी उसे व्यक्तित्त्वपूर्ण माना गया है।

(क) पर जैन और बौद्ध धर्मों में ईश्वर को स्वीकारा ही नहीं गया है। यह बात कुछ मीमांसकों तथा सांख्यवादियों के विषय में भी कही जा सकती है।

(ख) शंकर के धर्मदर्शन में ईश्वर व्यक्तित्व-पूर्ण है पर इसकी सत्ता गौण है, क्योंकि अंत में इसका भी विलयन हो हो जाता है।

(ग) रामानुज का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण परम सत्ता है, जो विश्व का उपादान और निमित्त, दोनों कारण है।

(घ) न्याय-वैशेषिक धर्मदर्शन में ईश्वर केवल निमित्त कारण (efficient cause) है क्योंकि अणु भी ईश्वर समतुल्य नित्य और शाश्वत है। फिर ईश्वर मानव शरीर उनके कर्मों के आधार पर रचता है। पर न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है।

३. ईश्वर को सर्वशक्तिमान, स्रष्टा, परम दयालु, करुणामय तथा प्रेमी बतलाया गया है। यहूदी धर्म में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर अधिक बल दिया गया है। इस्लाम में ईश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता उसकी करुणा और दया से युक्त हो जाती है। ईसाई धर्म के अनु-सार ईश्वर क्षमाशील, प्रेमी, उद्धारक है।

नबीमूलक धर्म में ईश्वर को विशेष रूप से नैतिक आदर्शों से पूर्ण

३. रामानुज के अनुसार जिसे शंकर भी स्वीकारते हैं, ईश्वर के छः गुण हैं, अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज। इसके अतिरिक्त रामानुज पाँच तात्त्विक गुण भी बताते हैं, अर्थात् ज्ञान (चित), आनन्द, अनन्त, सत्य और अमलत्व (जो सभी अवगुणों से अछूता हो)।

रामानुज और शंकर दोनों के अनुसार ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना लीला के लिये की है। पर भक्ति के

माना गया है। इसे स्पष्ट करने के लिये यहूदी धर्म में ईश्वर को पवित्र महान् (The Holy) बताया गया हैं। इसी प्रकार इस्लाम की शारीरिक शुद्धि पर, नमाज़ इत्यादि क्रिया-कर्मों के संदर्भ में, इसीलिये बल दिया जाता है कि ईश्वर पवित्र महान् है। चूँकि ईश्वर विशेषकर नैतिक है, इसलिये इस सृष्टि का चरम उद्देश्य है कि सत्यसंकल्पी जीवों का विकास हो। यहाँ नैतिक गुण समाज-सेवा से अधिक सम्बन्ध रखता है।

४. चूँकि नबीमूलक धर्मों में ईश्वर को निमित्त और उपादान, दोनों प्रकार का कारण माना जाता हैं, इसलिये ईश्वर को इस सृष्टि का पूरा उत्तरदायी स्वीकारा जाता हैं और ईश्वर को इस विश्व के अशुभ की समस्या का उत्तरदायी समझा जाता है। पर ईश्वर को सर्वशक्तिमान रहने पर उसे परम प्रेमी और दयालु भी समझा जाता है। इसलिये ईश्वर इस विश्व के अशुभ के लिये केवल असाक्षात् रीति से ही इसका उत्तरदायी समझा जा सकता है। ईश्वर ने मानव को इच्छा-स्वातंत्र्य दिया है, इसलिये मानव अपनी इच्छा को या तो अच्छे या बुरे, दोनों में से किसी एक को जब चाहे अपना सकता है। इसलिये ईश्वर मानवों के दुष्कर्म के लिये उत्तरादायी नहीं है। ईश्वर चाहता नहीं है कि मानव अपनी स्वतंत्र इच्छा का दुरुपयोग करे, पर उसे इसकी अनु-

स्तर पर आकर रामानुज को स्वीकारना पड़ता है कि भगवान् भी बिना भक्तों के नहीं रह सकते हैं।

नैतिक गुण या तो आत्म-विकास से उत्पन्न होता है (वासनाओं पर विजय प्राप्त कर तप और इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि के द्वारा), या समाज के उत्थान संबंधी कर्त्तव्यों के पालन के द्वारा। भारतीय परंपरा में आत्मविशुद्धि तथा आत्मा के विकास पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है

४. शंकर और रामानुज, दोनों के धर्म-दर्शनों में ईश्वर को निमित्त और उपादान कारण माना गया है, पर साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि ईश्वर में केवल शुभ गुण पाये जाते हैं और वह सृष्टि की सभी बुराइयों से अछूता रहता है। विश्व में मानव-दुखों के लिये मानव ही उत्तरदायी है, न कि ईश्वर।

रामानुज के दर्शन में जीव और जगत्, दोनों ईश्वर के शरीर हैं और वे पूर्णतया ईश्वर पर निर्भर रहते हैं। तो भी रामानुज के अनुसार मानव में इच्छा-स्वातंत्र्य है और इसलिये स्वयं मानव ही अपने दुःखों के लिये उत्तरदायी है। दुःखद घटनायें मानव को सुधारने और उसके दुष्कर्मों के लिये दंडभोग के रूप में उत्पन्न होती हैं।

मति देनी पड़ती है (God does not will but has to permit evil)। परंतु नैतिक अशुभ को छोड़कर विश्व की अन्य दुःखपूर्ण घटनायें मानव के प्रशिक्षण, धैर्य-परीक्षा, सुधार एवं चेतावनी के रूप में होती हैं। अतः सामान्य रूप से दुःख के कारण मानव का बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है और इस रूप में ईश्वर का माहात्म्य बढ़ता है।

५. अवतारवाद के संदर्भ में नबीमूलक धर्मों में मतभेद है। ईसाई धर्म में अवतारवाद स्वीकारा जाता है। यहूदी धर्म और इस्लाम अवतारवाद को स्वीकार नहीं करते हैं।

५. भारतीय परंपरा में अवतारवाद स्वीकारा जाता है, पर सिख धर्म अवतारवाद को स्वीकार नहीं करता।

ईश्वर-भावना के संदर्भ में नबीमूलक और भारतीय परंपरा में दो बातों में तीव्र भेद देखने में आता है। भारतीय परंपरा में निर्गुण परम सत्ता का प्रत्यय देखा जाता है जो नबीमूलक धर्मों के शुद्ध रूप में नहीं देखा जाता है। फिर भारतीय परंपरा जिसे आज 'हिंदू धर्म' कहा जाता है उसमें मूर्तिपूजा का स्थान है, यह मूर्तिपूजा नबीमूलक धर्म में नहीं पायी जाती है।

अद्वैत वेदान्त में परम सत्ता को निर्गुण निराकार माना गया है और अन्य सभी साकारी ईश्वर, देवी-देवता इत्यादि को अंत में मायारूप ही कहा गया है। इस रूप में निर्गुण ब्रह्म उपासना अथवा भक्ति का विषय नहीं हो सकता है। पर समाधि अथवा ध्यान के आधार पर ब्रह्मप्राप्ति की जा सकती है। चूँकि अभी भी अनेक धर्मदार्शनिक समझते हैं कि बिना ईश्वर के कोई धर्म नहीं हो सकता है, इसलिये वे निर्गुण ब्रह्म को धर्म का विषय नहीं मानते हैं। फिर चूँकि ऐसे ईश्वरवादी निर्गुण ब्रह्म को धर्म का विषय नहीं स्वीकारते, इसलिये वे आराधना-उपासना-प्रार्थना को छोड़कर ध्यान-समाधि को धार्मिक साधना का विषय नहीं मानते हैं। यह भारी भूल है। ईसाई धर्म में स्पष्ट है कि ईश्वर अदृश्य और अगोचर है और यही बात क़ुरान में भी है। ईसाई धर्म में ईसा को ईश्वर का प्रतीक कहा गया है और क़ुरान के अनुसार ईश्वर-वाणी ही को ईश्वर-ज्ञान का मुख्य साधन स्वीकारा गया है। शंकर ने भी ईश्वर-पूजा और भक्ति को ब्रह्म-ज्ञान-

प्राप्ति का साधन माना है। पर शंकर के अनुसार ईश्वर, देवी-देवता ब्रह्म के प्रतीक हैं। उनकी पूजा भी तभी तक मान्य है जब तक ब्रह्म-ज्ञान न प्राप्त हो जाय।

आधुनिक दृष्टि के अनुसार शांकर मत को बहुत बड़ा स्थान देना चाहिये क्योंकि इसी ब्रह्म-ज्ञान के आधार पर सभी धर्मों के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इसकी चर्चा प्रारंभ में कर दी गयी है और बाद में भी की जायगी।

अद्वैतवादी विचारधारा को स्वीकारने पर निर्गुण ब्रह्म, समाधि, मोक्ष और लय-सिद्धान्त को भी स्वीकारना होगा। पर रामानुज ईश्वरवादी थे। उन्हें व्यक्तित्वपूर्ण ब्रह्म ही सर्वोच्च सत्ता स्वीकारना अभीष्ट था। इसलिये उन्होंने उपासना, भक्ति, बैकुंठ-वास तथा अवतारवाद को भी स्वीकार किया है। वास्तव में अवतारवाद और पैगम्बरवाद में बहुत अधिक समानता है क्योंकि दोनों का मुख्य उद्देश्य है मानव को सही धर्म का मार्ग बताया जाय। परंतु आवतारवाद में स्वयं ईश्वर की प्रकाशना पर बल दिया जाता है। इसी संदर्भ में रामानुज ने अवतारवाद को स्वीकारते हुए अर्चावतार को माना है। इनके अनुसार मूर्ति में भी ईश्वर की आत्मा और उनकी उपस्थिति का आह्वान किया जा सकता है। इस रूप में हिंदू धर्म में मूर्ति-पूजा की व्यवस्था है। परंतु जिस प्रकार गिरिजा-घर को ईश्वर को समर्पित किया जाता है और तब इसे आराधना का पवित्र स्थान स्वीकारा जाता है, उसी प्रकार मूर्ति-स्थापना को भी पवित्र समझकर उसकी पूजा की जाती है। वास्तव में इन मूर्तियों का क्या स्वरूप है ?

बौद्ध, जैन तथा अद्वैतवाद में ध्यानयोग का चलन है। ध्यानयोग में चित्तवृत्ति को स्थिर करने के लिए किसी आलंबन पर चित्त को ठहराना पड़ता है। धीरे-धीरे देवी-देवताओं के बिंब ही इस संदर्भ में योग्य और अधिकारी आलंबन स्वीकारे जाने लगे और इसलिये मूर्तिपूजा को ध्यान, भक्ति-उपासना-आराधना का विषय माना जाने लगा। इस रूप में मूर्तियाँ नहीं हैं, पर वे परम सत्ता के प्रतीक मात्र हैं। वास्तव में देखा जाय तो शुद्ध अगोचर और अदृश्य परमेश्वर कभी भी निराकार नहीं माना गया है। उसे शब्दों के द्वारा वर्णित कर व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है। यहूदी ईश्वर को न्यायाधीश समझते हैं, ईसाई ईश्वर को या तो ईसा के रूप में समझते हैं या उसे प्रेमी पिता मानते हैं और इस्लाम में भी ईश्वर को करुणामय न्यायाधीश समझते हैं। क्या ये ईश्वर की मूर्तियाँ नहीं हैं ? ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण समझना ही ईश्वर को साकारी और मूर्तिमान बनाना है।

दूसरे रूप में देखा जाय तो प्रारंभ से ही हिंदू विचारधारा में एक परम परमेश्वर को स्वीकारा गया है। यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ही परमेश्वर के तीन रूप संक्रियात्मक (Functionally) रीति से स्वीकारा गया है।

अतः शुद्ध निराकार परम सत्ता तक नीचे से ऊपर आरोहण-मार्ग में प्रथम पग है और उसी प्रकार उस परम ऊँचाई से अवतरण-प्रक्रिया की सबसे नीची सीढ़ी है।

आध्यात्मिक विकास के अंतर्गत भी क्रम हैं। सर्वप्रथम, आदिमधर्म, तब मूर्ति या प्रतीक-पूजा, ईश्वर-पूजा और तब अंत में निराकार परम सत्ता की प्राप्ति। इसलिये मूर्तिपूजा का भी स्थान मानव-जीवन में है। हाँ, ज्ञानियों को चाहिये कि इसके स्थान को मूल्यांकित कर मानवों को आगे बढ़ने का आह्वान करें जैसा शंकर के धर्मदर्शन में जीवनमुक्तों के विषय में कहा गया है।

अशुभ की समस्या : सर्वप्रथम दोनों ही प्रकार के धर्मों में एक बात की समानता है कि दोनों ही में परम सत्ता को शुभ समझा जाता है अथवा परम सत्ता को सांसारिक अशुभ से अछूता माना जाता है। पारसी धर्म में ईश्वर सर्वथा अधर्म और अशुभ से अछूता रहता है और फिर वह पापियों की सहायता करने के लिये तैयार रहता है। बहुत कुछ अंशों में यही बात यहूदी, ईसाई धर्मों में तथा इस्लाम के ईश्वर के विषय में कही जा सकती है। यह ठीक है कि यहूदी धर्म तथा इस्लाम में ईश्वर को इतना सर्वशक्तिमान माना जाता है कि ईश्वर के सन्दर्भ में अधम मानव को ईश्वर की कार्यवाही को नैतिक रूप से मूल्यांकित करने का साहस ही नहीं किया जा सकता है। पर इन धर्मों में कोई भी ईश्वर को मानव के नैतिक दुराचार और अशुभ के लिये उत्तरदायी नहीं हठरा सकता है। इसाई धर्म-दार्शनिकों के लिए अशुभ की समस्या एक टेढ़ी खीर के समान है। तो भी ईसाई धर्म में माना गया है कि ईश्वर ने मानव को इच्छा-स्वातन्त्र्य दिया है कि वह अपने लिये शुभ या अशुभ चुन ले। यदि वह अशुभ को अपनाता है तो वह दण्ड और नैतिक यातना का अधिकारी बन जाता है। यहाँ आपत्ति की जाती है—क्या ईश्वर मानव को स्वतन्त्र इच्छा देकर भी स्वर्गदूतों के समान सत्यसंकल्पी जीव नहीं बना सकता था? अधिकतर ईसाई धर्मदार्शनिकों का और डा० इक़बाल का भी यही मत है कि ईश्वर मानवों के नैतिक अशुभ के लिये उत्तरदायी नहीं है। लेकिन इच्छा-स्वातन्त्र्य देने के बाद ईश्वर मानवों के पतन का न तो उत्तरदायी होता है और न वह चाहता है कि मानव बुराई करे। पर स्वतन्त्र इच्छा के वरदान के साथ बुराई को अपनाने का विकल्प मानव को देना ही पड़ता है। अतः, ईश्वर नैतिक अशुभ नहीं चाहता है पर उसे इसकी सम्भावना की अनुमति देनी पड़ती है। God does not will, but has to permit moral evil. अन्य प्रकार के भौतिक तथा सामाजिक अशुभ की समस्या ईश्वर को इनके लिये उत्तरदायी नहीं बना सकती है।

अतः, सिमिटिक और पारसी धर्मों में ईश्वर को अशुभ से अछूता रखा गया है। क्या यह बात भारतीय परम्परा में भी लागू होती है?

कर्म-सिद्धान्त का पक्ष इतना प्रबल रखा गया है कि जीव को ही सभी प्रकार के अशुभ के लिये उत्तरदायी ठहराया गया है। निरीश्वरवादी जैन और बौद्ध धर्मों में यह स्पष्ट है कि मानव अपना ही भाग्यविधाता है। (Man is the architect of

his own destiny) पर प्रश्न होता है कि सर्वप्रथम अज्ञानवश कर्म का कौन विधाता है ? भारतीय परम्परा में इस प्रश्न को सही प्रश्न ही नहीं समझा जाता है। वास्तविकता है कि मानव सांसारिक चक्र में फँसकर दुःख भोगता है। इसलिये प्रश्न यह नहीं है कि कैसे सांसारिक दुःख-चक्र प्राप्त हुआ, बल्कि यह कि कैसे इसका समाधान किया जाय। अतः, बौद्ध धर्म में स्पष्टतया आदिम दुःख-उत्पत्ति की तात्त्विक गवेषणा को अव्याकृत कहकर इसे तात्त्विक अपसमस्या अथवा समस्याभास कहा गया है। अन्य भारतीय धर्मदर्शनों में कर्म-संसार की समस्या को 'अनादि' कहकर इस पर विचार नहीं किया गया है कि 'अनादि' दुःख का तात्त्विक उत्स क्या है।

जैन, न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य-योग में मानव को अंत्यन्तम रूप में शुद्ध आत्मा माना गया है। पर यहाँ भी अशुभ की समस्या को 'अनादि' कहकर इसकी तात्त्विक उत्पत्ति का विचार नहीं किया गया है। यही बात अद्वैत वेदान्त तथा वेदान्त के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पर चूँकि बाद में चलकर भारतीय धर्मदर्शन में 'ईश्वर' की भावना विशेष स्थान पकड़ने लगी, इसलिये ईश्वरवाद में कर्मवाद और ईश्वर की शक्तियों (शुभत्व एवं सर्वशक्तिमत्ता) के बीच विरोध उत्पन्न होने लगा तब गीता और रामानुज के विशिष्टाद्वैत तथा भक्ति-परम्परा में कर्म-सिद्धान्त को ईश्वर के अधीन मान लिया गया। पर यहाँ भी ईश्वर को अशुभ के लिये उत्तरदायी नहीं माना गया है। स्वयं मानव ही अपने कर्म का उत्तरदायी होता है। ईश्वर अपने भक्तों को अपने अनुग्रह-दान के द्वारा उनके सभी कर्मों को विनष्ट कर उन्हें अन्तिम गति दिलाने में सहायक होता है। इस रूप में देखा जाय तो नबीमूलक धर्मों और भारतीय धर्मों में समानता दिखती है। दोनों ही में ईश्वर पापियों की सहायता करने के लिये तैयार रहता है। दोनों परम्पराओं में मानव ही अपने नैतिक अशुभ के लिये उत्तरदायी रहता है।

सृष्टि-विचार : नबीमूलक धर्मों में सृष्टि को शून्य से उत्पन्न करने की बात कही जाती है। क्या जगत् ईश्वर का उपादानमूलक अंश है ? यह विचार असंगत मालूम देता है क्योंकि ईश्वर को शुद्ध पवित्र आत्मा माना गया है। यह बात विशेषकर इस्लाम में बतायी गयी है। पर मसीह ने भी कहा कि ईश्वर शुद्ध आत्मा है और वह अभौतिक रहने के कारण अमूर्त और अगोचर है। यह बात सिख धर्म में भी कही गयी है। तब भौतिक जगत् आया कहाँ से ? क्या असत् से सत् हुआ ? नबीमूलक धर्मों के अनुसार ईश्वर के वचनमात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई है। सर्वशक्तिमान ईश्वर ने कहा, 'जल और थल अलग हो जाओ' और ऐसा ही हुआ। अतः जगत् की रचना हुई और जगत् सर्वथा ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है। अतः 'जगन्निर्भरता ही जगत् का मुख्य लक्ष्य है और इसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। 'असत्' से नहीं, वरन् परम सत् ईश्वरीय वचन से सृष्टि की रचना हुई। पर क्या यह विचार भारतीय परम्परा में नहीं देखा जाता है ?

सिख धर्म में यही बात पायी जाती है। 'आरम्भ में केवल घोर अन्धकार था। ईश्वर ने अपनी इच्छा से विश्व की रचना की'[१]। न्याय-वैशेषिक धर्मदर्शन में ईश्वर को कलाकार तथा निमित्त कारणमात्र (efficient) माना गया है। शंकर तथा रामानुज, दोनों ने ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान, दोनों प्रकार का कारण माना है। पर दोनों में ईश्वर मानव की देह उसके कर्मों के अनुसार सृष्ट करता है। इस रूप में ईश्वर फिर मानव-देह-सृष्टि में निमित्त कारणमात्र रह जाता है। पर शंकर और रामानुज, दोनों में ईश्वर जगत् की बुराइयों से अछूता रहता है। शंकर के अनुसार 'जगन्मिथ्या', पर वह ईश्वर के अधीन रहता है। इसलिये मिथ्या जगत् का रचयिता स्वयं अपनी माया-शक्ति के द्वारा ठगा नहीं जा सकता है। रामानुज ने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि ईश्वर जागतिक अशुभ से सर्वथा अछूता रहता है[२]।

अतः, शंकर के अनुसार जगत् मिथ्या है और इस रूप में अनिर्वचनीय है। इसकी व्याख्या उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार अनादि कर्म-संसार की। तो भी इस रूप में जगत् ब्रह्म पर निर्भर है क्योंकि आधारभूत सत्ता केवल ब्रह्म की है और जगत् उस पर आरोपित किया हुआ है। यदि ब्रह्म नहीं रहता तो जगत् का कोई आधार ही नहीं रहता। इस रूप में जगत् ब्रह्म पर निर्भर है। फिर रामानुज जगत् को जीव के साथ ब्रह्म का शरीर मानते हैं और शरीर की व्याख्या करते हुए रामानुज स्पष्ट बताते हैं कि शरीर वह है जो अपने अन्तर्यामी परमात्मा पर पूर्णतया निर्भर हो[3]।

अतः, नबीमूलक और भारतीय परम्परा के अन्तर्गत मुख्य धर्मदार्शनिक शंकर और रामानुज के अनुसार जगत् परम सत्ता पर निर्भर रहता है। इसलिये जागतिक निर्भरता का सिद्धान्त सभी धर्मों में पाया जाता है। अब सृष्टि के सन्दर्भ में अन्य कोई भिन्न विचार क्यों न हो सान्त जगत् के प्रति आसक्त न रहने का सन्देश सभी धर्मों में एक समान पाया जाता है।

'एक-समानता' से अभिप्राय यह नहीं है कि ये कुञ्जीपद एक ही हैं। इन प्रत्ययों में पारिवारिक सादृश्य है। सेमिटिक धर्मों में जगत ईश्वर के वचन से उत्पन्न होकर ईश्वर पर निर्भर रहता है; रामानुज के अनुसार, जगत् ईश्वर द्वारा पूर्णतया नियन्त्रित रहने के कारण ईश्वर पर निर्भर है; तथा शंकर के मायावाद के अनुसार मिथ्या जगत् ब्रह्मरूप सत्ता पर आरोपित होने के कारण ब्रह्म पर आश्रित है। अतः, जगत्

---

१. M. A. Macauliffe, **The Sikh Religion**, vol. I, pp. 165-166.

२. Sribhasya, **Sacred Book of the East**, I. १.१, पृ० १४२, I. १.१३, पृ० २२८-२२१; II. १.१५, पृ० ४५८; II. ३.१८।

३. Sribhasya, वही, पृ० II. १.९, पृ० ४२३।

सामान्य रूप से परम सत्ता पर, चाहे वह ईश्वर हो या निर्गुण ब्रह्म, आश्रित एवं निर्भर रहता है।

फिर नबीमूलक धर्मों में सृष्टि काल-सहित ईश्वर ने रचा। किसी निश्चित काल का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि काल का लेखा-जोखा, सूर्य-चाँद-पृथ्वी इत्यादि के द्वारा किया जाता है और ये सब विश्व की वस्तुयें सृष्टि के अन्तर्गत मानी जाती हैं, न कि पूर्व। हाँ, कहा जाता है कि सिमिटिक धर्मों के अनुसार, संसार के प्रलय के साथ किसी न किसी काल में मानवों का पुनरुत्थान तथा उनका न्यायदिवस के दिन न्याय होगा। अतः इस सृष्टि का आदि और अन्त दोनों है। इसके विपरीत, भारतीय परम्परा के अनुसार, सृष्टि अनादि और अनन्त है। इसके दो विभिन्न रूप हैं। जैन धर्म के अनुसार सृष्टि नित्य और शाश्वत है और इसमें प्रलय-सृष्टि का चक्र नहीं पाया जाता है। पर भारतीय धर्म-परम्परा में मुख्यतः माना जाता है कि संसार-चक्र में प्रलय होता है और तब बाद में फिर ईश्वर के द्वारा नवीन सृष्टि की जाती है। इस प्रलय-पुनर्सृष्टि का चक्कर अनादि और अनन्त है। बौद्ध धर्म के अनुसार भी संसार-चक्र को अनादि और अनन्त कहा जायगा।

जिस रूप में सृष्टि रचना की बात उठायी गयी है उस रूप में सिमिटिक और भारतीय परम्परा में अन्तर ही दिखता। पर दूसरे रूप में देखा जाय तो दोनों परम्पराओं में मानव-जीवन पर बहुत बल दिया गया है। नबीमूलक धर्म में न्यायदिवस पर बल देकर और नरक-भय दिखाकर बताया जाता है कि यह सृष्टि इसलिये रची गयी है कि मानव अपनी परमगति को ईश्वर की इच्छा के अनुसरण करने के फलस्वरूप प्राप्त करे। फिर भारतीय परम्परा के अनुसार भी मानव जीवन को एक विशेष अवसर माना गया है जिसमें मानव अपना मोक्ष प्राप्त कर सकता है। सृष्टि-सिद्धान्त विभिन्न होते हुए भी इनमें निहित उद्देश्य यही है कि मानव अपनी चरमगति को प्राप्त करे, सांसारिक लिप्सा से ऊपर उठे और परम सत्ता को प्राप्त कर अपना उद्धार प्राप्त करे। अतः, सृष्टि-सिद्धान्त में निहित उद्देश्य एक-समान ही हैं।

सृष्टि-सिद्धान्त जिस रूप में लिया जाय उसे न्यायसंगत समझने में कठिनाई चली आती है। यदि ईश्वर-वचन को वह शक्ति मान ली जाय जिससे इस जगत् की रचना होती है, तो वचन को भौतिक माना जाय या आध्यात्मिक ? यदि भौतिक माना जाय तो ईश्वर में भौतिक और आध्यात्मिक, दो परस्पर-विरोधी तत्त्वों के एकसाथ रहने को भी स्वीकार किया जायगा। ऐसी स्थिति में ईश्वर-प्रत्यय में ही आत्मविरोध चला आता है। इससे बचने का उपाय शंकर का मायावाद है। पर माया-स्वरूप ? शंकर ने इसे सदसद्विलक्षण कहा है, अर्थात् इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं हो सकती है। यदि उपादान को ईश्वर से बाह्य माना जाय तो या तो सांख्य के समान द्वैतवाद स्वीकारना होगा या

अन्य भारतीय धर्मदर्शन के समान अनेकवाद को अपनाना पड़ेगा। दोनों ही स्थितियों में विचार-संगति टूट जाती है, क्योंकि भौतिक और आध्यात्मिक द्रव्यों के बीच किसी प्रकार का न्यायसंगत सिद्धान्त नहीं स्थापित हो पाता है। यह ठीक है कि रामानुज ने प्रकृति और जीव-अनेकता को ईश्वर का शरीर मानकर प्रकृति को ईश्वर-निर्भर बताया है। पर स्वयं रामानुज को आभास हुआ कि बिना अद्वैत के दार्शनिक विचार को न्यायसंगत नहीं स्वीकारा जा सकता है। अतः, उन्होंने बताया कि प्रयलकाल में बीजरूप में प्रकृति इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि इसके रूप को नहीं-बराबर कहा जा सकता है। पर सूक्ष्म या बीजरूप में ही सही प्रकृति रहे तो भी ब्रह्म में विशिष्टता चली आती है और अद्वैत का आदर्श लुप्त हो जाता है।

क्यों सृष्टि-सिद्धान्त दोष-ग्रस्त हो जाता है? हमलोगों ने पहले ही कहा है कि धर्म का विषय उस सत्ता के साथ है जो अनुभवातीत है। जहाँ अनुभव नहीं पहुँच सकता, वहाँ सत्य-असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर वास्तव में ये समस्यायें ही नहीं हैं; ये केवल समस्याभास (pseudo-problems) हैं। यदि ऐसी बात हो तो सृष्टि-विचार को लेकर धर्मों के बीच वाद-विवाद, संघर्ष इत्यादि सभी वृथा हैं। यहाँ दर्शन नहीं, कल्पना अथवा मिथक का क्षेत्र है। धर्म-विचारकों को समझना चाहिए मानव संस्कार, संस्कृति, व्यक्तित्व के प्रकार इत्यादि के कारण अलग-अलग मिथक रचते हैं। सब मिथकों का उद्देश्य एक ही हैं, अर्थात् यह कि मानव पाशविक वृत्तियों के वश में न रहकर अपनी बुद्धि के द्वारा अपनी शारीरिक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर अपने जीवन को मूल्यमण्डित करे। सृष्टि-सम्बन्धी मिथक भिन्न होते हुए भी इस सन्दर्भ में सभी धर्मों का उद्देश्य एक ही है।

मानव-विचार

पूर्व-संस्कार और स्वतन्त्रता

भारतीय परम्परा के अनुसार मानव तत्वतः शुद्ध आत्मा है, चाहे वह परम सत्ता का मात्र अंश हो (रामानुज) या नामरूप के फलस्वरूप जीव ब्रह्मैव ही हो या सांख्य, जैन, न्याय आदि के अनुसार स्वतन्त्र आत्मा हो। इस रूप में तात्विक दृष्टि से मानव अशरीरी है, शुद्ध चैतन्य है[1]। पर इस सांसारिक जीवन में मानव दुःखपूर्ण परिस्थिति में रहता है और यह दुःख आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक बताया गया है।

---

१. न्याय-वैशेषिक के अनुसार आत्मा की चेतना शरीर, इन्द्रियों आदि के सम्भव नहीं है। अतः, चैतन्य आत्मा का सारगुण नहीं कहा जा सकता है। पर अधिकतर भारतीय धर्मदार्शनिक आत्मा को चैतन्यपूर्ण मानते हैं, उदा० जैन, अद्वैत वेदान्त, सांख्य इत्यादि। बौद्धों में भी इस सन्दर्भ में कुछ मतभेद है।

मानव क्यों दुःखपूर्ण सांसारिक आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है ? इसकी व्याख्या नहीं की गयी है, पर इस स्थिति में पड़े रहने का मुख्य कारण अज्ञान अथवा अज्ञानवश कर्म (रामानुज) को बताया जाता है। पर सेश्वरवादी भारतीय धर्मों में ईश्वर नहीं, वरन् स्वयं मानव ही इस दुःखपूर्ण सांसारिक जीवन के लिए उत्तरदायी है। रामानुज और शंकर दोनों ने इस बात को स्पष्ट रूप में कहा है[1]। असाक्षात् रीति से यह बात सांख्य-दर्शन में भी स्पष्ट है क्योंकि जीव अज्ञानवश प्रकृति के साथ आत्मसात् कर देह धारण कर दुःख झेलता रहता है। तब क्या वह अपने पूर्व कर्मसंस्कार में जकड़ा रह अपना उद्धार नहीं कर सकता है ?

पूर्वकर्मसंस्कार का बोझ अवश्य रहता है, पर मानव को पुरुषकार के लिए स्वतन्त्र जीव माना गया है। दैव और पुरुषकार की समस्या रामानुज़ के दर्शन में जटिल दिखती है तो भी रामानुज ने स्पष्ट माना है कि मानव अपने कर्मों के लिये स्वतन्त्र है।

नबीमूलक धर्मों में मानव को इस सृष्टि का सर्वोच्च जीव स्वीकारा गया है। यहूदी और ईसाई धर्मों में मानव को ईश्वर का बिम्ब (image of God) माना गया है, क्योंकि इन धर्मों के अनुसार ईश्वर ने मानव को अपने बिम्ब के रूप में रचा। इस्लाम में भी मानव को इस संसार में ईश्वर का प्रतिनिधि बताया गया है। फिर मानव को स्वर्गदूतों से भी श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि ईश्वर ने मानव की रचना करके स्वर्गदूतों से कहा, 'आदम के सामने झुको'। किस बात में श्रेष्ठ बनाया ? क्योंकि आदम को बुद्धि दी गयी और फिर उसे स्वतन्त्र जीव बनाया गया। नबीमूलक धर्मों में मानव को स्वतन्त्र जीव माना गया है, तब इन धर्मों में पूर्वनियतिवाद की बात क्यों ? ईश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता और परम दयालुता से द्रवित होकर मानव अपने में कोई गुण नहीं पाता है। पर जब वह अपने जीवन में परमेश्वर की दया, अपने पापों की क्षमा और आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करता है तो भक्तिभाव से ओतप्रोत होकर वह ईश्वर को ही सभी कर्मों का कर्त्ता समझता है और तब उसे ईश्वर ऐसा मालूम देता है मानो उसने सृष्टि के प्रारम्भ से उसके उद्धार करने की बात निर्धारित कर ली थी। अतः, पूर्वनियतिवाद भक्ति का बोधक है और वास्तव में नबीमूलक धर्मों में मानव को स्वतन्त्र माना गया है।

उपर्युक्त विचारों को ध्यान में रखने पर स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय और नबीमूलक, दोनों परम्पराओं में मानव को स्वतन्त्र माना गया है और दोनों में भक्ति-

---

१. शंकरभाष्य (ब्रह्मसूत्र) भाग ३४ पृ० २१४ (Sacred Book of the East, vol. 34)। मानव अपनी सांसारिक दशा के लिए उत्तरदायी है, न कि ईश्वर। रामानुज ने श्रीभाष्य, पृ० ४७८ में स्पष्ट कहा है कि मानव अपनी शारीरिक स्थिति के लिये उत्तरदायी है।

भाव के उमड़ पड़ने पर ही पूर्वनियतिवाद की बात उठायी गयी है। फिर यदि मानव की अंत्यन्तम दशा और स्वरूप पर विचार किया जाय तो दोनों परम्पराओं में मानव को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। नबीमूलक परम्परा में मानव को ईश्वर का बिम्ब (यहूदी, ईसाई) अथवा प्रतिनिधि और स्वर्गदूतों से भी श्रेष्ठ माना गया है (इस्लाम)। इसी प्रकार मानव को भारतीय परम्परा में शुद्ध, नित्य आत्मा कहा गया है। शंकर के अनुसार जीव वास्तव में ब्रह्म ही है और रामानुज के दर्शन से जीव अपने असली स्वरूप को जान लेने पर ईश्वर-सामीप्य प्राप्तकर ईश्वर के समान हो जाता है।

देह और आत्मा

जहाँ तक शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, वहाँ भारतीय परम्परा में विचार स्पष्ट है कि शरीर मानव आत्मा का बाह्य अथवा आकस्मिक गुण है। यह बात गीता, सिख धर्म, सांख्य इत्यादि दर्शनों में स्पष्ट है। पर यहूदी धर्म में मानव बिना शरीर के सम्भव नहीं हो सकता है। यही कारण है कि यहूदी परम्परा के अनुसार, एनोक, एलयाह, नबी और ईसा सदेह स्वर्ग चले गये*। पर बाद में यूनानी दर्शन से प्रभावित होकर ईसाई धर्म में और फिर कुछ अंश में इस्लाम में भी मानव की आत्मा को उसके शरीर से भिन्न समझा जाने लगा। सन्त पॉल के अनुसार पुनरुत्थान के अवसर पर मानव को अविनाशी शरीर दिया जायगा और इस्लाम के अनुसार या तो आत्मा मरणकाल में ईश्वर में लौट जायगी या पुनरुत्थान-दिवस तक बर्ज़ख़ (निलम्ब स्थिति) में रहेगी। अतः, नबीमूलक धर्मों में मानव की अन्तिम गति किसी न किसी रूप में सदेही बतायी गयी है। अतः, भारतीय परम्परा में मानव का असली स्वरूप शुद्ध आध्यात्मिक है, पर ऐसा नबीमूलक धर्मों में नहीं है।

भारतीय परम्परा के अनुसार मानव का असली स्वरूप है कि वह शुद्ध आत्मा है और अज्ञान अथवा अविवेकी कर्म के अनुसार मानव सांसारिक दुःखमय चक्र में पड़ गया है। ईश्वरवादी परम्परा के अनुसार मानव अपने कर्म के द्वारा अपने आवागमन से मुक्त नहीं हो सकता है। यही बात ईसाई धर्म में 'मूल पाप' के सिद्धान्त में पायी जाती है। आदम ने प्रारम्भ में ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन किया और ऐसा करने पर उसके अबोधपन (भोलेपन) का अन्त हो गया और उसे बुरे-भले का ज्ञान होने लगा। पर दिनों-दिन मानव की पापवृत्ति बढ़ती गयी और कालक्रम में व्यक्ति और समाज में यह पापवृत्ति इतनी गहरी और व्यापक हो गयी है कि मानव अब अपनी ही चेष्टा से अपना उद्धार नहीं कर सकता है**। इसलिए बिना ईश्वर के अनुग्रह के मानव का उद्धार नहीं हो सकता

---

* हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि प्रारम्भ में ईसा के सभी चेले यहूदी थे और बहुत दिनों तक ईसाई धर्म यहूदी धर्म की एक शाखा समझा जाता था।

** सन्त पॉल ने अवश्य लिखा है कि आदम के पाप करने से उसके सभी वंशज पाप-

है। जहाँ तक भक्ति और ईश्वर के अनुग्रह के सिद्धान्त की चर्चा की गयी है वहाँ तक ईसाई धर्म और रामानुज के भक्ति एवं अनुग्रह के सिद्धान्त में इतनी समानता है कि विदेशी विद्वानों (उदा०, जार्ज ग्रियर्सन) ने बताया है कि रामानुजी और गीतायी शिक्षा ईसाइयों से ली गयी है। मेरी समझ में ईसाई और हिन्दू विचारों के इस सन्दर्भ में किसी प्रकार का पारस्परिक प्रभाव नहीं पड़ा है। भारतीय भक्ति-विचार भारतीयों की अपनी निजी सम्पत्ति है। पर इससे स्पष्ट हो जाता है कि दोनों धर्मों में संघर्ष का कोई स्थान नहीं है क्योंकि ईश्वरीय अनुग्रह के द्वारा पाप-प्रक्षालन और उद्धार, दोनों धर्मों में एक-समान ही दिखायी देता है।

क्यों मानव-जीवन में ऐसी बुराई आयी कि मानव ने ईश्वर के बिम्ब को भुलाकर अपनी पाशविक वृत्तियों को अपनाया, इसे स्पष्ट करने के लिए यहूदी और ईसाई धर्मों में आदम-हव्वा-साँप-सेव इत्यादि के मिथक को काम में लाया गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार अज्ञान के कारण मानव अपने असली स्वरूप से विमुख होकर तृष्णा, क्रोध, लोभ इत्यादि पापवृत्तियों में पड़ गया है। जिस प्रकार मिथक को दार्शनिक व्याख्या नहीं बताया जा सकता, उसी प्रकार अज्ञान को 'अनादि' कहकर उसकी दार्शनिक व्याख्या नहीं हो पायी है। पर अन्त में देखा जाय तो अज्ञान और मूल पाप का सिद्धान्त, दोनों बताना चाहते हैं कि मानव किस प्रकार अपने असली स्वरूप से भटक गया है। अतः, अज्ञान और मूल पाप के सिद्धान्तों में उतनी अधिक दूरी नहीं है जितना लोग समझते हैं।

फिर भारतीय परम्परा के अनुसार बताया जाता है कि 'अहंकार' के रहने से ही मानव अपने असली स्वरूप से भटक गया है। अहंकार को सांख्य, अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत, सिख धर्म (हौमें-विचार) में पापवृत्तियों का मुख्य आधार माना गया है। सिमिटिक परम्परा के अनुसार ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने से ही मानव अपने पापों में फँस जाता है। क्यों ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन किया जाता है क्योंकि मानव अपनी पाशविक वृत्तियों को तुष्टि चाहता है। अतः, दोनों परम्पराओं में तृष्णा व पाशविक वृत्तियों के कारण ही मानव का पतन होता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार मानव का असली स्वरूप है कि वह ईश्वर पर अपनी पूर्ण निर्भरता को समझे और ऐसा ज्ञान प्राप्त करके अपने पृथक् अस्तित्व को ईश्वर की इच्छा में विलीन कर दे। यह बात ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म व पारसी धर्म में एक-समान है।

वृत्ति में पड़ गये हैं। इस सन्दर्भ में प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही पापवृत्ति के लिए दण्ड का अधिकारी होगा, न कि आदम या उसकी जाति के पाप करने से उसे दण्ड भोगना पड़ता है—(इज्रकियेल १८ : २०, ३०)।

इन दोनों परम्पराओं में बताया जाता है कि व्यक्तिगत इच्छा को ईश्वर की इच्छा के अधीन कर देने पर मानव अपनी सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्तकर अपने स्वरूप को प्राप्त करेगा।

जब मैं था तब गुरु नहीं,
अब गुरु है, मैं नाहिं ॥

अतः, एकेश्वरवादी परम्परा में, चाहे भारतीय हो या सिमिटिक, दोनों में ईश्वर को अपने को सम्पूर्णतया समर्पित कर लेने पर मानव अपने असली स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

संसार-चक्र और नरक

लोग ऐसा समझते हैं कि भारतीय आवागमन का सिद्धान्त सिमिटिक धर्मों में चर्चित न्यायदिवस और स्वर्ग-नरक की मान्यताओं के साथ मेल नहीं खाता है। लेकिन यदि ध्यान दिया जाय तो दोनों में कुछ साम्य अवश्य है। नरक वह लोक है जहाँ मानवों को उनके पाप के कारण दण्ड दिया जाता है। नरक दुःख-भोग के लिए रचा गया है। फिर यदि आवागमन के सिद्धान्त पर ध्यान दिया जाय तो यह संसार दुःखपूर्ण समझा जाता है। यदि मानव अज्ञान से अपनी मुक्ति नहीं प्राप्त करेंगे तो इस अनादि संसार-चक्र में दुःख भोगते रहेंगे। तब क्या संसार-चक्र को नरक-तुल्य यातना की व्यवस्था नहीं माना जा सकता है।

अतः, कर्म-संसार का सिद्धान्त और नरक-विचार दोनों में अनुरूपता है और दोनों में उतनी अधिक दूरी नहीं है जितना लोग समझते हैं। पर यह भी मानना पड़ेगा कि वैदिक आर्यों में 'मुक्ति' के स्थान पर 'स्वर्ग-प्राप्ति' को ही मान्यता दी गयी थी। इस रूप में सिमिटिक धर्म और वैदिक परम्परा में बहुत अधिक समीपता चली आती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम पूर्वार्द्ध में पाश्चात्य विचारक डॉ० स्वाइत्सर (Schweitzer) इत्यादि भारतीय परम्परा को संसार-जीवन-निषेध (world life negation) मानते थे। इसके पूर्व डॉ० अर्काट ने भारतीय दर्शन के प्रमुख अद्वैतवाद को संसार-पलायन की संज्ञा दी थी। इस सन्दर्भ में डॉ० राधाकृष्णन् ने Eastern Religion and Western Thought में इन आपत्तियों का प्रत्युत्तर किया है। पर बात निश्चित है कि यदि संसार की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और यदि यह ईश्वर (सिमिटिक धर्मों में तथा भारतीय ईश्वरवादी धर्मों में) पर निर्भर करता है, तो अमर, नित्य आत्मा क्यों इस निर्भर, पराश्रित संसार पर अपना भरोसा रखे ? स्पिनोज़ा ने कहा है कि मानव इसलिए दुःख पाता है कि वह अपना हृदय क्षणभंगुर वस्तुओं पर लगाता है। वस्तुयें नष्ट हो जाती हैं और उनके अभाव में मानव अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने पर दुःखी होता है। पर क्या अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध महायानी धर्मदर्शन में संसार की व्यावहारिक सत्ता नहीं स्वीकारी है ? जब तक मानव को ब्रह्म-ज्ञान नहीं प्राप्त होता है तब तक

मानव को इस संसार को सत्य समझना होता है। रामानुज और सिख धर्म के अनुसार, **विश्व ईश्वर की सृष्टि है।** उसे इस रूप में जानने पर संसार के स्वरूप का असली ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और तब संसार में तदनुरूप अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। अतः, भारतीय परम्परा में वास्तव में व्यावहारिकता की दृष्टि से पलायनवाद नहीं है। हाँ, अनासक्ति का आदेश अवश्य मिलता है तथा गीता के अनुसार 'निष्काम कर्म' पर बल अवश्य दिया जाता है।

पलायनवाद :

यदि भारतीय धर्मपरम्परा को पलायनवाद कहा जाय तो ईसाई मठवास को क्या कहा जायगा? फिर सन्त पॉल ने भी विश्व के प्रति अनासक्ति का उपदेश दिया है। जहाँ पारलौकिकता पर बल दिया जयगा, वहाँ ऐहिकता के प्रति उदासीनता का भी सन्देश रहेगा। यह ठीक है कि पाश्चात्य विचारकों ने विज्ञान से लाभ उठाकर संसार पर और मानव-जीवन-सुधार पर बहुत बल दिया है। इस सन्दर्भ में रामकृष्ण आश्रम ने भी बहुत अधिक ध्यान दिया है। इस्लाम और सिख धर्मों में इस सांसारिक कर्तव्यों को ईश्वर की आज्ञा के अनुसार निभाने की शिक्षा प्रारम्भ से ही पायी जाती है। इन धर्मों में संन्यास पर बल नहीं दिया गया है। पर भारतीय परम्परा में भी साधारणतया ससार के प्रति कर्तव्यों को निभा लेने पर इन कर्तव्यों से अवकाश पाने पर ही संन्यास आश्रम लेने का उपदेश है। अतः, पलायनवाद तथा सुधारवाद, ये दोनों व्यर्थ के विवाद हैं। वास्तव में ये दोनों मानव-प्रवृत्ति और विज्ञान-विकास पर निर्भर करते हैं। सभी धर्मों में दोनों प्रकार के विचार पाये जाते हैं। क्या सूफ़ीमत को औपनिषद्-भक्ति और संन्यास के सरीखे एक-समान नहीं माना जा सकता है? फिर क्या पाश्चात्य भक्ति को भारतीय भक्ति-परम्परा के समकक्ष नहीं माना जाता है?

पलायनवाद से मिलती हुई दूसरी समस्या है निराशावाद (pessimism) की। कहा जाता है कि भारतीय धर्मपरम्परा निराशावादी है क्योंकि तात्त्विक रूप से संसार और अज्ञानपूर्ण मानव जीवन को दुःखमय माना गया है। पर इसका प्रत्युत्तर बार-बार किया गया है कि दुःखपूर्ण परिस्थिति पर इसलिए बल दिया जाता है कि मानव चेते और जीवन के प्रलोभन में पड़ा नहीं रह जाय। भारतीय धर्मदर्शन का परम लक्ष्य यही है कि मानव अपनी मुक्ति प्राप्त करे जो सम्पूर्णतया आनन्द की स्थिति है। ईश्वरवादी परम्परा में इसे बैकुण्ठवास कहा गया है (उदा० रामानुजी एकेश्वरवादी धर्मदर्शन); और अद्वैतवादी परम्परा में ब्रह्म-लय की शिक्षा दी गयी। निर्वाण-गति शुद्ध रूप से नकरात्मक है, अर्थात् वह स्थिति जहाँ 'अहंभाव' ही नहीं रहता और जहाँ सुख-दुःख दोनों से परे शून्य भाव का ही रहना कहा जा सकता है। पर क्या यह शिक्षा नबीमूलक धर्मों से सर्वथा भिन्न है?

नबीमूलक धर्मों में भी बताया जाता है कि नरक-दण्ड मानव की अन्तिम गति है यदि वह अपने पापों से न फिरे और ईश्वर की आज्ञाओं की अवज्ञा करे। अब सांसारिक दुःख-चक्र और नरक-भय दोनों एक ही प्रकार की विधियाँ है जिनसे मानव को जगाया जाता है। अतः, न तो संसार-चक्र को और न नरक-भय को निराशावाद का सन्देश माना जा सकता है। 'मोक्ष' भारतीय परम्परा में और स्वर्गानन्द-प्राप्ति नबीमूलक धर्मों का भावात्मक पक्ष है जिसे आशावाद ही कहा जा सकता है। इस रूप में दोनों परम्पराओं का चरम लक्ष्य एक ही है। तो भी कहना पड़ेगा कि नबीमूलक धर्मों में संसार और संसार-सुधार का भावात्मक अपेक्षाकृत भारतीय परम्परा की तुलना में अधिक स्पष्ट है।

नबीमूलक धर्मों में ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि इसलिए की है कि मानव सृष्टि का अध्ययन कर इसके रचयिता अर्थात् ईश्वर को जाने। संसार की गतिविधियों का अध्ययन कर अपने जीवन का भी यापन कर ले। चूँकि सृष्टि ईश्वर की रचना है, इसलिए यह वास्तविक और अच्छी ही है। ईश्वर की आज्ञा (दस आज्ञा, यहूदी धर्म में) तथा बाइबिली अथवा कुरान में दी गयी शिक्षा बताती है कि इस संसार में रहकर संसार के प्रति और अन्य मानवों के प्रति किसी व्यक्ति तथा समुदाय का क्या धर्म है। इस्लाम में सामाजिक दायित्व पर बल दिया गया है और विज्ञान के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप ईसाई धर्म में भी मानव-सेवा तथा समाज-सुधार पर बहुत बल दिया गया है। पर सिद्धान्ततः पारसी और सिख धर्मों में सांसारिक कर्त्तव्यों को निभाने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

पारसी धर्म में बताया गया है कि मानव का कर्तव्य है कि वह अहूर मज़दा का सहायक होकर शैतानी शक्तियों को परास्त करे। इसी प्रकार सिख धर्म में भी बताया जाता है कि जब व्यक्ति को इसका ज्ञान हो जाता है कि ईश्वर सम्पूर्ण प्रकृति की घटनाओं में समाया हुआ है तो वह इस जानकारी से प्रसन्न होता है और सम्पूर्ण सृष्टि को शुभ समझता है। चूँकि कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति की परम्परा में मानव स्वयं अपना ही भाग्य-विधाता होता और उसका अपना ही कर्मसंस्कार उसकी दुःखपूर्ण परिस्थिति का कारण होवा है, इसलिए संस्कार को सम्पूर्णतया शुभ समझना उसके लिए कठिन हो जाता है। भला अज्ञानवश कर्मों से किस प्रकार संसार-रचना शुभ हो सकती है ? पर इसी को दूसरी दृष्टि से देखा जाय कि स्वयं मानव अपने ही प्रयास से अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है, तो इसे मानवतावाद का उच्च आदर्श समझा जायगा। बुद्ध भगवान का अन्तिम वचन 'अप्पो दीपो भव' मानवतावाद का अन्तिम आह्वान है। यह सन्देश डॉ० इक़बाल के 'ख़ुदी को कर बुलन्द इतना.......' से भी अधिक मार्मिक है।

अंतिम गति

सिमिटिक विचारधारा के अनुसार एक परमसत्ता रूप में ईश्वर है जो इस विश्व का निमित्त और उपादान दोनों प्रकार का कारण है। उसका परम उद्देश्य है कि मानव ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करे। अनुग्रह (Grace) को प्राप्त कर लेने के उपरान्त मानव अपनी पाशविक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करेंगे, अपनी इच्छाओं को ईश्वर की आज्ञा के अनुसार ईश्वर को अर्पित करके सत्यसंकल्पी (holy will) जीव प्राप्त करेंगे।

पर ईश्वर का चरम उद्देश्य प्राप्त करना आसान नहीं है। ईश्वर ने मानव को अपने बिंब के अनुसार उत्पन्न किया है, उसे इच्छा-स्वातंत्र्य का दान दिया है। पर स्वतंत्र इच्छा का दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों हो सकता है। यह बात आदम-हवा के मिथक और क़ुरान से स्पष्ट है। जो ईश्वर के बताये मार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं, ईश्वर उन्हें सुधारने, चेतावनी देने तथा चेत कराने के लिये इसी जीवन में दण्ड देता रहता है। ईश्वर के आज्ञाकारी भक्त भी दुःखभोग से इस जीवन में बच नहीं सकते हैं। इसका कारण है कि सत्यसंकल्पी जीव होने के लिये परीक्षाओं को पार करना पड़ता है और दुःख भोग के आधार पर अपने को ईश्वर की शरण में जाकर अपने चरम उद्देश्य को पूरा करना पड़ता है। यही कारण है कि ईसा की भी परीक्षायें होती रहीं और अंत में मृत्यु-दण्ड भोगना पड़ा ताकि उनके दुःखभोग से ईश्वर की इच्छा और उसका माहात्म्य लोगों को प्रकाशित हो जाय।

पर यदि बार-बार नबियों के द्वारा सच्चे मार्ग के बताये जाने पर भी मानव सत्यसंकल्पी जीव न बने तो मानव दण्ड का अधिकारी हो जाता है। पापी को नरक और ईश्वर के आज्ञाकारी दासों को स्वर्ग प्राप्त होता है। इस्लाम में और यहूदी-ईसाई धर्मों में स्वर्ग-वास की कल्पना भिन्न-भिन्न हो जाती है। इस्लाम के अनुसार स्वर्ग इसी ऐहिक जीवन का उत्तम रूप है जिसमें सभी शुद्ध वृत्तियों की पूर्ति होती है। यहूदी-ईसाई धर्मों में स्वर्ग-वास स्वर्गदूतों के जीवन के समान सत्यसंकल्पी जीवों का पवित्र जीवन-यापन होता है।

न्यायदिवस के निर्णय के अनुसार स्वर्गिक और नारकीय-वास नित्य और शाश्वत बताया जाता है। आधुनिक समय में न तो मुसलमान और न ईसाई नारकीय आवास को नित्य समझ सकते हैं। सर्वप्रथम, ईश्वर को सर्वशक्तिमान मान लेने के साथ ईश्वर को दयालु, करुणामय और प्रेमी भी स्वीकारा जाता है। अतः कोई भी दयालु सृष्टिकर्त्ता अपने सृष्ट जीव की शाश्वत यातना को सहन नहीं कर सकता है। दूसरी बात है कि सभी कार्य विनाशी ही हो सकते हैं। यह नारकीय-वास भी मानव-जीवन के फलस्वरूप ही प्राप्त होता है। अतः नारकीय वास भी कार्य होने के कारण नित्य और शाश्वत नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है कि डा० इकबाल ने स्वर्ग-नरक को लोक नहीं माना

था और इन्हें विकास-गति की स्थितियाँ बतायी थीं। फिर पारसी धर्म में नरक-स्वर्ग के स्थान पर अहूर मज़दा के अंतिम विजय की बात कही थी और इस विजय को प्राप्त करने के लिये मानव को अपना सहकर्मी और सहविजेता माना है।

भारतीय परंपरा में एकेश्वरवादी विचार में (गीता और रामानुजी धर्मदर्शन में) मानव शुद्ध आत्मा, अमर, अजन्मा, शाश्वत और नित्य जीव है। अनादि काल से ही वह पाप और अज्ञान कर्म में फँसकर सांसारिक-चक्र में दुःख झेलता आ रहा है। पर यदि व्यक्ति अपने को ईश्वर की शरण में ले आये तो ईश्वर-अनुग्रह से उसके सभी पूर्व-कर्म विनष्ट हो जायेंगे और उसको ईश्वर की शरणागति प्राप्त हो जायगी। इस परमगति को उद्धार कहा गया है। उद्धार प्राप्त कर लेने पर भक्त बैकुंठ-वास करेगा। वहाँ उसे ईश्वर-सायुज्य, सानिध्य प्राप्त होगा; केवल सृष्टिकर्तृत्व एवं विनाश का छोड़कर ईश्वरीय ऐश्वर्य और शक्ति उसे प्राप्त होगी। पर वैकुंठवासी भक्त भी सर्वथा सम्पूर्णतया ईश्वर पर निर्भर रहेगा। इसलिये ईश्वर-दासत्व मानव की पूर्ण स्वतंत्रता और पूर्णता बतायी गयी है। यह स्थिति मानव के पूर्णानन्द की कही गयी है। यहाँ नरक की बात ही नही उठती, क्योंकि जब तक मानव को बैकुंठ प्राप्त नहीं होता वह सांसारिक चक्र में दुःख झेलता हुआ भटकता रहता है। अतः सांसारिक-चक्र कर्म का फल भी है और फिर पाप-प्रक्षालन का मार्ग भी है।

ईश्वरवादी परंपरा के अतिरिक्त अद्वैतवादी परंपरा भी है जिसमें परमसत्ता को निर्गुण ब्रह्म माना गया है। इस विचारधारा के अनुसार मानव आज्ञानवश इस सांसारिक चक्र में पड़कर उसी प्रकार दुःख पाता है जिस प्रकार दुःस्वप्न में स्वप्नद्रष्टा दुःख भोगता है। ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मानव ब्रह्म में लय हो जाता है। सिख धर्म में व्यक्ति के विलयन एवं संरक्षण की दोनों बातें बतायी गयी हैं, पर अधिकांश सिख विचारक व्यक्तित्व-संरक्षण को स्वीकारते हैं।

बौद्ध धर्मदर्शन में न अहंभाव रहता और न व्यक्तित्व। यह अज्ञानवश मानव समझते हैं कि वे कुछ व्यक्तित्व रखते हैं। सभी वस्तुएँ, पदार्थ और व्यक्ति क्षणभंगुर घटनाओं के संघात मात्र हैं। अतः पूर्ण निर्वाण अथवा विलोपन ही मानव की अंतिम गति है।

भारतीय परंपरा के अंतर्गत मानव की अंतिम गति के संदर्भ में जीवन्मुक्ति का भी प्रश्न आता है। पर जीवन्मुक्ति के विषय में वेदान्तियों में भी मतैक्य नहीं है। मंडन और शंकर दोनों अद्वैतवादी हैं। पर मंडन जीवन्मुक्ति नहीं मानते हैं, पर शांकर मत के अनुसार जीवन्मुक्ति ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश देने के लिये आवश्यक है। रामानुज भी जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके लिये भी विना देहपात के मुक्ति संभव नहीं है। रामानुज के लिये गुरु आवश्यक अवश्य होता है, पर शास्त्रों में ही मुक्ति-ज्ञान दिया गया है। अतः जीवन्मुक्त गुरु की आवश्यकता अवश्य है, पर उसकी अनिवार्यता नहीं।

वास्तव में देखा जाय तो मानव की अन्तिम गति के संदर्भ में नबीमूलक और भारतीय परंपरा का भेद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना सगुण और निर्गुण ब्रह्म का भेद। जो ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण परमसत्ता मानते हैं वे मानव की अन्तिम गति को स्वर्ग वास के आनंद को स्वीकारते हैं। (यहूदी-ईसाई धर्म तथा इस्लाम-रामानुजी धर्म) और जो निर्गुण ब्रह्म को स्वीकारते हैं वे प्रायः लय-सिद्धान्त को स्वीकारते हैं (अद्वैतवादी परंपरा)। फिर अद्वैतवादी परंपरा में दुःख-विनाश ही को परम गति समझा जाता है। इसके अन्तर्गत बौद्ध दर्शन को भी शामिल किया जा सकता है। फिर एकेश्वरवादी परंपरा में स्वर्गिक परमानंद को दुःख से परे भावात्मक रूप से स्वीकारा जाता है। जीवन्मुक्ति के विषय में वास्तव में मंडन मिश्र, शंकर तथा रामानुज में शाब्दिक ही भेद है। शंकर के लिये देहविहीनता-भाव को मुक्ति-संज्ञा दी जा सकती है, पर मंडन और रामानुज के अनुसार सदेही रहने का अर्थ ही है कि बंधन का लेश है। अतः वेदान्ती विचारधारा में जीवन्मुक्ति का भेद शाब्दिक है, न कि वास्तविक।

अतः मानव की अंतिम गति के संदर्भ में ऐकेश्वरवाद की विचारधारा में बहुत कुछ समानता है, क्योंकि यहाँ स्वर्गिक आनंद के साथ व्यक्तित्व के संरक्षण को ही अंतिम गति समझा जाता है।

रहस्यवाद

जहाँ तक रहस्यवाद की बात है, वह प्रायः दोनों परम्पराओं में पायी जाती है। अन्तर इतना ही भर है कि एकेश्वरवादी विचार-धारा में भक्त ईश्वर के साथ सायुज्य स्थापित करना चाहता है और वह मानता है कि वह ईश्वर के बराबर नहीं होता और न वह उसमें लय हो जाता है। यह ईसाई भक्ति और सूफ़ी मत दोनों में लगभग एक ही स्थिति है। यही बात रामानुजी भक्ति धारा में भी देखी जाती है।

उपसंहार

अन्त में देखा जाय तो वास्तव में धर्मों में बहुत कुछ समानता है। उनके उद्देश्य एक ही हैं, अर्थात् मानव की पाशविक वृत्तियों को प्रशिक्षितकर उन्हें मूल्यवान बनायें। अन्तर भी अवश्य है। न तो मानव सर्वथा एक-समान हैं और न एकदम विभिन्न। एक ही आदर्श रहते हुए भी मानव शिक्षा-दीक्षा, संस्कार, संस्कृति व्यक्तित्व-विकास, मानसिक रचना इत्यादि के आधार पर विभिन्न पाए जाते हैं। अतः धर्म-विषय, धर्म-विचार, धर्म-दर्शन इत्यादि में विभिन्नता रहना अनिवार्य है तो भी यदि शंकर के अभेद-सिद्धान्त को स्वीकारा जाय तो मानवों के विभिन्न धर्मों में आपसी और अन्तर्धर्मीय समीपता आ सकती है।

पाप (Sin)

पाप-विचार पैग़म्बरी, पारसी धर्म में तथा वरुण की उपासना में देखा जाता है।

पर पाप के अनुरूप भारतीय धर्मपरंपरा में पतन, अविद्या, अज्ञान, बंधन इत्यादि विचार देखने में आते हैं। इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है जिसके ऊपर यहाँ भी एक विहंगम-दृष्टि फेरी जायगी।

पाप-विचार को अपराध तथा नैतिक भ्रष्टाचार से भिन्न समझना चाहिये। अपराध किसी देश की विधियों के उल्लंघन करने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। उदा०, चोरी, धोखा देना, हत्या इत्यादि अवैध (illegal) व्यापार कहा जायगा। इसी प्रकार नैतिक भ्रष्टाचार वह व्यापार है जिसमें नैतिक नियमों का उल्लंघन किया जाता है, उदा०, क्रूरता, कृतघ्नता इत्यादि। पाप-विचार विशेषकर ईश्वरवादी धर्मों में देखा जाता है अर्थात् यहूदी, ईसाई, पारसी और इस्लाम धर्म। ऋग्वेद के वरुण-देवता भी उच्चकोटिक देवता माने गये हैं और उनके संदर्भ में भी पाप-विचार देखने में आता है। संभवतः वरुण-देवता का संबंध पारसी धर्म से विशेष था और इन्हें भी 'असुर' कहा गया है जिसे फारसी के 'अहूर' की ध्वनि से मिलती भावना कहा जा सकता है।

दोष-भावना (Sense of guilt) के साथ ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने को पाप कहा जाता है। चूँकि प्रायः ईश्वर को 'राजा' अथवा 'न्यायाधीश' समझा गया है, इसलिये ईश्वर की आज्ञाओं के न पालन करने के फलस्वरूप मानव अपने को दोषी अथवा दंड के योग्य समझता है। फिर दस आज्ञाओं पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि यहूदी धर्म (मूसाई तौरेत) के अनुसार इन आज्ञाओं का संदर्भ समाज-कल्याण भी है। अतः चोरी, लालच, हत्या इत्यादि समाज में रहकर अपने पड़ोसी के विरुद्ध व्यापार माना गया है। अतः ईश्वर की आज्ञाओं के न पालन करने पर पापी अपने को अपराधी और दण्ड-योग्य समझता है। प्रायः मूसाई नियम के अनुसार, अपराध का प्रतिकार ऋण-तुल्य पैसा देकर अपराध का परिक्षालन समझा जाता था, इसलिये पाप को 'ऋण' के रूप में भी समझा गया है। प्रश्न होता है कि पाप क्यों, जब ईश्वर ने ही मानव की सृष्टि की है?

प्रायः इस प्रश्न का उत्तर ईश्वरवादी धर्मों में बताया जाता है कि ईश्वर ने मानव को इसीलिये बनाया कि वह सभी प्रलोभनों और परीक्षाओं में सफल होकर सत्यसंकल्पी एवं पवित्र जीव बने। परंतु सत्यसंकल्पी जीव बनने के लिये अपनी स्वतंत्र इच्छा को बुरी भावनाओं और कर्मों से बचकर सद्भावना की प्राप्ति करने में ही संभव होती है। अतः ईश्वर ने मानव को इच्छा-स्वातंत्र्य दिया और जहाँ स्वतंत्रता रहेगी, वहाँ 'इच्छा' के दुरुपयोग की भी संभावना होगी। अतः पाप ईश्वर की आज्ञाओं के न पालन करने से उत्पन्न होता है और मानव स्वतंत्र है कि वह ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करे या न करे। ईश्वर मानव को भी स्वर्गदूतों के समान ऐसा बना सकता था जो सर्वदा ईश्वर की इच्छानुसार ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हैं। पर स्वतंत्र इच्छा रखकर भी सत्यसंकल्पी होना स्वर्गदूतों की गति से भी ऊपर की स्थिति है। अतः इच्छा-स्वातंत्र्य ही के कारण मानव में पाप होता है। ईश्वर नहीं चाहता है कि मानव पापी हो, पर उसे

इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ इच्छा के दुरुपयोग की संभावना को भी अनुमति देनी पड़ती है (God does not will, but has to permit evil and sin).

मानव स्वयं अपने पाप करने का उत्तरादायी है, पर उसका हृदय और शैतानी जाल पाप करने के लिये उसे बार-बार आकृष्ट करता है। मसीह ने अपने पहाड़ी उपदेश (मत्ती ५-७ अध्याय) में बताया है कि क्रोध, काम-लालसा और क्रूरता मानव को पाप की ओर ले जाते हैं। यह विचार भारतीय परंपरा के क्रोध, लोभ, मोह और काम के विचार के अनुरूप ही कहा जा सकता है। ईसाई परंपरा के अनुसार अहंभाव और लालच, ये दो मुख्य पापवृत्तियाँ हैं। घमंड वह अहंभाव है जिसके कारण मानव अपने को ही ईश्वर के स्थान पर समझने लगता है और ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। आधुनिक निरीश्वरवादी मानवतावाद इसका उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है।

'लालच' के अन्दर सभी प्रकार के लोभ गिने जा सकते हैं। पर इससे विशेष अभिप्राय होता है स्वार्थ और आत्मकेन्द्रित जीवन, न कि परोपकारी और लोक हित-विचार। ईसाइयों के लिये पाप सर्वव्यापक है और मानव अपनी ही चेष्टा से अपने पापों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता है। मसीह ने प्रचार करने के प्रारंभ में ही कहा था कि सभी मानवों ने पाप किया है। उन्हें चाहिये कि अपने पापों से अपना मन फिरायें, पश्चात्ताप करें और अन्य लोगों को भी उनकी त्रुटियों के लिये उन्हें क्षमा करें। पाप ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने से उत्पन्न होता है। ये आज्ञायें धर्म-पुस्तकों में (मूसाई तौरेत एवं शास्त्रों में) लिखी गयी हैं और अन्त में सभी मानवों के विवेक और हृदयों पर लिखी गयी हैं। अतः सभी मानवों को मालूम है कि ईश्वर की क्या आज्ञायें हैं। स्वयं मसीह ने बताया है कि पाप दो प्रकार के हैं, अर्थात् वे पाप जो क्षमा किये जा सकते हैं (लघु पाप, वीनियल, venial) और वे पाप जिन्हें घातक (mortal) कहा जा सकता है (मार्क ३.२८-२९)। ईसाई धर्म में व्यभिचार, हत्या और मूर्तिपूजा को जघन्य पाप कहा गया है। इन दो प्रकार के पापों के अतिरिक्त मूल पाप (आदि पाप, Original sin) की भी धारणा ईसाई धर्म के इतिहास में पायी जाती है। यह विशेषकर यहूदी परंपरा के अंतर्गत की धारणा है, न कि ईसाई। जो हो, स्वयं यहूदी नबियों ने अन्त में स्वीकारा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही पाप के लिये उत्तरादायी है, न कि जाति के अथवा बाप-दादों के पापों के लिये दोषी ठहराया जायगा। फिर बिना अपनी इच्छात्मक प्रक्रिया के लिये ही किसी व्यक्ति को उसके व्यापार के लिये उसे उत्तरदायी समझा जाता है। अतः आदि पाप की धारणा अब स्वीकृत नहीं समझी जायगी।

ईसाई धर्म की मुख्य धारणा है कि बिना ईसा के पापमोचक क्रूशीय मृत्यु में विश्वास किये हुए मानव का उद्धार नहीं हो सकता। इसलिये ईसाई पाप-विचार ईसाई प्रायश्चित रूप (atonement) में ईसा की क्रूशीय मृत्यु से संबद्ध है।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि प्रारंभ में ईसाई विचार यूनानी और और भारतीय

ज्ञेयवादी विचारों से प्रभावित हुआ था। इसलिये ईसाई पाप-विचार के अनुसार पाप को अज्ञान, भ्रम अथवा बिमारी नहीं समझा जा सकता है। न पाप को मैटर (भौतिक द्रव्य) के द्वारा उत्पन्न माना जायगा। पाप का आधार व्यक्तित्वपूर्ण पवित्र महान् ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने को ही कहा जायगा। पाप का यह संदर्भ ईसाई, यहूदी, पारसी धर्म, वरुण-पूजा तथा इस्लाम में पाया जाता है। परंतु इनके अतिरिक्त भारतीय धर्म परंपरा में अज्ञान, कर्म पर आधृत मानव भ्रम को पाप-प्रत्यय से भिन्न समझना चाहिये।

यहूदी धर्म में पाप-विचार

हमलोगों ने पाप-विचार को 'ईश्वर-प्रत्यय' से संबद्ध माना है। अतः जिस प्रकार का ईश्वर का स्वरूप होगा, वैसा ही ईश्वर के नियम और उनकी आज्ञाओं का स्वरूप भी होगा। मूसाई तौरेत के अनुसार ईश्वर कठोर न्यायाधीश ईश्वर है जो पशुबलियों से ही तुष्ट किया जा सकता है। इसलिये शास्त्रीय अनुष्ठानों के उल्लंघन करने पर यहूदी अपने को पापी समझता था। इन पापों से व्यक्ति को तदनुसार दण्ड भी यथासमय मिलता हुआ दिखाई देता था। यहूदी इस बात को विशेषतः अपनी जाति के इतिहास से स्पष्ट करते थे। इन पापों का प्रक्षालन पशुबलि चढ़ाकर तथा पश्चाताप करके संभव माना जाता था। बाद में लगभग ६०० ई० पू० यहूदियों में नैतिक कर्मों पर बल दिया गया। वे अपने यहोवा को न्यायी के अतिरिक्त दयालु और प्रेमी भी समझने लगे थे। तो भी इनके 'पाप' का संदर्भ शास्त्रीय कर्मकाण्ड ही रहा, हाँ ! कालगति में यह अधिकतर नैतिक और कम मात्रा में कर्मकांडीय रहा। ईश्वर की आज्ञाओं का स्वरूप भी बदल गया। इन आज्ञाओं को वे कठोर न्यायी ईश्वर का विधान न समझकर, इन्हें प्रज्ञावान् और धर्मी ईश्वर का अनुग्रह-दान समझने लगे। ईश्वर ने अपने चुने लोग, यहूदियों को प्रेम के कारण, अनुग्रहरूप में इन मूसाई नियमों और आज्ञाओं को दिया था, यह उनकी अब धारणा बन गयी है।

पापों का प्रक्षालन पश्चाताप, पुण्य-कार्य और जीवन-सुधार के द्वारा संभव समझा जाता है। यहूदी धर्म में भी स्वयं मूसा और यशायह नबी के 'दुःखित पुरुष' (suffering servant) के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि वे भी सोचने लगे थे कि आज्ञाकारी ईश्वर-जन की मृत्यु से मानव-पाप का प्रक्षालन हो सकता है, जिसे ईसाई धर्म का मूलाधार समझा जाता है, अर्थात् Atonement (उद्धारक क़ुरबानी या बलिदान)।

इस्लाम में पाप-विचार

इस्लाम भी व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वरवादी धर्म है। इसमें भी ईश्वर की आज्ञाओं के न पालन करने से पाप समझा जाता है। घमंड (जो अहंभाव) और ईश्वर-विरोध से पाप

उत्पन्न होता है। यह बात विशेषकर इबलीस की घटना में चरितार्थ होती है। ईश्वर ने सभी स्वर्गदूतों से कहा कि वे सब आदम के सामने झुकें। जब एक महान् स्वर्गदूत ने ईश्वर की इस आज्ञा का पालन नहीं किया तो उसे उसी समय स्वर्ग से निर्वासित कर दिया गया जिसे शैतान या इबलीस कहा जाता है।

आज्ञाओं के उल्लंघनकारियों को ईश्वर दंडितकर उन्हें निरीश्वरवादी, अनेकेश्वरवादी तथा विधर्मी कर देता है जिन्हें अन्त में नरक-वास ही प्राप्त होगा। इस्लाम के अनुसार ईश्वर की आज्ञाओं को बड़े ईमान के साथ पालन करना चाहिये, और इन्हें न पालन कर सकने पर पश्चाताप करना चाहिये। लघु पाप की क्षमा पाँचों नमाज़ प्रति दिन पढ़कर किया जा सकता है। गहन पापों के अन्तर्गत चोरी, हत्या, व्यभिचार, नमाज़ न पढ़ना, रमज़ान-व्रत न पालन करना इत्यादि गिने जा सकते हैं। साथ ही साथ ईसाई धर्म की ओर इशारा करते हुए बताया गया है कि ईश्वर को पारिवारिक जीवन में भागी होने को भी जघन्य समझा जायगा।

इस्लाम में atonement अर्थात् उद्धारक बलिदान को नहीं स्वीकारा जाता है। आदि-पाप की धारणा को भी नहीं स्वीकारा जाता है. क्योंकि इस्लाम के अनुसार आदम का पाप लघु कहा जायगा।

पारसी धर्म में पाप-विचार

पारसी धर्म में भी पाप-विचार अन्य ईश्वरवादी धर्मों के समान ही है। ईश्वर की इच्छा के अनुसार काम न करने पर पाप होता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है कि वह ईश्वर की इच्छा अर्थात् अहूर मज़्दा की आज्ञाओं का पालन करे या न करे। अवेस्ता के अनुसार मानव का संपूर्ण जीवन एक आध्यात्मिक संघर्ष है जिसमें मानव चाहे अच्छाई या बुराई को अपनाये। पारसी धर्म में पाप मुख्यतया नैतिक कहा जाय जिसमें निम्नलिखित बातें पायी जाती हैं—

१. नैतिकता मानव के इच्छा-स्वातंत्र्य में ही पायी जाती है।
२. जो अहूर मज़्दा की इच्छा के विरुद्ध है, उसी को पाप कहा जा सकता है।
३. मानव की सृष्टि अच्छी ही कही जायगी, पर अहरिमन उसे विकृत कर देता है।
४. चूँकि मानव ध्यान में नहीं रखता है कि भविष्य में बुराई का क्या फल मिलेगा, इसी से वह पाप में फँस जाता है।
५. पाप का अंतिम परिणाम नरक-वास होता है।
६. पाप का प्रक्षालन पाप स्वीकार करने, पश्चाताप तथा जीवन-सुधार के द्वारा संभव होता है।

हिंदू धर्म में पाप-विचार

वरुण की उपासना में ईरानी अहूर मज़्दा के नैतिक गुण की झलक आ जाती है।

वरुण ऋत-नियम के संचालक कहे गये हैं और ऋत को नैतिक तथा सर्वव्यापक कहा गया है। ऋत के उल्लंघन करने से पाप चढ़ता है और वरुण भगवान् को पाप के विरुद्ध क्रोध उत्पन्न होता है। फिर पाप का दंड मृत्यु कहा गया है (ऋग्वेद १:२५.२)। इसी प्रकार ऋग्वेद ७:४६ और ८९ में वरुण से उसकी दया की भीख माँगी जाती है कि वह अपने पुजारी के पापों को क्षमा करे। पर बाद में कालगति में आर्यों ने अनार्य धर्मों के कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति के चतुष्पदी स्तंभ को स्वीकार कर लिया। इस स्थिति में 'ईश्वर की आज्ञा' और उसके अनुपालन का अभिप्राय ही बदल गया। 'पाप' के स्थान में अज्ञान एवं अविद्यामूलक कर्म का स्थान चला आया। अज्ञान का परिणाम दुःखपूर्ण जीवन-चक्र का उल्लेख आ जाता है।

जिस प्रकार ईसाई धर्म और इस्लाम में नारकीय-वास से भयभीत होकर ईश्वरवादी अपने पापों की क्षमा और उससे छुटकारा पाना चाहता है, उसी प्रकार भारतीय परंपरा में साधक सांसारिक जीवन को दुःखपूर्ण समझकर इससे छुटकारा पाना चाहता है। जैन-बौद्ध तथा अद्वैत वेदान्त में अज्ञान केवल 'ज्ञान' के ही आधार पर दूर किया जा सकता है। इसलिये साधक संन्यास लेकर ज्ञान-प्राप्ति की खोज में बड़ी तल्लीनता और उद्विग्नता के साथ लगा देखा जाता है। इसकी कथा यूनानी लेखों में पायी जाती है*। पाप और अज्ञान एक-दूसरे से भिन्न अवश्य हैं, पर जीवन में इन दोनों का स्थान एक ही प्रकार का पाया जाता है। जिस प्रकार मध्ययुग और ईसाई धर्म के प्रारंभ में नरक-भय को बहुत बड़ा समझा जाता था और ईसाई पापरूपी अपराध और नारकीय आवास से बचने के लिये ईसा पर अपना विश्वास रखते थे, उसी प्रकार सांसारिक जीवन-चक्र को सर्वथा दुःखपूर्ण समझकर साधक सन्यास लेकर अज्ञान को दूर करने के लिये ज्ञानप्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहते थे। जिस प्रकार नरक-भय और पाप-भाव शिथिल होकर ईसाइयों में विश्वास की कमी हो गयी है, उसी प्रकार संसार-चक्र को दुःखपूर्ण न समझने पर हिंदू धर्म का प्रभाव भी क्षीण पड़ जायगा। इस संदर्भ में हमें याद रखना चाहिये कि भारतीय परंपरा में निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी, दो मुख्य धारायें हैं और अज्ञान से उत्पन्न संसार-चक्र से बचने का उपाय भी भिन्न-भिन्न हो जाता है।

जैन-बौद्ध धर्मों में तपस्, व्रत, संन्यास के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति को ही एकमात्र साधन समझा जाता है, जिससे संसार-चक्र से पार जाया जा सकता है। मूलतः इसे ज्ञानमार्ग कहा गया है। पर ईश्वरवादी धर्मों में (उदा०, शैव्य, वैष्णव) ईश्वर की कृपा और उसका प्रसाद संसार-चक्र से छुटकारा पाने का उपाय समझा जाता है।

शंकराचार्य के धर्मदर्शन में ईश्वर-कृपा को चित्त और विवेक-शुद्धि का साधन मात्र समझा जाता है। पर अंत में ज्ञान-प्राप्ति ही को मुक्ति का साधन समझा जाता है।

---

* J. W. McCrindle, **Ancient India,** Amsterdam, 1971 reprint, chapters IX and X.

ज्ञान और पाप भिन्न-भिन्न अवश्य हैं, पर यूनानी परंपरा में, जो भारतीय परंपरा से प्रभावित था*, कहा गया है कि अज्ञानवश ही मानव पाप करता है। यहाँ सुकरात की उक्ति है Virtue is knowledge, None does wrong knowingly. यहाँ ज्ञान से 'साधारण ज्ञान' नहीं, वरन् अंतिम सत् के साक्षात्कार से अभिप्राय होता है। मसीह की भी उक्ति है :

यदि तुम सत्य को जानो तो सत्यता तुम्हें पापों से छुटकारा देगी।

(योहन ८ : ३२)

अत: 'अज्ञान' और 'पाप' के प्रत्यय एक-दूसरे से उतने दूर नहीं हैं कि नबीमूलक और भारतीय परम्परा के बीच सामंजस्य नहीं हो सकता है। यही बात ईसा के उद्धारक बलिदान (atonement) में देखी जाती है जिसका अब अति संक्षेप में उल्लेख किया जायगा।

प्रायश्चित् (Expiation) और पापमोचन (Atonement)

ईश्वरवादी धर्मों में 'पाप' की बात की जाती है और भारतीय परम्परा में 'पतन' की बात की जाती है। पतन के फलस्वरूप मानव संसारचक्र में दुःख झेलता रहता है और अज्ञान के कारण पाप-कर्म भी करता है। परन्तु दोनों प्रकार के धर्मों में पाप का प्रायश्चित करना पड़ता है ताकि दुःख न झेलना पड़े। पाप के कारण, ईश्वरवादी परंपरा में, ईश्वर का कोप भड़कता है और अन्त में पापी को नारकीय यातना भोगनी पड़ती है। पर कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति की परम्परा में मानव को अपने पाप-कर्मों के कारण सांसारिक चक्र के आवागमन में रहकर दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।

सामान्य रूप से दोनों ही विचारधाराओं में पाप का प्रायश्चित् तप-जप, उपवास, व्रत तथा बलिदान के द्वारा किया जाता है। अतः, प्रायश्चित्,

(क) या तो दंड भोगने के द्वारा होता है,

(ख) या पाप के बदले बलि अर्पित करके किया जाता है,

(ग) या शास्त्रीय अनुष्ठान के अनुसार कर्मकांडों के द्वारा किया जाता है,

(घ) पापों के लिये पछतावा करने तथा जीवन में सुधार लाकर किया जाता है।

मूसाई तौरेत और मनुस्मृति, दोनों में पश्चात्ताप करने की विस्तारपूर्वक विधि

---

* देखें, **The battle of the Bible,** Times of India, March 25, '84, जिसमें Elaine Pagels द्वारा लिखित **'The Gnostic Gospels'** की आलोचना दी गयी है। इसमें बताया गया है कि भारतीय ज्ञेयवाद का प्रभाव बाइबिली परम्परा पर पड़ा है। **यूहन्ना रचित सुसमाचार** पर भारतीय वेदान्त की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

बतायी गयी है। परन्तु ईसाई और भारतीय परम्परा में पश्चात्ताप के लक्ष्य और कारण भिन्न बताये गये हैं। इसलिये इनका उल्लेख भी अलग-अलग किया जायगा।

ईसाई धर्म में पापमोचक बलिदान

ईसाई धर्म में पापमोचन कथा को atonement की संज्ञा दी जाती है। Atonement का शाब्दिक अर्थ है at-one-ment, अर्थात् ईश्वर के साथ एक हो जाना, उससे पापों की क्षमा प्राप्त करना इत्यादि। ईसाई पापमोचन की पूर्वमान्यता है :

१. आदि में मानव और ईश्वर के बीच सही सायुज्य-सम्बन्ध (Communion)।

२. मानव ईश्वर की आज्ञाओं को तोड़ने के फलस्वरूप ईश्वर की सहभागिता से दूर हो जाता है।

सामान्य रूप से मानव-पाप और ईश्वर से दूरी ईश्वर की पवित्रता और उसके प्रेम-व्यवहार के विरुद्ध व्यापार के द्वारा उत्पन्न होती है। अतः, पापमोचन का लक्ष्य है कि पापी अपना मन फिराये, अपने पापों से पछतावा करे और ईश्वर की इच्छा के अनुसार अपना जीवन-यापन करे। पर ईसाई धर्म के अनुसार पाप इतना व्यापक और गहरा होता है कि मानव केवल अपने ही प्रयास से अपने पापों पर विजय प्राप्त कर ईश्वर के साथ पुनर्मिलन (reconciliation) अपना संगति को नहीं प्राप्त कर सकता है। पर ईश्वर का उद्देश्य है कि मानव अपने पापों से मुक्त होकर ईश्वर के प्रेम को पहचानकर ईश्वर की सहभागिता (fellowship) के योग्य और अधिकारी बने। इसके लिए बहुत बड़े बलिदान की आवश्यकता थी।

प्राचीन काल से ही यहूदी लोग अपने पापों के लिये पशुओं का बलिदान करते थे जो उनके पापों को वहन कर उन्हें शुद्ध करता था। पर उन्हें लगभग ६००-५०० ई० पू० आभासित होने लगा कि ईश्वर इस प्रकार के बलिदान से प्रसन्न नहीं होता है। इसका कारण है कि पशु-बलिदान और पापी के बीच बाह्य संबंध रहता है। इसलिये यहूदी नबियों ने पापमोचन के लिये आन्तरिक सुधार पर बल दिया। उनके अनुसार ईश्वर पशुओं की बलि से प्रसन्न नहीं होता है, पर वह चाहता है कि पापी अपने हृदय से पापों से पश्चाताप करे और अपने जीवन में दया और धर्म को स्थान दे। पर ईसाई धर्म में बलि के द्वारा पापमोचन की प्रथा को एक नया रूप दे दिया गया है। इसके दो उदाहरण यहूदियों की ही पुस्तक में दिये गये हैं। सर्वप्रथम, जब इस्रायली ईश्वर आज्ञाओं का उल्लंघन कर मूर्तिपूजा करने लगे तो ईश्वर उन्हें सर्वदा के लिये सत्यानाश करना चाहता था। पर मूसा ने ईश्वर से विनती की कि इन इस्रायलियों का तू विनाश न कर, बल्कि इसके बदले मेरा ही नाम ईश्वर के लोगों में से काट दे (निर्गमन ३२.३२), अर्थात् मूसा अपने लोगों के बदले उनके पापों का भार वहन करना चाहता था। फिर यशायह की पुस्तक के ५३ वें अध्याय में 'दुःखी पुरुष' का चित्र खींचा गया है जिसके अनुसार मानव

का दुःख-वहन करनेवाला यह दुःखी पुरुष समस्त जाति के पापों का मोचन करेगा। दूसरे के बदले अर्थात् प्रतिनिधिक (vicarious) मृत्यु के कारण मानव की समस्त जाति के पापों का प्रक्षालन होगा यह मूसा और दुःखी पुरुष के दो उदाहरणों से मसीही पापमोचन का सिद्धान्त स्थापित किया गया है। ईसाई धर्म का प्रतिनिधिक बलिदान निम्नलिखित तत्त्वों पर आधारित है—

१. मानव-पाप इतना गहरा और व्यापक है कि मानव अपने ही प्रयास से अपना पापमोचन नहीं कर सकता है।

२. कोई भी मानव निष्पाप नहीं है जो अपने बलिदान के फलस्वरूप सभी मानवजाति का पाप-प्रक्षालन कर सकता है।

३. परंतु ईश्वर अति करुणामय और दयालु है और मानव का उद्धार करने के लिये प्रयत्नशील रहता है।

४. अंत में ईश्वर ने अपने पुत्र ईसा को संसार में भेजा कि वह निष्पाप रहकर अपना बलिदान दे ताकि समस्त मानव-जाति के लिये उद्धार का मार्ग खुल जाय।

५. यह बलिदान पशु-बलि से श्रेष्ठ है क्योंकि नैतिक स्तर पर पशु निष्पाप नहीं हो सकता है।

६. फिर पशु-बलि प्रत्येक वर्ष चढ़ाई जाती थी। पर ईसा की क्रूशीय मृत्यु वह बलिदान है जो सभी लोगों के लिये सभी काल के लिये पापमोचक है।

७. ईसा का पापमोचक बलिदान इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि बिना बलिदान के पापमोचन नहीं हो सकता है।

प्रश्न होता है कि ईसा की पापमोचक मृत्यु ने मानवजाति के पापरूपी ऋण को किसको चुकाया ?

I. पहला सिद्धान्त है कि मानव अपने पापों के कारण शैतान का दास हो गया था। इसलिये ईसा के बलिदान ने शैतान का ऋण चुकाकर मानव को शैतानी पापबंधन से मुक्त कर दिया है।

अब ईसाई इस व्याख्या को सही नहीं मानते हैं क्योंकि इस व्याख्या के अनुसार शैतान को ईश्वर के समकक्ष सत्ता स्वीकार कर लिया जाता है।

II. इस आपत्ति से बचने के लिये एक दूसरा मत यह हुआ कि ईसा ने ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हुए अपने आप को बलि के रूप में ईश्वर को अर्पित किया ताकि ईश्वर इस बलि से प्रसन्न होकर समस्त मानव जाति के पाप को क्षमा करे।

परंतु प्रश्न होता है कि मानव-जाति के बदले में पापवहन कर कैसे पापों का प्रक्षालन हो सकता है ? पाप मानव-जाति का था। उसे ईसा उनके बदले कैसे पाप वहन कर सकता है ? जिसने पाप किया है उसे ही पाप का भार उठाना पड़ता है। इस आपत्ति से बचने के लिये एक तीसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

III. इसमें संदेह नहीं कि ईसा अपने को समस्त मानवजाति के लिये प्रतिनिधिक बलिदान का मेम्ना समझते थे (मार्क १०.४५;१४.२४)। यही कारण है कि अंतलों, वे ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते रहे और अपने को निष्पाप और निर्दोष रखा (योहन ८.४६)। पर ईसा अपनी मृत्यु के द्वारा किस बात का बोध कराना चाहता था ?

(क) ईश्वर अति प्रेमी, सर्वोच्च, पिता-तुल्य है, जो चाहता है कि पापियों के पाप को क्षमा किया जाय।

(ख) ईश्वर के इस क्षमाशील प्रेम को क्रूशीय मौत से व्यक्त किया जा सकता है।

(ग) यदि हम ईश्वर की क्षमाशील प्रेम-नीति की शरण लें तो ईश्वर पापियों को, उनके पापों को क्षमा करेगा और अपनी शरण में रखेगा।

(घ) यदि मानव इस क्षमाशील प्रेमी ईश्वर की शरण न लें तो वे अपने पापों में मरेंगे। वे बार-बार उसी प्रकार निर्दोष, ईश्वर-भक्त की हत्या करेंगे जिस प्रकार यहूदियों ने ईसा की मौत के लिये उसके विरुद्ध मोर्चा लिया। फिर पाप मानव को इतना अंधा कर देता है कि वे बुरे-भले का भेद भी करने में असमर्थ हो जाते हैं। यहूदी लोगों को ईसा और डाकू बरब्बा के बीच चुनने का विकल्प मिला। पर उन्होंने ईसा को मौत की घात और बरब्बा को जेल से छूट जाने का विकल्प चुना।

इसलिये तीसरे मत के अनुसार जितना ही अधिक मानव ईसा की मृत्यु पर विचार करेंगे उतना ही अधिक वे अपने पापों से घृणा करेंगे और ईश्वर के क्षमाशील प्रेम को विश्वास के साथ ग्रहण करेंगे। इस प्रकार पाप से घृणा और ईश्वर के प्रेम के द्वारा पापों के क्षमा का मार्ग समस्त मानव जाति के लिए खुल जाता है। इसी रूप में ईसा का मृत्यु-बलिदान समस्त मानव जाति का उद्धार मार्ग समझा जा सकता है।

ईसाई धर्म को छोड़कर पापमोचक बलिदान का विचार किसी भी अन्य धर्म में नहीं देखा जाता है। वैदिक काल में प्रतिनिधिक बलि का उदाहरण अवश्य मिलता है। पर अंत में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति का विचार ही भारतीय धर्मों में विशेष और प्रमुख स्थान रखता आया है। इस परम्परा में स्वयं व्यक्ति ही अपने अज्ञान का कारण है और उसे ही अपने अज्ञानवश दुष्कर्मों के लिये दान, व्रत इत्यादि के आधार पर इन कर्मों के लिये प्रायश्चित् करना पड़ता है। चूँकि हिन्दू धर्म में ब्राह्मणों की प्रधानता आ गयी, इसलिये पाप के प्रायश्चित् के लिये ब्राह्मणों को दान और तीर्थस्थानों की यात्रा का भी विधान किया गया है।

भारतीय परम्परा में भी स्वीकारा जाता है कि मानव अपनी आदि शुद्ध अवस्था से गिरकर इस संसार में चला आता है। प्रायः यह पतन मानव अपने अज्ञान के कारण मोल लेता है। साथ ही साथ कर्मवाद पर भी बल दिया गया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि मानव अपने ही कर्मों का फल सांसारिक जीवन में प्राप्त करता है।

अतः, शुद्ध ज्ञान प्राप्तकर तथा कर्मों को संवर एवं निर्जरा के आधार पर विलीन किया जा सकता है। जैन धर्म में कर्मों को क्षीण करने का प्रयास किया जाता है। इसलिये कर्मों के प्रक्षालन के लिये विस्तारपूर्वक प्रायश्चित् का विधान जैन धर्म में मिलता है। अन्य हिन्दू शास्त्रों में भी पापों के प्रायश्चित का विधान पाया जाता है।

ईश्वरवादी रामानुज तथा भक्ति-परम्परा में ईश्वर-सायुज्य को ही मानव की अन्तिम गति मानी गयी है। रामानुज के धर्मदर्शन में भक्ति को ही मुक्ति का साधन समझा जाता है और इस भक्ति में कर्मकांड और अज्ञान, दोनों का अवियोज्य सम्मिश्रण है। जहाँ तक ईश्वरीय प्रसाद का प्रश्न है वहाँ तक ईसाई और हिन्दू धर्मों में एक समान विचार पाये जाते हैं। पर ईसाई धर्म में ईसा के पापमोचक बलिदान पर अटूट विश्वास के आधार पर ईश्वर के साथ पुनर्मिलन की व्यवस्था बतायी गयी है। यह विश्वास अन्त में ईश्वर के ही प्रसाद का दान है।

उपासना और प्रार्थना

उपासना और प्रार्थना, दोनों में द्वैत का होना अनिवार्य है। उपासना बिना उपास्य देवता के संभव नहीं है। इसी प्रकार प्रार्थना उससे की जाती है जो भक्तों के आर्त्तक्रन्दन तथा स्तुतिगान को सुनकर उसका प्रत्युत्तर कर सकता है। प्रार्थना और उपासना में मुख्य अंतर है कि प्रार्थना का संदर्भ उस भाव से है जिसे शब्दों में अभिव्यक्त किया जाता है। इसके विपरीत उपासना वह भाव है जिसमें औटो के अनुसार भय-विश्वास, आशंका एवं आशा का संचार होता है। उपासना का विषय आश्चर्य, अद्भुत, ऐश्वर्यपूर्ण महान् शक्ति होती है, जिसके प्रति मानव नतमस्तक हो जाता है, अपने को सृष्ट जीव और अति निर्भर सत्ता समझकर अपने अस्तित्व में कायम रखने के लिये शरणागति को प्राप्त करना चाहता है। उस सत्ता का स्वरूप क्या हो सकता है जिसके प्रति भक्त अपना सर्वस्व लुटा देता है, अपनी संपूर्ण आत्मा को न्योछावर कर देता है और जिसे छोड़ किसी अन्य सत्ता की शरणागति नहीं स्वीकार करता है?

यह परम सत्ता अपरिमित ही कही जायगी, इसे व्यक्तित्वपूर्ण भी कहा जायगा। यदि उपास्य सत्ता सीमित हो तो उसे उच्चतम नहीं कहा जायगा और केवल वरिष्ठ, उच्चतम और महानतम् सत्ता के ही प्रति भक्त अपना पूर्ण और सर्वस्व आत्मसमर्पण कर सकता है। उपासना में भक्त के अपने अस्तित्व का प्रश्न रहता है क्योंकि ईश्वर के हाथों में उसका जीवन निर्भर करता है। उपासना में भक्त को अपनी नैतिक कमी भी मालूम देती है और अपनी आत्मग्लानि के भाव से मुक्त होने के लिये हृदय की चित्कार को भक्त अपने ईश्वर पर व्यक्त करता है। उपासना में भक्त को यह भी भय होता है कि संभवतः उसने ईश्वर को शब्दों एवं प्रतीकों के द्वारा उच्चतम नहीं समझा और उसे सीमित मानकर उसमें भक्ति के स्थान पर उसकी मूर्तिपूजा ही हो गयी है। उपासना में भक्त उपास्य ईश्वर

को हृदय की शांति और जीवन की सारी आशीषों के लिये गद्‌गद् होकर धन्यवाद भी देता है ।

उपासना की चरम स्थिति भक्ति में पायी जाती है और भक्ति की पराकाष्ठा प्रपत्ति में पायी जाती है । भक्ति और प्रपत्ति का उल्लेख रामानुज के धर्मदर्शन के संदर्भ में कर दिया गया है । भागवत पुराण में भक्ति की नौ अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है, अर्थात्—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ।।

ईश्वर की गाथा अथवा स्तुति-गान को सुनना (श्रवणं), उसकी स्तुति करना (कीर्तनं), बार-बार स्मरण करते रहना (स्मरणं) ईश्वर की मूर्ति के पाँव पर जल डालकर धोना (पादसेवनम्), पूजा करना (अर्चनं), धूल-धुसरित होकर दण्डवत् करना (वन्दनम्), ईश्वर के आदेशों का पालन करना (दास्यं), प्रेमभाव से ओतप्रोत होना (सख्यं) । वास्तव में अन्तिम चरण ही चरम लक्ष्य है, अर्थात् अपने को ईश्वर के हाथों में समर्पित कर देना (आत्मनिवेदनं) ।

भक्ति में व्यक्ति को अच्छी जाति का होना चाहिये, सतत् प्रभु को प्राप्त करने का प्रयास करते रहना चाहिये और इस स्थिति में पहुँचने का प्रयास कर लेना चाहिये जिसमें भगवान् भक्त को अपनी शरण में ले ले । भक्ति की अवस्था को मर्कटकिशोर-न्याय कहा गया है, क्योंकि भक्त को भगवान् को अपने ही प्रयास से पकड़े रहना पड़ता है । इसकी अपेक्षा भक्ति की पराकाष्ठा जिसको प्रपत्ति कहते हैं उसमें (प्रपत्ति में) स्वयं भगवान् ही भक्त को पकड़े रहते हैं । इस प्रपति की अवस्था को मार्जारकिशोर-न्याय कहते हैं, अर्थात् जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को मुँह से पकड़कर उसे चारों ओर ले जाती है और बच्चे को कुछ नहीं करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् भक्तों को सँभालते रहते हैं । प्रपत्ति की छः अवस्थायें बतायी गयी हैं जिसमें पूर्व की पाँच कड़ियों को अन्तिम लक्ष्य में पहुँचने के लिये सहायक अंग या पग समझा जा सकता है ये छः अवस्थायें निम्नलिखित बतायी जाती हैं—

१. सभी व्यक्तियों के लिये अनुकूल संकल्प ।
२. लोगों के प्रति अहित विचार का अभाव ।
३. ईश्वर में इस विश्वास का रहना कि भगवान् उसकी रक्षा करेंगे ।
४. भगवान् को अपना उद्धारकर्त्ता मानकर उसकी शरण में जाना ।
५. अपने उद्धार के लिये अपने को निःशक्त समझकर निःसहाय समझना (कार्पण्यम्) ।
६. अपने आपको पूर्णतया भगवान् को अर्पित कर देना अर्थात् आत्मनिक्षेपः ।

इसी को षड्‌विधा शरणागति की संज्ञा दी गयी है ।

अतः उपासना में भक्त अपनी समस्याओं को ईश्वर को समर्पित कर देता है कि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर उनका समाधान करे। गीता ७ : १६ के अनुसार चार प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भक्त भगवान् की उपासना करते हैं, अर्थात् सांसारिक लाभ-हेतु (अर्थार्थी), संकट-निवारण के लिये (आर्तार्थी), जिज्ञासु ताकि ईश्वर का ज्ञान मिले और ईश्वर को प्राप्त कर उसके साथ सायुज्य की इच्छा हेतु (ज्ञानी) उपासना करते हैं। इस संदर्भ में उपासना के निम्नलिखित अंगों को ध्यान में रखा जा सकता है।

१. भगवान् को अपरिमित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, व्यक्तित्वपूर्ण, आश्चर्य, महान् एवं रहस्यमय समझकर उसके प्रति उपासना की जाती है।

२. भगवान को अद्भुत और बुद्धि द्वारा आगम समझकर तथा उसके विश्वरूप के चित्र से अपने को कुछ भी नहीं समझना, अर्थात् उपासक में सृष्ट तथा निर्भरता के भाव का होना।

३. निर्भरता-भाव से प्रेरित होने पर अनायास भगवान् की स्तुति करते रहना।

४. अपने को भगवान् को अर्पित कर उस पर अपनी समस्याओं को सौंप देना।

५. भगवान् से इच्छित एवं अभिलषित कामनाओं की पूर्ति के फलस्वरूप उसे धन्यवाद देना और फिर आत्मनिवेदन कर देना।

भक्त अपनी समस्याओं को ईश्वर पर अर्पित कर देने में तथा उसके प्रति कृतज्ञता-भाव से ओतप्रोत हो जाने में शब्दों का प्रयोग करता है जिसे 'प्रार्थना' संज्ञा दी जाती है। फिर भगवान् की महिमा-गान में मन्त्रोच्चारण भी पाया जाता है। इसलिये प्रार्थना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इसे लिटनी (स्तुति-माला) तथा जादू-मंत्र से भिन्न समझना चाहिये।

प्रार्थना करने में अपने हृदय के उद्गार को भक्त भगवान् के प्रति अभिव्यक्त करता है और भक्तों की गवाही है कि भगवान् अपने भक्तों की सुधि लेते हैं। गीता ७ : २१ में स्पष्ट है :

> यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
> तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहं ॥

(जो-जो भक्त अचल श्रद्धा के साथ जिस-जिस देवता को पूजते हैं मैं (भगवान्) उस देवता के स्वरूप के अनुसार उस भक्ति के अनुरूप उस भक्त को फल देता हूँ)।

चूँकि प्रार्थना वास्तव में भाषाबद्ध उपासना ही है, इसलिये सच्ची प्रार्थना को लितनी (स्तुतिमाला) तथा जादू के मंत्र से भिन्न समझना चाहिये। ईसाई, इस्लाम और हिंदू धर्मों में अनेक प्रार्थनायें लिखित रूप में हैं जिन्हें अपने-अपने अवसर पर दुहराया जाता है, उदा०, गायित्री मंत्र, प्रभु की प्रार्थना (ईसाई धर्म में), नमाज़ (इस्लाम में)। चूँकि ये प्रार्थनायें अभ्यस्त हो जाने पर अपने-अपने धर्म के लोगों में प्रायः अनायास और अचेतन रीति से पढ़ी जाने लगती हैं। परंतु प्रार्थना को संपूर्ण चित्त के साथ पढ़ना चाहिये।

पर प्रार्थना महान् परमेश्वर को ही संबोधित की जाती है, उसी अतीत महान की ही स्तुति की जाती है, उसी से सारी याचना की जाती है। इसलिये प्रार्थना को जादू में व्यवहृत मन्त्रों से भिन्न समझना चाहिये।

१. यह ठीक है कि जादू-मंत्र को किसी न किसी अतीत देवी-देवताओं को संबोधित किया जाता है, पर

(क) जादू-मन्त्रों के उद्देश्य में अन्य लोगों को हानि पहुँचाने की भी बात रहती है। पर प्रार्थना में लोक-हित तथा भक्त के कल्याण की ही बात रहती है। गीता में चार प्रकार के भक्त बताये गये हैं। पर अनिष्टकारी दुष्टों को स्थान नहीं दिया गया है।

(ख) जादू-मन्त्रों में शब्द अवश्य प्रयुक्त होते हैं, पर प्रायः शब्द अर्थहीन हुआ करते हैं।

(ग) फिर जादू-मन्त्रों में शब्दों के क्रम और उनके उच्चारण पर बहुत बल दिया जाता है। यदि इन शब्दों के क्रम में हेर-फेर कर दिया जाय या सही-सही उच्चारण न किया जाय तो मंत्रदाता को ही अनिष्ट होने की आशंका हो जाती है।

२. कुछ मीमांसकों के अनुसार वास्तव में अतीत देवता हैं ही नहीं। वरुण-इन्द्र केवल मन्त्रों के नाम हैं या अवसर-मात्र हैं। (मंत्र ही विशेष हैं) जिनका सही-सही उच्चारण, सही क्रम में करना चाहिये। अतः

I. 'प्रार्थना' में अतीत महान् की सत्ता को स्वीकारना अनिवार्य अंग है। शब्दों को रहना चाहिये, पर ये शब्द मूक हो सकते हैं, टूटे-फूटे हो सकते हैं या लितनी के रूप में सुसंस्कृत एवं कृत्रिम भी हो सकते हैं।

II. जादू-मन्त्रों में अतीत देवी-देवताओं के अस्तित्व को स्वीकारा जाता है, पर मंत्र-शब्दों का क्रम और उच्चारण ही महत्त्वपूर्ण बताये जाते हैं। फिर प्रायः मन्त्र-शब्द अर्थ-हीन हुआ करते हैं। जादू का उद्देश्य भी बुरा हो सकता है।

III. कुछ मीमांसकों के अनुसार देवी-देवताओं की सत्ता को नहीं स्वीकारा जा सकता है। वैदिक मन्त्रों का क्रम और विशेषकर उच्चारण अधिक महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं।

जिन धर्मों में ईश्वर का स्थान नहीं है वहाँ उपासना-प्रार्थना का भी स्थान नहीं है। सिद्धान्ततः बौद्धधर्म निरीश्वरवादी है और इसलिये इसमें उपासना-प्रार्थना का भी अभाव है परन्तु कालक्रम में बोधिसत्त्वों की उपासना भी जारी हुई है और वहाँ प्रार्थना की भी संभावना देखी जाती है। परंतु शुद्ध बौद्ध धर्म में बुद्ध भगवान् की उपासना नहीं होती, पर मोक्षार्थी स्वयं बोधि को प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि आधुनिक बौद्ध धर्म में सूत्रबद्ध प्रार्थना इसलिये की जाती है कि आराधना के फलस्वरूप उपासकों में बुद्ध भगवान् की भाँति उनमें भी बोधि जागृत हो जाय। प्रायः बौद्धों में पार्थिव सुख-प्राप्ति के लिये प्रार्थना नहीं की जाती है।

जैन धर्म भी निरीश्वरवादी है। इसमें उपासना-प्रार्थना का स्थान नहीं है। तो भी

जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की आराधना करते हैं। क्यों? स्वयं महावीर भगवान् केवली हैं। वे न किसी कि बात सुनते हैं और न किसी का कल्याण ही कर सकते हैं। पर जिस प्रकार काँच का ग्लास लाल गुलाब के समीप रहने पर गुलाबी रंग से अभिरंजित हो जाता है, उसी प्रकार केवली महावीर भगवान् की उपासना करने पर जैनियों का मन शुद्ध हो जाता और उनमें शुद्ध गुणों का प्रादुर्भाव होने लगता है।

रामानुज का धर्मदर्शन शुद्ध एकेश्वरवादी है और गीता में भी एकान्तिक ईश्वरवाद देखने में आता है। इन धर्मों में उपासना एवं प्रार्थना दोनों का स्थान है। शंकर के धर्म-दर्शन में भक्ति का स्थान है, पर ईश्वर की उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि होती, विवेक विमल होते और ब्रह्मगति-प्राप्ति में अनुराग बढ़ता है। अतः ईश्वरोपासना को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक समझा जाता है। पर क्या ब्रह्मज्ञान बिना ईश्वरोपासना के संभव हो सकता है?

शंकर ने स्वीकारा है कि ब्रह्मज्ञान की बोधि के लिये श्रवण-मनन-निदिध्यासन इत्यादि को हो विशेष स्थान दिया जा सकता है। ब्रह्मज्ञान किसी भी साधन अथवा कारण का अर्जित कार्य नहीं है। ब्रह्मगति शाश्वत्, नित्य और सर्वकालीन होती है। ब्रह्मज्ञान केवल इसी स्थिति की पुनर्जागृति मात्र है। अतः, निदिध्यासन इत्यादि भी सहायक प्रक्रियायें हैं जिनके आधार पर मुमुक्षुओं में ब्रह्मस्थिति का चेत आ जाता है। पर निर्वाण तथा जैनी अपवर्ग को कैसे प्राप्त किया जाता है?

वास्तव में इन दोनों धर्मदर्शनों में योग, समाधि तथा ध्यान पर बल दिया गया है। अतः, जहाँ अतीत महान्, निर्गुण ब्रह्म तथा वर्णनातीत-शांत निर्वाण स्वीकारा जाता है, वहाँ उपासना-प्रार्थना का स्वरूप ध्यान-समाधि में परिणत हो जाता है। समाधि-ध्यान में किसी व्यक्तित्वपूर्ण अतीत शक्ति को नहीं स्वीकारा जाता है। यहाँ कहा जाता है कि मानव स्वयं अपने ही प्रयास से अपनी अतीत आध्यात्मिक गति को प्राप्त होता है।

पारसी, यहूदी तथा इस्लाम धर्मों में भी उपासना-प्रार्थना को स्वीकार किया जाता है, क्योंकि इन धर्मों में व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर महान् को स्वीकारा जाता है। इस्लाम में प्रत्येक ईमानदार को पाँच बार नमाज पढ़ने का आदेश है। फिर ईद इत्यादि के अवसर पर सार्वजनिक एवं सामूहिक नमाज़ भी इमाम के द्वारा पढ़ाई जाती है।

आचार और धर्म

आचार का संदर्भ मूल्य, आदर्श एवं मानदण्ड है। पर आदर्श वास्तविकता के आगे-आगे रहता है, अर्थात् वास्तविकता और आदर्श के बीच बराबर संघर्ष बना रहता है। उदा०, 'मानव को सच बोलना चाहिये'। इस आदर्शमूलक कथन से ध्वनित होता है कि मानव सदा सच नहीं बोलते हैं। अतः, सच के आदर्श को पूरा करने में वास्तविकता के साथ संघर्ष करना पड़ता है। फिर नैतिक आदर्श की प्राप्ति कभी भी पूरी नहीं होती

है। किसी भी युग में रहकर कोई भी व्यक्ति अपनी स्थिति और स्थान में निहित किसी निश्चित आदर्श को ही प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहता है। उदा०, वर्तमान युग में समाज में रहकर किसी भी एक व्यक्ति के लिये अनेक जीवन के आदर्श हैं, अर्थात् आदर्श विद्यार्थी होना, आदर्श वकील, डाक्टर, वैज्ञानिक इत्यादि होना। प्रायः इस एक जीवन में शायद ही कोई किसी एक आदर्श को प्राप्त कर लेता है। पर मान भी लिया जाय कि कोई अमुक व्यक्ति ने आदर्श डाक्टर के मानदंड को प्राप्त कर लिया हो तो भी वह अपने युग के अन्य आदर्शों को नहीं प्राप्त कर लेता है, अर्थात् आदर्श डाक्टर, आदर्श वकील, वैज्ञानिक, धर्मप्रचारक इत्यादि नहीं हो सकता है। अतः, ब्रैडले के अनुसार कोई बिरले ही ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपने आश्रम में अपने सभी कर्त्तव्यों को (station and its duties) निभा लेते हैं पर ऐसा कर लेने पर भी उनके नैतिक जीवन में संघर्ष बना ही रह जाता है। वे एक आदर्श को पूरा कर लेने पर भी अन्य आदर्शों को पूरा करने से वंचित रह जाते हैं। अतः किसी एक आदर्श को प्राप्त कर लेने पर भी प्रत्येक व्यक्ति को अन्य आदर्शों को न प्राप्त कर सकने के कारण उसमें अपूर्णता रह ही जाती है। है तो लगभग असंभव बात ही, पर मान लिया जाय, कोई एक व्यक्ति ऐसा हो जो अपने युग के सभी आदर्शों को अपने जीवन में साकार कर लेता है तो भी उसका नैतिक अधूरापन विनष्ट नहीं होता है। भविष्य के अनेक युगों के अनेक आदर्शों की पूर्ति किसी एक युगधर्मी के लिये संभव नहीं हो सकती है। अतः कोई एक अमुक व्यक्ति क्या है और क्या उसे होना चाहिये (is and ought), इन दोनों के बीच की खाई कभी भी पाटी नहीं जा सकती। यही कारण है कि आचार के स्तर पर वास्तविकता और आदर्श के बीच की खाई सर्वदा बनी रहती है। नैतिक अपूर्णता कभी भी पूर्ण नहीं हो पाती है। तब प्रश्न होता है कि किस प्रकार नैतिक पूर्णता की खोज का अंत हो सकता है? विचारकों का कहना है कि नैतिक पूर्णता की खोज धर्म में ही प्राप्त हो जाती है (The search of moral perfection culminates in religion)। कैसे?

कोई भी व्यक्ति सभी देश, काल और युग के सभी आदर्शों को प्राप्त नहीं कर सकता है। पर ईश्वर को सभी मूल्यों का साकारीकरण कहा जाता है। (Conservation of all values)। इसलिये यदि कोई भक्त ईश्वर के साथ सायुज्य स्थापित कर ईश्वर-तुल्य हो जाय तो उसमें भी सभी मूल्य साकार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, रामानुज के अनुसार भक्त अपनी भक्ति के द्वारा ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर लेता है और उस अनुग्रह के आधार पर उसे मुक्ति मिल जाती है, अर्थात् उसे बैकुंठधाम में ईश्वर की सन्निकटता प्राप्त हो जाती है और अंत में वह ईश्वर के इतने समीप आ जाता है कि सृष्टिकर्तृत्त्व, संहार-पालन को छोड़कर अन्य सभी गुणों और आदर्शों को प्राप्त कर लेता है। अतः, केवल ईश्वर-प्राप्ति से ही नैतिक जीवन की अपूर्णता दूर हो सकती है।

फिर मानव प्रायः जानता है कि उसे क्या करना चाहिये, पर व्यक्ति तो भी कर्त्तव्य-

च्युत हो जाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि मानव किस प्रकार सभी लालच, प्रलोभनों से बचकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करे ? राम-नाम एक सहारा। ईश्वर के अनुग्रह से ही कोई भी व्यक्ति अपने नैतिक कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है। अतः, नैतिक आचरण को पूरा कर लेने के लिये ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता हो जाती है। इसलिये Belief in god is the great energiser of moral conduct.

यदि धर्म आचार की अंतिम स्थिति हो, तो आचार भी धर्मों के उत्कर्ष-अपकर्ष का मानदंड कहा जायगा। इसका कारण है कि ईश्वरवाद में ईश्वर में ही सभी नैतिक आदर्शों का साकारीकरण होता है। इसलिये ईश्वरवादी भी ईश्वर-भक्ति के फलस्वरूप अपने जीवन में नैतिक आदर्शों को उतारने का प्रयास करता है। इसलिये धर्म का उत्कर्ष इसी में है कि उसके द्वारा धार्मिकों के जीवन में नैतिकता का विकास हो। अतः आचार और धर्म के बीच पारस्परिक निर्भरता का संबंध है।

भारतीय परंपरा में जैन-बौद्ध तथा अद्वैतवाद में ईश्वर का स्थान विशेष नहीं है। जैन-बौद्ध सैद्धांतिक रीति से निरीश्वरवादी हैं। इन धर्मों में व्यक्ति की पूर्णता-प्राप्ति ही जीवन का निःश्रेयस् माना गया है। परंतु इन धर्मों में भी बिना नैतिक आदर्शों को प्राप्त किये हुए न तो अपवर्ग (केवली स्थिति जैन धर्म में) और न निर्वाण (बौद्ध धर्म में) ही प्राप्त हो सकता है। अतः, मोक्ष-प्राप्ति के लिये पंच महाव्रत (जैन में) तथा शील, समाधि और प्रज्ञा का त्रिरत्न बौद्धों में आवश्यक समझा जाता है। इस संदर्भ में अद्वैतवादियों का मत विशेषतया उल्लेखनीय है।

अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार साधना-चतुष्टय तथा उपाय-त्रय (श्रवण, मनन, निदिध्यासन) के आधार पर ब्रह्मप्राप्ति अथवा ब्रह्मज्ञान मुमुक्षुओं में जागृत हो सकता है। इस साधना में ईश्वर का साक्षात् हाथ नहीं दिखाई पड़ता है। इसलिये इस ज्ञानमार्ग के अनुसार मुमुक्षु ब्रह्मगति को प्राप्त कर लेता है। पर साधना-चतुष्टय में कठिन नैतिक आदर्शों को साकार करना पड़ता है। अतः, ब्रह्मगति भी बिना आचार के संभव नहीं हो सकती है। पर जीवनमुक्ति हो जाने पर साधक उस अभेदमूलक स्थिति को प्राप्त करता है जहाँ चोर चोर नहीं दिखता, चांडाल चांडाल नहीं दिखता इत्यादि (बृहदा. ४. ३. २१-२२)। यह वह स्थिति होती है जिसमें नैतिक भेद का अतिक्रमण एवं विलयन हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी अच्छे-बुरे के भेद से ऊपर उठ जाता है (Beyond good and evil)। यहाँ आपत्ति की जाती है कि ब्रह्मज्ञानी को नैतिक बुराई करने की भी छूट मिल जाती है। परन्तु क्या यह आपत्ति सही है ?

यह ठीक है कि निर्वाण-प्राप्त तथा जीवन्मुक्त को बुरे-भले के भेद से परे और अतीत कहा जाता है, पर इस स्थिति में उसे नैतिक पतन की संभावना हो ही नहीं सकती है।

१. सर्वप्रथम जब क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष तथा सभी वासनाओं एवं तृष्णा का लोप हो जाता है तो कुत्सित वासनायें भी अपने-आप विनष्ट हो जाती हैं। इस स्थिति में

नैतिक बुराई का अवसर ही नहीं रहता है। यदि सभ्य व्यक्ति चोरी नहीं कर सकता, तो जीवन्मुक्त जिसने जीवनभर आत्मविजय का ही प्रयास किया है, किस प्रकार बुरी भावना को अपने जीवन में स्थान दे सकता है ? कुत्ता अपनी उल्टी खा सकता है, पर साधक नहीं। जिसने अपनी पूर्णता प्राप्त कर ली है वह उस फूल के समान है जिससे केवल सुगंध ही निकलती है, अर्थात् जो केवल शुभ काम ही कर सकता है।

२. फिर जीवनमुक्त के लिये संसार की वास्तविकता ही नष्ट हो जाती है। यह संसार जली हुई रस्सी के समान हो जाता है जो जीवन्मुक्त को अपने मोह में नहीं बाँध सकता है। वास्तव में जीवन्मुक्त में कर्मसंन्यास की स्थिति आ जाती है। वह केवल अपनी देह को धारण रखने के लिये ही वासनाविहीन कार्य संपन्न करता है। ऐसे कर्मसंन्यासी में बुराई करने की आसक्ति ही कहाँ रहती है ?

३. बुरे-भले से ऊपर उठने की स्थिति मोक्ष की है। जहाँ व्यावहारिक जगत् की सत्ता नहीं रहती, वहाँ नैतिक आचरण की संभावना ही नहीं रहती है। पारमार्थिक ब्रह्म-गति शुद्ध सच्चिदानन्द की है, जहाँ शांत स्थिति ही रहती है।

न केवल ब्रह्मज्ञानी के विषय में यह बात सत्य है, पर रामानुज के अनुसार पराभक्ति की स्थिति में भी भक्त नहीं, वरन् ईश्वर ही उसमें क्रियाशील होता है। क्या ईश्वर अशुभ एवं अनैतिक कार्य कर सकता है ?

अतः, किसी भी स्थिति में जीवन-मुक्तों से बुराइयों की आशंका नहीं हो सकती है।

दो प्रकार की नैतिकता : नैतिकता भी दो प्रकार की पाई जाती है। पारसी, यहूदी प्रभृति पैगम्बरी धर्मों में नैतिकता का संदर्भ समाज-सेवा, समाज-सुधार तथा समाजमूलक शुभ व्यवहारों का है। इसका उग्ररूप इस युग में मदर तेरेसा की समाज-सेवा में देखा जाता है। इसके विपरीत भारतीय परंपरा में आत्मविकास को ही नैतिकता का चरम लक्ष्य समझा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि भारत में ऐसे अनेक ऋषि-मुनि हुए हैं जिन्होंने आत्मपूर्णता-प्राप्ति की है। इसका उल्लेख यूनानी प्रतिवेदनों में भी पाया जाता है[१]। परंतु समाज-मूलक नैतिकता में पूर्णता प्राप्त कर लेना आसान नहीं है। यह बात ब्रैडल के station and its duties के प्रकरण से स्पष्ट हो जाती है तो भी आधुनिक युग में समाज-मूलक नैतिकता पर ही बल दिया जाता है और समाज में रहकर अपने-अपने स्थान में निःस्वार्थ भाव से कर्त्तव्य-निष्ठा पर बल दिया जाता है। यही कारण है कि भारतीय दार्शनिक अब इसी प्रकार की नैतिकता पर बल दे रहे हैं।

●

१. J. W. McCrindle, **Ancient India**, chap. IX–X.

अध्याय : १२

धर्म की व्यापकता और धर्म-सहिष्णुता

धर्म की व्यापकता

प्रारम्भ काल से ही देखा जाता है कि मानव बिना किसी न किसी धर्म के नहीं रह सकता है। आदिम धर्म से लेकर आधुनिक ईश्वरवाद तथा मानवतावाद तक यही बात देखने में आती है। वेदों के अनुसार एक ही सत् है जिसे लोग विभिन्न रूप देते हैं :

एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति ।

इसी प्रकार गीता ९ : २३, २५ के अनुसार एक ही ईश्वर वास्तव में अन्य देवताओं के रूप में पूजा जाता है। प्रश्न हो सकता है कि मान लिया जाय कि अभी तक धर्म सभी जातियों में सर्वव्यापक देखा गया है। पर इसकी क्या गारन्टी है कि भविष्य में भी धर्म मानव में सर्वव्यापक रहेगा ?

ऐस माना जाता है कि धर्म मानव का स्वभाव-गुण (**religion a priori**) है। जिस प्रकार बिना ऑक्सीजन के मानव जीवित नहीं रह सकता और साँस लेना उसकी स्वाभाविक प्रक्रिया है, उसी प्रकार पूजा-पाठ, प्रार्थना-समाधि इत्यादि मानव की स्वाभाविक प्रक्रियायें हैं। भारतीय धर्म-परम्परा के अनुसार मानव का सांसारिक जीवन उसके अज्ञान के कारण है, पर उसका अपना स्वाभाविक स्वरूप एकदम शुद्ध है। अतः, उसका अपना शुद्ध सात्त्विक स्वरूप उसे उत्प्रेरित करता रहता है कि वह अपने स्वाभाविक शुद्ध सत् को प्राप्त करे। धर्माचरण वह विधि है जिसके आधार पर मानव अपने स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। इसलिए सभी सांसारिक मानव का धर्म स्वभाव-गुण है जिसके द्वारा वे अपने परम सत् को प्राप्त करते हैं।

इसी प्रकार पाश्चात्य देश के सुविख्यात धर्मदार्शनिक पॉल तीलिख हुए हैं। इनके अनुसार, मानव एक प्रकार के ईश्वर की पूजा छोड़कर अन्य प्रकार की पूजा कर सकते हैं, पर बिना पूजा के मानव रह ही नहीं सकता है।

ईश्वरवादी भी प्रायः स्वीकारते हैं कि धर्म मानव का स्वभाव-गुण है। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने अपने विषय में किसी भी जाति को अनभिज्ञ नहीं रखा है (प्रेरितों को पत्री १४:१७)। फिर सन्त पॉल ने लिखा है :

> 'क्या ईश्वर यहूदियों का ही है ? क्या वह अन्य जातियों का नहीं ? हाँ, वह अन्य जातियों का भी है' (रोमियो ३:२९)।

फिर सन्त पॉल ने बताया है कि ईश्वर ने मानव की सृष्टि कर उसमें ऐसी प्रेरणा डाल दी है कि मानव ईश्वर को अपना 'पिता' कहकर सम्बोधित करे (गलातियों की पुस्तक ४.६)। इसी प्रकार सन्त अगस्टिन ने लिखा है :

> 'हे ईश्वर ! तूने हम सबको अपने लिए रचा है, और जब तक हमारा मन तुझे नहीं प्राप्त कर लेता है तब तक वह तेरे लिए बेचैन रहता है।'

अतः, ईश्वर ने मानव के अन्दर ऐसी प्रेरणा डाल दी है कि वह ईश्वर को खोजे और अन्त में उसे प्राप्त करे। यही कारण है कि मानव के अन्दर धर्म की आग जलती रहती है।

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि यह मनोवैज्ञानिक सत्यता है कि मानव में पूर्ण हो जाने की महती उत्प्रेरणा पायी जाती है। जब यह प्रेरणा सचेत हो जाती है तो मानव 'आदर्श पुरुष' की छवि देखने लगता है। आदर्श पुरुष और ईश्वर दोनों एक ही हैं। आदर्श पुरुष बनना और ईश्वर की भावना से ओतप्रोत होकर उसकी पूजा करना, दोनों एक ही बात है। मानव ईश्वर की पूजा इसलिए करता है ताकि वह अपने को अपने आदर्श रूप में डाल दे। ब्रह्माण की खोज इसलिए की जाती है कि ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है। बौद्ध बुद्ध भगवान् की पूजा नहीं करता, पर अपने में ही निहित दीप जलाकर स्वयं बुद्ध हो जाता है। रामानुज के अनुसार भी, अन्त में भक्त ईश्वर-सायुज्य और समीपता प्राप्त कर लगभग ईश्वर का रूप और गुण प्राप्त कर लेता है। फिर ईसा ने भी कहा, 'मैं और ईश्वर एक ही हूँ'।

इसलिए कहा जा सकता है कि मानव के अन्दर पूर्णता-प्राप्ति की प्रेरणा पायी जाती है और यही कारण है कि मानव अपने को पूर्ण बनाने के लिए धर्म की शरण लेता है। मानवतावाद भी इस सत्यता का उल्लंघन नहीं करता है। मानवतावाद के अनुसार आदर्श समाज में ही रहकर मानव अपने को पूर्ण बना सकता है। साम्यवाद का आदर्श है कि साम्यवाद के अन्तिम चरण में मानव सभी भेद-भाव से मुक्त होकर अपनी योग्यता के अनुसार कार्यरत रहेगा और अपनी आवश्यकता-अनुसार वस्तुओं का भोग करेगा। अतः, मानव बिना धर्म के शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता है, क्योंकि धर्म मानव का स्वभाव-गुण है। यही कारण है कि मानव-इतिहास में धर्म सर्वव्यापक पाया जाता है। टायनबी ने विश्व के इतिहास का आद्यन्त अध्ययन किया था और इसके फलस्वरूप वे इसी निष्कर्ष पर आये कि धर्म मानव-जीवन का केन्द्र रहा है और रहेगा।

विश्व-धर्म अथवा धर्मों की एकता

धर्मचेतना के अन्तर्गत स्पष्ट हो जाता है कि धर्मचेतना स्वजातिक है और इसका विषय भी अन्य सभी प्रकार की चेतनाओं से भिन्न, इतर एवं विलक्षण है। यदि मानव अपने को शुद्ध धर्मचेतना और इसके अपने विषय (अर्थात्) परम अतीत में ही सीमित रखे

तो विभिन्न धर्मों के रहने की गुंजाइश नहीं हो सकती है। पर परम अतीत की प्राप्ति की बात न कहकर मानव परम सत् के विभिन्न चित्रण अथवा उसके प्रतीक की ही पूजा करते हैं। चूँकि परम अतीत के विभिन्न चित्रण रहते हैं, अतः धर्म भी विभिन्न हो जाते हैं। इसलिये प्रश्न होता है कि सभी धर्मों का अति सामान्य विषय क्या है और फिर उसका चित्रण क्यों होता है और ये चित्रण भी क्यों विभिन्न रहते हैं।

सभी धर्मों का सामान्य विषय परम अतीत है जिसके संदर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि वह है, पर नहीं कहा जा सकता है कि उसका क्या गुण है, उसका क्या स्वभाव है इत्यादि। बाइबिल में स्पष्ट लिखा है कि ईश्वर ने मूसा से कहा,

'मैं जो हूँ सो हूँ',

अर्थात् मेरा अस्तित्व निश्चित है, पर मैं क्या हूँ, यह वर्णनातीत है। बाइबिली इस प्रकथन पर ही टामस अक्वाइनस का साम्यानुमान तथा पॉल तीलिख का प्रतीक-सिद्धान्त आधारित है। इन धर्मविचारकों के अनुसार ईश्वर का शब्दशः किसी प्रकार का वर्णन नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार विख्यात दार्शनिक विट्गिन्स्टाइन का कहना है कि ईश्वर रहस्यमय महान् है और उसके संदर्भ में भाषा मूक हो जाती है।

भारतीय परंपरा के अनुसार भी ब्रह्मण परम सत् हैं और सभी सांसारिक वस्तुयें इसी परम सत् पर आधृत हैं। पर स्वयं ब्रह्मण के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। शंकर ने ब्रह्मण को अनिर्वचनीय, वर्णनातीत, नित्य, शाश्वत् कहा है। ब्रह्मण का साक्षात्कार ब्रह्मविद् को हो सकता है, पर उसे किसी भी भाषा के द्वारा साक्षात् रीति से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार गूँगा गुड़ का आस्वादन करता है, पर उसकी जीभ उस मधुर स्वाद का वर्णन नहीं कर पाती, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मण का ब्रह्मज्ञानी को अनुभव हो सकता है। हाँ, ब्रह्मज्ञानी उसका साक्षात् उल्लेख नहीं कर सकता है। ठीक है कि वेदान्त-दर्शन इसी ब्रह्म के संदर्भ में है। पर अद्वैत वेदान्त ब्रह्म का साक्षात् वर्णन नहीं करता है। इसका मुख्य उद्देश्य यही है कि अद्वैत वेदान्त तथा महावाक्यों के आधार पर ब्रह्मानुभूति सच्चे जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं में जगायी जाय। अतः अंतिम रूप में अद्वैत वेदान्त भी मिथ्या अथवा ब्रह्म के विषय में तुच्छ ज्ञान है।

इसी प्रकार का सिद्धान्त बौद्ध धर्म में भी है। नागसेन ने राजा मिलिन्द को बताया कि निर्वाण के संदर्भ में भाषा मूक हो जाती है (निर्वाणं शांतं)। पर मिलिन्द के द्वारा बहुत आग्रह करने पर भदंत नागसेन ने उपमाओं की मदद लेकर बताया कि निर्वाण आकाश के समान विशाल, समुद्र के समान गहरा, मधु के समान मीठा इत्यादि है। दूसरे शब्दों में, परम अतीत, अर्थात् निर्वाण का शब्दशः अथवा साक्षात् वर्णन नहीं किया जा सकता है। अधिक से अधिक परम अतीत के संदभ में भाषा उपमामय हो सकती है। यही कारण है कि विट्गिन्स्टाइन ने कहा है कि धर्मभाषा में परम रहस्यमय महान् प्रदर्शित होता है, पर किसी भी भाषा में इसकी साक्षात् चर्चा नहीं की जा सकती है।

इसी परम अतीत के आधार पर विश्वधर्म संभव हो सकता है। पर अभी भी इस परम अतीत, जिसे ब्रह्मण, निर्वाण इत्यादि की संज्ञा दी गयी है उसे लोगों को इस प्रकार नहीं बताया गया है कि इसके आधार पर धर्मों की एकता संभव हो सके। यदि शांकर दर्शन पर ध्यान दिया जाय तो ब्रह्म-साधना के आधार पर धर्मों की एकता संभव है। पर हमें यह भी जानना चाहिये कि क्यों धर्मों की अनेकता अथवा विविधता पायी जाती है, जिसके कारण धर्मों की एकता एवं धर्म-समन्वय संभव नहीं हो पाता है।

धर्मों की अनेकता एवं सापेक्षता

शंकर के अनुसार, जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं (जीवो ब्रह्मैव)। इसलिये ब्रह्म-प्राप्ति कोई अर्जित अवस्था नहीं है और न कोई 'कार्य' जिसका कोई कारण हो। यह जीव का नित्य शाश्वत् स्वरूप है जिससे अज्ञानवश जीव अनभिज्ञ रहता है। अतः, ब्रह्म-ज्ञान इसी नित्य अवस्था के प्रति बोधि प्राप्त करने को कहा जा सकता है। उदा०, गले में हार पड़ा होता है और औरत उस हार को सब जगह खोजकर हार जाती है। तब जब वह अपना हाथ अपने गले पर फेरती है, तब उसे बोध होता है—'अरे ! हार तो गले में ही पड़ा है'। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान-खोजियों को एकाएक उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार स्वप्न टूटने पर वास्तविकता की चेतना चली आती है। ब्रह्मज्ञान सभी प्रकार के सांसारिक तथ्यज्ञान से परे और अतीत होता है। इसी प्रकार के ब्रह्मज्ञान की पुनर्प्राप्ति के ही द्वारा सभी धर्मों का समन्वय होता है। इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान को स्पष्ट करने के लिये शंकर ने तीन प्रकार के उग्र उदाहरणों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

ब्रह्मज्ञान में सभी भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं। उदा०, जब बहुत दूर से कोई गाड़ी दिखती है तो पता नहीं चलता कि कोई गाड़ी है या नहीं, कोई चलती वस्तु है या नहीं। केवल ऐसा आभासित होता है कि संभवतः कुछ वस्तु है। इसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी गई है जिसमें इतना ही ज्ञानस्पर्श होता है कि कुछ है, पर यह नहीं कि **क्या कुछ है**। यहाँ किसी भी विशिष्ट वस्तु अथवा विभिन्न वस्तु का ज्ञान नहीं होता। यह चेतना सर्वथा अभेदमूलक होती है। ब्रह्मज्ञान भी अभेदमूलक होता है। इसी बात को पुष्ट करने के लिये शंकर ने बृहदारण्यकोपनिषद् ४.३.२२ की टीका भी की है जिसमें सुषुप्तावस्था का उल्लेख किया गया है।

सुषुप्ति स्वप्नरहित निद्रा की अवस्था बताई गयी है। इस सुषुप्ति अवस्था में पिता पिता के रूप में नहीं दिखता, माता माता के रूप में नहीं दिखती, लोक अलोक हो जाते, देव देवशून्य हो जाते, चोर चोर नहीं रह पाता इत्यादि। अतः सुषुप्ति में सभी भेदों का विलयन हो जाता है, केवल निर्वस्तुक चेतना रह जाती है।

इसी अभेदमूलक ज्ञान को दर्शाने के लिये शंकर ने तुरीय अवस्था का भी उल्लेख किया है। यह तुरीय दशा योगियों को प्राप्त होती है जिस अवस्था में शुद्ध चेतना

ही रहती है, पर इसमें किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है (बृहदा. ५.१४.३, ४, ६, ७; मैत्री ६.१९,७.११.७; माण्डूक्य ७)।

अतः, अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही सभी प्रकार के धर्मभेद विनष्ट हो जाते हैं। पर इस अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान को एकाएक नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसे प्राप्त करने के लिये देवी-देवता-ईश्वर इत्यादि की धार्मिक सीढ़ियों को पार करना पड़ता है। अतः, आराध्य सत्ताओं की सापेक्षता और अनेकता का भी उल्लेख करना चाहिये।

हमलोगों ने पहले ही कहा है कि सभी धर्मों में आधारभूत सत्ता ब्रह्म ही है, पर अज्ञानवश इस अनिर्वचनीय, वर्णनातीत, निर्गुण, निर्विकार सत्ता की पूजा लोग उसे विभिन्न रूप से चित्रित कर किया करते हैं। चूँकि व्यक्ति संस्कार के आधार पर विभिन्न होते हैं, इसलिये अतीत महान् को वे विभिन्न रूप से चित्रित करते हैं। इस संदर्भ में गीता के अनुसार जिस प्रकार का व्यक्ति होता है, उसी प्रकार की उसकी आराध्य सत्ता होती है। तामस व्यक्ति भूत-प्रेत की, राजस व्यक्ति यक्ष-राक्षस की तथा सात्त्विक व्यक्ति ईश्वर की पूजा करते हैं (गीता १७.४)। फिर भक्तजन भी चार प्रकार के होते हैं, अर्थात् अर्थार्थी (सांसारिक सुख चाहने वाले), आर्त्त (दुःखी और सताये हुए लोग), जिज्ञासु (भगवान् के असली स्वरूप के खोजी) और ज्ञान-पिपासु (गीता ७.१६)। फिर जो भक्त जिस भाव से निष्ठा के साथ जिस प्रकार के देवता की पूजा करते हैं, उन्हें उनकी निष्ठा के अनुसार उस देवता के अनुरूप फल भी मिलता है।

इसलिये व्यक्ति संसार, प्राकृतिक गुण तथा मानसिक बनावट के अनुसार अवश्य ही भेदभाव के साथ विभिन्न होंगे। मानव-विभिन्नता के अनुसार विभिन्न आराध्य सत्तायें होंगी और प्रत्येक विभिन्न धर्मावलंबी को उसकी निष्ठा के अनुसार फल भी मिलेगा। इसी बात को गौड़पाद और शंकर ने बतलाया है कि प्रणवोपासना में चार प्रकार की आराध्य सत्ताओं का सोपानक्रम छिपा हुआ है, अर्थात् ओउम् में 'अ' से विश्व, 'उ' से तैजस, 'म' से प्राज्ञ और अमात्र (हलन्त) से ब्रह्म ध्वनित होता है जिसमें सभी प्रकार के देवी-देवताओं का विलयन हो जाता है। विश्व की उपासना में बाह्य वस्तुओं के भोग की कामना रहती है। तैजस में यह वासना अन्तरस्थ मात्र हो जाती है। प्राज्ञ आराधना में ज्ञान की अर्चना रहती है। पर अंतिम कड़ी अमात्र में सभी देवी-देवताओं का विलयन हो जाता है।

इसलिये 'अमात्र' की आराधना धीरे-धीरे क्रमशः तैजस से होकर सात्त्विक रूप से ईश्वरोपासना के बाद ही संभव होती है। पर ईश्वरोपासना के स्तर पर भी भेदभाव बना रहता है और जब तक भेदभाव बना रहेगा तब तक धर्मों के बीच में कलह, संघर्ष और तनाव बना रहेगा। कोई कहेगा कि ईश्वर शिव भगवान् हैं, कोई कहेगा विष्णु हैं और कोई कहेगा कि ईश्वर ईसा ही हैं। इसलिये धर्म की पराकाष्ठा वहीं पायी जायगी जहाँ किसी प्रकार का अंतर न हो। यह केवल ब्रह्मप्राप्ति में ही सम्भव हो सकता है। ब्रह्म-

प्राप्ति में न कोई मुसलमान रहता और न ईसाई, न हिंदू और न कोई सिख। सब भेद समाप्त हो जाते हैं। तो ब्रह्मप्राप्ति को धर्मों का विलयन कहा जाय या उनकी पूर्णता ?

यहाँ धर्म-विशेषों का विलयन अवश्य होता है, पर अंतिम सीढ़ी तो पूर्व की सीढ़ियों के ही आधार पर संभव होती है। इसलिये ब्रह्मप्राप्ति वह है जिसमें धर्मों की पूर्णता पायी जाती है। फिर भूल नहीं जाना चाहिये कि ईश्वर-पूजा का चरम उद्देश्य स्वर्गप्राप्ति होता है। पर शंकर के अनुसार स्वर्गप्राप्ति अंतिम उद्देश्य नहीं हो सकता है क्योंकि स्वर्गानंद भी अस्थायी होता है और जब तक पुण्य रहता है तभी तक स्वर्गानन्द भोगा जा सकता है। पुण्य के क्षय के साथ मानव को पुनः सांसारिक चक्र में पड़े रहना पड़ता है। अतः शंकर के मतानुसार मोक्ष-प्राप्ति ही मानव का अंतिम लक्ष्य रहना चाहिये और यह केवल अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान के द्वारा संभव हो सकता है। अतः, अभेदमूलक ब्रह्मप्राप्ति में धर्मों का क्षय नहीं, वरन् उनकी पूर्णता प्राप्त होती है। यह अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान प्रत्येक ईश्वरवाद के लिये अमूल्य सिद्धान्त हो सकता है।

ईसाई अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त को स्वीकार कर क्षेत्रीय, भाषायी, रंगभेद तथा अन्य प्रकार के भेद से ऊपर उठकर उस अवस्था को प्राप्त करेगा जिसे ईश्वरीय प्रेम की अन्तिम सीढ़ी कहा जाता है। ईश्वरीय प्रेम में भेद-भाव दूर हो जाते हैं। मसीह ने कहा,

> अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो। तुम्हारा प्रेम ईश्वर के प्रेम के समान होना चाहिये। ईश्वर धर्मात्मा और अधर्मात्मा, दोनों को एकरूप से सूर्य-प्रकाश और वर्षा का दान देता है (मत्ती ५.४४-४६)।

तब क्या रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट लड़ सकते हैं ? इसी प्रकार क्या शीया-सुन्नी का भेद रह सकता है ? क्या शैव और वैष्णव का भेद रह सकता है ? क्या अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान के आधार पर जातिभेद को प्रश्रय दिया जा सकता है ? स्वयं ब्रह्म में न किसी प्रकार का अंतर है और न जातिभेद।

यदि प्रत्येक ईश्वरवादी अपने ही धर्म में सभी भेदभाव को मिटा लें तो उसे फिर अन्य ईश्वरवादियों के साथ भी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहेगा। हिंदू, मुसलमान, ईसाई और सिख, सभी अंत में अनन्त निर्वाण की शांति प्राप्त करेंगे। जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में मिलकर अपनी-अपनी अंतिम दशा को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ईश्वरवादी अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करेंगे। हाँ, ब्रह्मप्राप्ति न तो सभी के लिये संभव है और न ऐसा हो सकता है, पर यह ऐसा सिद्धान्त है जिसे अपनाकर प्रत्येक ईश्वरवादी अपने ही विशिष्ट धर्म में बहुत लाभ प्राप्त कर सकता है। ईसाई, वैष्णव इत्यादि को यदि अभेदमूलक ईश्वरीय प्रेम मिल जाय तो मदर तेरेसा के समान वह कोढ़ी तथा सभी प्रकार के विकार से पीड़ित व्यक्तियों की सेवा वह एक रूप से करने लगेगा।

धर्म-सहिष्णुता

चूँकि मानवों की सभ्यता, परंपरा, सभ्यता-संस्कृति एक-समान नहीं पायी जाती है, इसलिये गीता के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यक्ति अवश्य होंगे और उनकी मानसिक प्रवृति के अनुसार देवता और तदतुरूप धर्म भी विभिन्न प्रकार के होंगे। इसलिये धर्मों की अनेकता और सापेक्षता तथ्य है। पर याद रखना चाहिये कि फ्रायड ने बताया है कि प्रेम, घृणा, बनाना-बिगाड़ना, संगठन-विघटन एक ही सत्ता के दो अवियोज्य पक्ष हैं। यदि एक धर्म के द्वारा उसके अनुयायियों में बंधुत्व होता है तो इसी धर्म के द्वारा अन्य धर्मों के अनुयायियों के प्रति हिंसा और विरोधभाव का रहना भी स्वाभाविक है। यही कारण है कि ईश्वरीय प्रेम पर आधृत ईसाई धर्म में भी अन्य धर्मों के प्रति विरोध देखा जाता है। अतः, धर्म के नाम पर उतनी ही अधिक हिंसा भी हुई है जितना इसके द्वारा सौहार्द को अपनाया गया है। चूँकि धर्म मानव का स्वभावगुण है, इसलिये धर्म के बिना मानव रह नहीं सकता है। अतः, धर्म में निहित स्पर्द्धा तथा अन्य धर्मों के प्रति विरोध-भाव को कम किया जा सकता है। कम से कम चिंतन के स्तर पर भेदभाव को दूर करने का प्रयास किया जा सकता है।

सर्वप्रथम, हमलोगों ने देखा है कि केवल अतीत महान्, ब्रह्मण, रहस्यमय, महान् एक परम सत्ता है जो अचिंत्य है, पर सभी धर्मों की वह आधारभूत सत्ता है। यह अगोचर है। शायद ही कोई ईश्वरवादी होगा जो ईश्वर को इन्द्रियग्राह्य स्वीकारता होगा। ईसाई धर्म और इस्लाम में भी ईश्वर को अगोचर ही कहा गया है। इसलिये जो कुछ भी ईश्वर के संदर्भ में कहा जाय वह अक्षरशः सत्य नहीं हो सकता है। परम अतीत तथा ईश्वर की भी हम छवि ही रचते हैं। अंतर यही है कि कोई छवि स्थूल है और कोई छवि सूक्ष्म है। पर दार्शनिक-प्रत्ययों के द्वारा ईश्वर का स्वरूप भी मात्र चित्रण है। अतः सभी ईश्वरवादी विशिष्ट धर्म अंत में प्रतीकात्मक ही हैं। तब क्या किसी प्रतीक को सत्य या असत्य कहा जा सकता है ? क्या सत्य, न्याय, स्वतंत्रता इत्यादि की छवि या प्रतिमा को सत्य-असत्य कहा जा सकता है ?

सत्यता-असत्यता का प्रश्न केवल उन प्रकथनों के संदर्भ में किया जा सकता है जिनका संबंध इन्द्रियग्राह्य तथ्यों के साथ रहता है; पर छवि के संदर्भ में कहा जा सकता है कि अमुक छवि सुंदर, हृदयस्पर्शी, मुद्रमंगलकारी है इत्यादि। अतः धर्म न सत्य है और न असत्य। व्यष्टिपरक दृष्टि के अनुसार धर्म शांतिदायक होते, व्यक्ति को नैतिक तथा पूर्ण बनाने में सहायक होते या इसके विपक्ष में व्यक्ति को व्याकुल करते, संकीर्ण, कठोर तथा अनुदार बनाते हैं।

फिर अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त को स्वीकार कर वे धर्म जिनमें अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता, व्यापकता तथा विचार की आधुनिकता अधिक हो वह अन्य संकीर्ण एवं अनुदार धर्मों की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य होगा।

अपितु, अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान का सिद्धान्त परिपूर्णता का सिद्धांत है। इसलिये किसी धर्म को इस अभेदमूलक सिद्धान्त के आधार पर मूल्यांकन करने के लिये देखना चाहिये कि अमुक धर्म में बहु सुखाय बहु हिताय की बात है या नहीं। उदा०, भारत में जनबाढ़ है। इसे रोकना आवश्यक है। जिस धर्म में परिवार नियोजन की गुंजाइश हो सकती है, उसे उस धर्म की अपेक्षा अधिक मान्य समझा जायगा, जिसमें परिवार-नियोजन का स्थान नहीं है। सर्वे सन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। यह केवल अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान के आधार पर ही संभव है।

लाला भगवान दास तथा सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् सर्वधर्मसमन्वय के संदर्भ में महान् विचारक समझे जायेंगे। दोनों ने सर्वधर्मतत्त्व पर बल दिया है। इस पुस्तक में भी बताया गया है कि निर्गुण ब्रह्म, रहस्यमय महान् तथा परम अतीत इत्यादि एक ऐसा सामान्य सत् है जो सभी धर्मों में सामान्य रूप से पाया जाता है। पर अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त को एकधर्मतत्त्वमूलक सिद्धान्त से भिन्न समझना चाहिये।

सर्वप्रथम, किसी भी धर्मतत्त्व की उपासना नहीं हो सकती है। उपासना केवल परम अतीत के चित्रण अथवा प्रतीक की ही हो सकती है। द्वितीय, ब्रह्मज्ञान क्रमशः ईश्वरोपासना के द्वारा हो सकता है। पर इस ईश्वरोपासना की क्रमशः अवस्थाओं को अभेदमूलक सिद्धान्त के आधार पर सोपनक्रमिक रूप से प्राप्त करना चाहिये। अतः, व्यावहारिक जीवन में सापेक्ष और विशिष्ट धर्मों को छोड़ा नहीं जा सकता है। पर धर्मों की विशिष्टता के आधार में सर्वव्यापक अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान को ध्यान में रखना चाहिये। अतः, धर्मों की विशिष्टता के साथ सर्वव्यापक अभेदमूलक ब्रह्मज्ञान को भी रहना चाहिये। पर क्या निर्गुण ब्रह्मप्राप्ति साक्षात् रीति से नहीं हो सकती है?

शंकर ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन का मार्गत्रय अवश्य बताया है पर आप स्वयं सगुणोपासक थे। अतः, निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि निर्गुण की प्राप्ति सगुणोपासना के माध्यम से ही करनी चाहिये। प्रत्येक सगुणोपासक को परम अतीत पर ही आधृत रहना चाहिये।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर धर्मसमन्वय के विषय में विचार प्रस्तुत किया जा सकता है।

●

अध्याय : १३

सर्वधर्मसमन्वय

धर्मसमन्वय की समस्या

'समन्वय' का अभिप्राय एकता है, अर्थात् सभी धर्मों के बीच एकता स्थापित करना। यह एकता सभी धर्मों में समाहार या समुच्चय से नहीं उत्पन्न हो सकती है; इस एकता को तर्कसंगत होना चाहिए। अतः, इस प्रसंग में 'समन्वय' शब्द का अर्थ 'तर्कसंगत एकता' लगाना चाहिये। तर्कसंगत एकता स्थापित करने का काम धर्मदर्शन (philosophy of religion) अथवा धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का माना जाता है। धर्मदर्शन को धर्मविद्या (theology) और धर्म (religion) से भिन्न मानना चाहिए।

धर्मविशेषों में ईश्वर, देवता तथा आस्थावस्तु के प्रति आत्मार्पण पाया जाता है और इसी आत्मार्पण से पुजा, आराधना, जप-तप तथा अन्य क्रियाकलाप उत्पन्न होते हैं। बहुधा भक्तों का विश्वास परिस्पष्ट प्रत्ययों द्वारा पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया जा सकता है, लेकिन उनकी आस्था दृढ़ रहती है और इसी दृढ़ अन्तर्विश्वास के द्वारा उनके जीवन की सभी क्रियाएँ संचालित होती हैं। धर्म का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से होता है और इसके अन्तर्गत विश्वास, शास्त्रक्रियाएँ, उपासना इत्यादि वास्तविक घटनाएँ गिनी जाती हैं जिनका वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जा सकता है। धर्म में आस्था, आत्मसमर्पण तथा भाव की प्रबलता एवं विशेषता पायी जाती है। धर्म की तुलना में धर्मविद्या में बौद्धिक प्रयास का आधिक्य पाया जाता है। **धर्मशास्त्री** अपने धर्म के अन्तर्गत विश्वास, उपासना, देवकथा तथा शास्त्रक्रियाविधियों के सम्बोधों अथवा अवधारणाओं को स्पष्ट करना चाहता है। इन अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए धर्मशास्त्री को अपने समय के चलित दार्शनिक सम्बोध काम में लाने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ में ईसाई धर्मशास्त्रियों ने प्लेटोवाद तथा अरस्तूवाद की मदद ली थी। बाद में इन्होंने हेगेलवाद की सहायता ली और सम्सामयिक युग में ये अस्तित्ववाद की मदद ले रहे हैं। अतः, धर्म की अपेक्षा धर्मविद्या को बौद्धिक प्रयास कहा जायगा। इसका काम है धर्मविशेष का बौद्धिक स्पष्टीकरण, इसके प्रति आपत्तियों अथवा कठिनाइयों का निराकरण तथा सामयिक विचारधाराओं के अनुसार इसे तर्कसंगत तथा बुद्धिगम्य बनाना। यद्यपि धर्म की तुलना में धर्मविद्या को अधिक बौद्धिक कहा जायगा तो भी धर्मविद्या को दर्शन के समकक्ष व्यापक नहीं कहा जायगा। धर्मविद्या का सम्बन्ध धर्मविशेष से रहता है। इसलिए जितने मुख्य धर्म होंगे उतनी धर्मविद्याएँ भी होंगी।

इसलिए धर्मविद्याएँ हिन्दू, ईसाई, जैन, बौद्ध इत्यादि कही जाती हैं। फिर किसी एक ही धर्म की विभिन्न शाखाओं के अनुरूप विभिन्न धर्मविद्याएँ भी हो सकती हैं। जैसे, रोमन कैथलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट धर्म-विद्याएँ हैं और इसी प्रकार बौद्धधर्म के सम्प्रदायों के अनुसार विभिन्न बौद्धधर्मविद्याएँ मानी जायँगी।

धर्मदर्शन (philosophy of religion) धर्मविद्या की अपेक्षा अधिक बौद्धिक तथा व्यापक माना जायगा। धर्मदर्शन में विभिन्नता अवश्य पायी जाती है; परन्तु यह विभिन्नता विषय की संकीर्णता से नहीं, वरन् दर्शन के स्वरूप से ही सिद्ध होती है। लेकिन धर्मविद्या की विभिन्नता धर्मविशेषों की विविधता पर आधृत रहती है। धर्मविद्या की विभिन्नता का दूसरा कारण है भाव का आधिक्य। चूँकि भाव चंचल तथा सापेक्ष होते हैं, इसलिए भावप्रधान होने के कारण धर्मविशेषों में तथा धर्मविद्या में भी तदनुरूप विभिन्नता पायी जाती है। प्रत्येक धर्मशास्त्री अपनी धर्मविद्या के प्रति आचरण, प्रीति, आस्था तथा उपार्पण के साथ करता है। अतः, वह अपनी धर्मविद्या के प्रति पूर्ण भाव-निरपेक्षता नहीं बरत पाता है। यद्यपि धर्मशास्त्री अपने धर्मविशेष को बौद्धिक अव-धारणाओं के द्वारा व्यापक बनाना चाहता है, तो भी वह अन्य धर्मविशेषों की विशेषता पर ध्यान नहीं देता और यही कारण है कि धर्मशास्त्रियों के बीच मतभेद बना रहता है और उनके बीच पारस्परिक सम्भाषण अथवा विचारों का पूरा आदान-प्रदान नहीं हो पाता। अब धर्मदर्शन का उद्देश्य है कि धर्मों तथा धर्मशास्त्रियों के बीच भलीभाँति सम्भाषण किया जाय। इस उद्देश्यपूर्त्ति के लिए दो मुख्य बातें कही जा सकती हैं। सर्वप्रथम, धर्मदार्शनिक को एक ऐसा सम्बोधमूलक (conceptual) ढाँचा बनाना पड़ता है जिसमें अधिक-से-अधिक धर्मविद्याओं को तर्कसंगत रीति से समन्वित किया जा सके। यह कार्य सम्पूर्णतया बौद्धिक माना जायगा। किन्तु इस सम्बोधपरक ढाँचे को बनाने में सहानुभूति, सहिष्णुता, उदारता तथा सुसंस्कृत कल्पना की आवश्यकता है। धर्मदर्शन की रचना में इस दूसरी शर्त की अवहेलना नहीं की जा सकती। इसका कारण है कि बिना सहानुभूति के हमें कवि-हृदय नहीं प्राप्त हो सकता और कवि-हृदय प्राप्त किये बिना हम विभिन्न धर्मों के प्रत्ययों के मर्म को नहीं भाँप सकते हैं। सहानुभूति तथा अनुशासित कल्पना को आधार बनाये बिना कोरी बुद्धि की मदद से धर्मदर्शन का काम पूरा नहीं हो सकेगा। समाजशास्त्र, मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान हमें बताता है कि कोरी बुद्धि के द्वारा प्रकृतिवाद, भौतिकवाद, मानवतावाद तथा धर्मनिरपेक्षतावाद इत्यादि ही सम्भव हो सकते हैं और इन वादों में धर्मों का विलयन होता है, न कि इनका समन्वय। इसलिए धर्मसमन्वय के प्रसंग में हम बौद्धिक अवधारणाओं के साथ सहानुभूति तथा अनुशासित कल्पना की भी मदद लेंगे।

यह ठीक है कि धर्म का शाश्वत उद्देश्य मानव की अपन मानसिक वृत्तियों तथा मानव-मानव के बीच मेल स्थापित करना रहा है, किन्तु धर्म भावपरक होने के कारण

किसी भी युग में मानव-मानव के बीच शान्ति और मेल को सम्पूर्णतया स्थापित करने में समर्थ नहीं हो पाया है। चूँकि धर्म की यह माँग है कि भक्त में अपने धर्मविशेष के प्रति आस्था और आत्मसमर्पण हो, इसलिए वह अन्य किसी भी धर्म के प्रति उतनी आस्था नहीं दिखा सकता है। यही कारण है कि धर्मानुयायियों के बीच आपसी दंगे होते आये हैं। चूँकि भूतकाल में विचारकों ने आस्था तथा आत्मसमर्पण को धर्म का सार नहीं माना था, इसलिए वे समझ नहीं पाये कि धर्म के नाम पर झगड़े क्यों होते हैं जबकि कोई भी धर्म वैर करना नहीं सिखाता है। अब हमें धर्म के स्वरूप का ज्ञान होने लगा है कि बिना आस्था के धर्मपरायणता नहीं हो सकती और जब किसी एक देवता तथा आराध्य देवता के प्रति आस्था होगी तो अन्य देवी-देवताओं के प्रति आस्था नहीं हो सकती है। चूँकि धर्म का स्वरूप ही है कि किसी धर्मविशेष के प्रति आस्था हो और अपेक्षया अन्य सभी धर्मों के प्रति अनास्था, इसलिए बौद्धिक स्तर पर नहीं चाहने पर भी विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच झगड़े होते रहते हैं। परन्तु प्रारम्भकाल से ही धर्मविचारक धर्मसमन्वय की बात करते आये हैं। प्रारम्भ में धर्मसमन्वय को भाव के स्तर पर नहीं, बल्कि विचारकों ने बौद्धिक स्तर पर ही स्थापित करने का प्रयास किया है। धर्म के नाम पर झगड़ों के रहते हुए भी विचारकों का धर्मसमन्वय का संवाद भी उल्लेखनीय समझा जाना चाहिए। इस दिशा में भारतीय देन महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। आर्यों के अतिरिक्त अनार्यों का भी विकसित धर्म था। अतः, वैदिक विचारक धर्मों के मतभेद से पूर्णतया अवगत थे और उनके धर्मसमन्वयसम्बन्धी मत आज तक भारतीयों के बीच समादृत होते आये हैं। वेदों से लेकर महात्मा गाँधी तथा राधाकृष्णन् के समय तक भारतीय धर्मसमन्वय के सम्बन्ध में किये गये धर्मविचार इस प्रसंग में प्रमुख माने जाते हैं। इनका उल्लेख बाद में किया जायगा। लेकिन ईसाई धर्म और इस्लाम में भी विश्वधर्म की ओर संकेत किया गया है।

'नये नियम' में लिखा है कि ईश्वर शब्द है और शब्द वह ज्योति है जो **प्रत्येक मानव** को प्रकाश देता है (यो० १:९) और फिर ईश्वर ने अपने सम्बन्ध में किसी भी जाति को बिना साक्षी (गवाह) के नहीं रखा है (**प्रेरितों की पत्री** १४ : १७)। अन्त में सन्त पॉल ने लिखा है—

> 'क्या ईश्वर यहूदियों का ही है? क्या वह अन्यदेशियों का नहीं? हाँ, वह अन्यदेशियों का भी है।'
>
> —**रोमियों** ३ : २९

फिर ईसाई परम्परा के अनुसार प्लेटो और अरस्तू—जो ईसा के बहुत पूर्व हुए थे—ईसाई कहलायेंगे, क्योंकि इनकी विचारधारा से ईसाई मत को दार्शनिक आधार प्राप्त हुआ है। सन्त अगस्टिन का भी यही मत है कि ईश्वर समस्त मानवजाति का प्रभु और आराध्य देवता है। इस प्रसंग में निकोलस की उक्ति (सन् १४५३) उल्लेखनीय है—

'विभिन्न धर्मों में ईश्वर विभिन्न मार्गों के द्वारा खोजा जाता है और विभिन्न नाम से पुकारा जाता है और उसने (ईश्वर ने) विभिन्न जातियों और युगों में विभिन्न ईशदूतों और धर्मगुरुओं को भेजा है।[1]'

इसी प्रकार क़ुरान में भी लिखा है—

'धर्मगुरु प्रत्येक जाति में भेजे जाते हैं ताकि वे उनकी ही भाषा में उन्हें सिखायें जिससे अर्थ के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं रह पाये।[2]'

परन्तु धर्मों की एकता के सम्बन्ध में भावोद्गार से काम नहीं चल सकता है। हमें तर्कसंगत रीति से धर्मसमन्वय स्थापित करना होगा। इस सन्दर्भ में कम-से-कम पाँच मत प्रकट किये गये हैं जिनके निम्नलिखित रूप दिये जा सकते हैं—

१. केवल एक ही धर्म सत्य है और अन्य सभी धर्म असत्य।

२. यद्यपि सभी धर्म असत्य नहीं हैं लेकिन उनमें केवल आंशिक ही सत्यता है, और इनकी तुलना में एक ही पूर्ण अथवा पूर्णतया सत्य धर्म है।

३. केवल एक ही धर्मतत्त्व है जो सभी धर्मों के मूल में है और धर्मों की विभिन्नता स्थानीय अथवा देशीय आकस्मिक गुणों के कारण होती है। दूसरे शब्दों में, मूल धर्म-भाषा एक ही है और इसकी तुलना में अन्य सभी धर्म इसी की विभिन्न उपभाषाएँ या बोलियाँ हैं।

४. सभी धर्म सापेक्ष हैं और इनकी अनेकता तथा सापेक्षता निरपेक्षतया सत्य है। 'धर्मों की एकता' का अभिप्राय है, इनके बीच सहयोग तथा सहभागिता के आधार पर पारस्परिक समन्वय अथवा आदान-प्रदान की सम्भावना।

५. धर्मों की सापेक्षता और अनेकता से स्पष्ट होता है कि कोई भी धर्म सत्य नहीं है। इसलिए परम्परागत धर्मों के विलयन से ही ऐसे धर्मों का उदय हो सकता है जो विश्वधर्म का रूप धारण कर सकते हैं। धर्मनिरपेक्षता (secularism), प्रकृतिवाद भौतिकवाद, विज्ञानवाद, मानवतावाद इत्यादि ऐसे विश्वधर्म बताये जाते हैं जिनके द्वारा एक धर्म की स्थापना की जा सकती है।

यहाँ हम पाँचवें विकल्प की चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि इसमें धर्मसमन्वय नहीं, बल्कि धर्मविलयन की बात की गयी है। इस विकल्प का विषय वस्तुतः 'धर्मों का भविष्य' है, न कि 'धर्मसमन्वय'। अतः, हम प्रथम चार मतों का क्रमशः उल्लेख करेंगे।

---

१. Friedrich Heiler, **How can christian and non-christian religions co-operate**, Hibbert Journal, Vol. 52, 1953-1954, p. 109. फिर १०९-१११ तक देखें।

२. Bhagwan Das, **The essential unity of all religions, p. 56.**

एकाधिपत्यसिद्धान्त

केवल एक धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म असत्य हैं।

कुछ विचारक अपने धर्म के एकमात्र सत्य होने का एकाधिकारी दावा करते हैं। एकाधिकारियों का दावा शायद दो बातों पर आधृत माना जा सकता है। प्रथम, फरे के अनुसार, हर मानव की एक सामान्य प्रकृति है और वह एक सामान्य जगत् में रहता है। इसलिए इस सामान्यता के अनुसार एक ही सामान्य धर्म भी होना चाहिए।[1] फिर एकवादी (monist), एकशिलावादी (monolithic) तथा एकाधिकारवादी (monopolist) सोचते हैं कि एक ही निरपेक्ष विषय है जिसे विभिन्न धर्म अपने-अपने ढंग से पूजते हैं। सभी धर्मों में एक ही निरपेक्ष सत्ता निहित है—इसे मानना कठिन है। पर, इसकी चर्चा बाद में की जायगी। किन्तु, क्या हम कह सकते हैं कि एक ही सामान्य मानवस्वरूप (common human nature) है जो सभी व्यक्तियों में एकरूप पाया जाता है?

भारतीय दर्शन के अनुसार व्यक्तियों के कर्मसंस्कार विभिन्न हुआ करते हैं और इसलिए वे भी एक दूसरे से विभिन्न हुआ करते हैं। इस निष्कर्ष की पुष्टि मनोविज्ञान द्वारा होती है। युग के अनुसार, व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न होते हैं क्योंकि उनके विभिन्न वर्ग होते हैं, उनकी क्रियात्मकता और मानसिक रचना भी विभिन्न होती है। इसलिए, व्यक्तियों की वास्तविक विभिन्नता को देखते हुए, किसी एक सामान्य मानवस्वरूप को अयथार्थ अमूर्त प्रत्यय (abstraction) कहा जायगा। फिर यदि व्यक्ति विभिन्न हों तो उनकी दुनिया भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार विभिन्न मानी जायगी। इसलिए न तो कोई एक सामान्य मानव-स्वरूप है और न उसकी कोई एक सामान्य दुनिया, इसलिए इनके आधार पर किसी एक ही सामान्य धर्म की बात नहीं सोची जा सकती है।

पर, क्या हम कह सकते हैं कि सभी धर्मों का अन्तिम विषय एक निरपेक्ष सत्ता है? यह सोचना लोगों की गलती है कि धार्मिक अनुभूति तटस्थ हुआ करती है। विज्ञान का ज्ञान भावविहीन, वैज्ञानिक के व्यक्तित्व से अछूता, पूर्णतया तटस्थ और अतिवैयक्तिक कहा जा सकता है। धर्म आस्था, आत्मबन्धन अथवा आत्मसमर्पण के बिना सम्भव नहीं होता। इसलिए जैसा भक्त होगा, वैसा ही उसका भगवान् और जैसा भगवान् होगा वैसा ही उसका भक्त। किसी भी भगवान् को अपनाने में भक्त का पूर्ण व्यक्तित्व अभिव्यंजित हो जाता है। इसलिए व्यक्तित्व की विभिन्नता के अनुसार भगवान् अथवा देवता भी विभिन्न होंगे। अतः, किसी भी अतिवैयक्तिक निरपेक्ष सत्ता की बात धर्म के सन्दर्भ में सही नहीं मानी जायगी। चूँकि कोई भी एक निरपेक्ष आराध्य सत्ता नहीं हो सकती,

---

१. N. F. S. Ferre, **Reason in Religion**, Chap. IV, p. 290.

इसलिए उसे सभी धर्मों में निहित एकमात्र ईश्वर भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसलिए किसी एक ही धर्म को एकमात्र सत्यधर्म मानना अनुचित होगा।

किसी एक ही धर्म को एकमात्र सत्य मानना कोरी कल्पना कहा जायगा। वास्तविकता यही है कि धर्म अनेक और विभिन्न हैं। तो क्या एक को छोड़कर सभी धर्मों को असत्य माना जाय ? असत्य धर्म वह है जिसमें शैतान, पिशाच, राक्षस तथा दुष्टात्माओं की पूजा की जाय। तो क्या एक को छोड़कर अन्य धर्मों को शैतान की पूजा कहा जा सकता है ? नहीं। इसका कारण है कि अनेक ऐसे धर्म हैं जिनमें साधु-सन्त उत्पन्न हुए हैं और साधु-सन्तों के धर्मों को शैतानी पूजा की संज्ञा देना निन्दनीय कहा जायगा। इसलिए एक को छोड़कर अन्य सभी धर्मों को असत्य मानना अनुचित कहा जायगा।

अन्त में पूछा जाय कि यदि सभी धर्म खुद को एकमात्र सत्य मानें तो ईसाई, बौद्ध, जैन इत्यादि के बीच कौन और कैसे निबटारा करेगा ? सभी धर्म स्वयं को एकमात्र सत्य कहलाने के लिए आपस में इतना झगड़ने लगेंगे कि आपस के कलह से धर्म के स्थान पर अधर्म का ही बोलबाला हो जायगा। अतः अपने को एकमात्र सत्यधर्म माननेवालों के एकाधिपत्यसिद्धान्त (monopolistic theory) को हम सही नहीं कह सकते हैं। परन्तु इससे मिलता-जुलता एकशिलात्मक सिद्धान्त (monolithic theory) है जिसकी हम व्याख्या करेंगे।

एकशिलात्मक सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के अनुसार अन्य सभी धर्म असत्य नहीं हैं, लेकिन वे केवल आंशिक और सापेक्ष हैं। सभी धर्मों की तुलना में एक पूर्ण धर्म है जिसमें सभी धर्मों की आंशिक सत्यता सम्पूर्ण हो जाती है। इस मत के अनेक समर्थक हैं। परन्तु यहाँ केवल फरे, हॉकिंग तथा भगवद्गीता के मतों का उल्लेख किया जायगा।

फरे एक सुविख्यात पाश्चात्य धर्मविचारक हैं और इनके मत को भावुकता की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इनके अनुसार, विश्वव्यापक सामान्यता के साथ गौण परन्तु प्रमुख विभिन्नता भी पायी जाती है।[1] इसलिए, इनके मत के अनुसार, एक ही सामान्य ईश्वर है जिसकी पूजा सभी धर्मों में विभिन्न रूप से की जाती है। परन्तु इस कथन के साथ इनकी निम्नलिखित उक्ति भी है—

> मैं सोचता हूँ कि मानव-इतिहास में सर्वोच्च अर्थपूर्णता का अवतरण यीशु खीष्ट के जीवन, शिक्षा, मृत्यु तथा पुनरुत्थान में पाया जाता है। ईश्वर का प्रेम—जिसे यीशु ने अपने जीवन में साकार किया और जिसकी उसने शिक्षा दी—सर्वोच्च है। मुझे ऐसी कोई चीज नहीं प्रतीत होती है जो उस

---

१. वही, पृ० ३०१, ३०८।

> सर्वाङ्गपूर्ण, निरपेक्ष तथा अनन्त प्रेम से बढ़कर हो जिसकी ओर यीशु के जीवन और शिक्षा ने निश्चायक रूप से संकेत किया है।[1]

इसलिए फ़रे ईसा के जीवन को सभी धर्मों का मानदण्ड मानते हैं और इनके अनुसार ईसाई धर्म—जो प्रेममय ईश्वर के प्रति विश्वास पर आधृत है— एकमात्र सर्वव्यापक धर्म है।[2] किन्तु फरे का निष्कर्ष आश्चर्यजनक प्रतीत होता है; क्योंकि इनके अनुसार जबकि हिन्दूधर्म, बौद्धमत और अन्य धर्म भी मानव के लिए व्यापक विकल्प हैं तो ईसाई धर्म को एकमात्र सत्यधर्म कहने में असंगति मालूम पड़ती है।

फ़रे के समान हॉकिंग भी बहुत प्रसिद्ध धर्मविचारक हुए हैं। इनके विचार को गम्भीर ही नहीं, उदार भी माना जाता है। पर इसके बावजूद आप ईसाई धर्म को मानवजाति के लिए विश्वव्यापक धर्म मानते हैं। ईसाई धर्म को सर्वव्यापक मानने में इन्हें एक कठिनाई दिखाई दी। सर्वव्यापक धर्म वही हो सकता है जो विशिष्टता से सीमित न हो। लेकिन ईसाई धर्म ऐतिहासिक ईसा की जीवनी तथा शिक्षा के बिना सम्भव नहीं हो सकता है। तो क्या किसी धर्मविशेष को हर देश, काल तथा जाति के लिए व्यापक कहा जा सकता है ? हॉकिंग इस आपत्ति में विशेष बल नहीं पाते हैं। इनके अनुसार, ऐसे व्यापक धर्म को—जिसमें किसी ईश्वर, देवता, इतिहास, परम्परा इत्यादि का उल्लेख न हो—अमूर्त और अवास्तविक माना जायगा। इसलिए धर्म को सर्वव्यापक मानने के लिए सम्पूर्णतया विशिष्टताहीन नहीं होना चाहिए; केवल उसमें ऐसी अन्तर्ध्वनि रहनी चाहिए जो धर्म के अमर सन्देश को साकार कर सके। सर्वव्यापक धर्म का अमर सन्देश है कि ईश्वर पूर्ण प्रेम है जिसकी सर्जनात्मक क्रियाएँ दुःखवहन द्वारा कार्यान्वित होती हैं। इस दुःख और त्याग के द्वारा प्रेमलीला की चरितार्थता समुचित रीति से होनी चाहिए। अब हॉकिंग के अनुसार इस प्रकार की सर्जनात्मक प्रेमलीला ईसा की जीवनी, शिक्षा और क्रूश-मृत्यु के द्वारा चरितार्थ होती है। हॉकिंग स्वीकार करते हैं कि ईसा के जीवन में ईश्वरीय प्रेम की भावना को निरन्तर परिष्कृत करने का प्रयास करते रहना चाहिए ताकि अमर सन्देश कलुषित, संकीर्ण तथा सीमित न हो जाय। इसे ऐतिहासिक खोज, जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा धर्मों के व्यापक आदेशों के अनुरूप बनाते रहना चाहिए। इसलिए, हॉकिंग के अनुसार, ईसाई धर्म सर्वव्यापक समझा जा सकता है।

> क्या सामान्य रूप से ईसाई धर्म सर्वव्यापक है ? मेरा उत्तर है कि यह सर्वव्यापकता के रास्ते पर है, पाश्चात्य आधुनिक परीक्षणों पर खरा उतरकर यह इसका अधिकारी ठहरा है और आशा की जाती है कि यह आनेवाली सभ्यता की धार्मिक समस्याओं को सुलझाने में नेतृत्व करेगा।[3]

---

१. वही, पृ० ६७।　　२. वही, पृ० ३३२।

३. W. E. Hocking, **Christianity and the faith of the coming civilization**, Hibbert Journal, Vol. 54, 1955-1956, P. 346.

हॉकिंग आधुनिकता (modernity) पर जोर देते हैं। क्योंकि ईसाई धर्म को वैज्ञानिक शोधों और खोजों का सामना करना पड़ा है, इसके कारण इसके प्रत्ययों में स्पष्टता तथा गहराई भी आयी है। गौण रूप से ये कहना चाहते हैं कि शायद अन्य धर्म विज्ञान, सामाजिक एवं राजनीतिक विकास के सामने ठहर नहीं पायेंगे।

अन्त में हॉकिंग ईसाई धर्म के साथ हिंदू धर्म का भी योग कर देते हैं। हिन्दू कर्म-सिद्धान्त के अनुसार, देवता भी अपने कर्मों से बँधे रहते हैं। जो जैसा करता है वैसा ही पाता है। यह नियम शाश्वत तथा व्यापक है। हॉकिंग का कहना है कि यदि ईसाई धर्म के साथ कर्मसिद्धान्त को जोड़ दिया जाय तो इन दोनों के सम्मिश्रण से भविष्य में व्यापक धर्म की स्थापना होगी। पर प्रश्न उठता है कि ईसाई धर्म की गंगा और हिन्दू धर्म की यमुना के सम्मिश्रण का क्या स्वरूप होगा?

> यदि गंगा और यमुना एक साथ प्रवाहित हों तो मिली धारा बाद में चलकर गंगा कहलायेगी या यमुना? या दोनों में से कोई नहीं? या दोनों? या यह उस प्रतीक से व्यक्त किया जायगा जिसमें दोनों का अभिप्राय मुक्त रीति से आबद्ध है; जिस प्रतीक में ऐसी ऐतिहासिक जीवनी और कृति—जिसकी न तो पुनरावृत्ति हो सकती है और न जिसका एवजी हो सकता है—मानव की शाश्वत आवश्यकता की भावी पूर्ति करेगी?[1]

इसलिए, हॉकिंग के अनुसार, कर्मसिद्धान्त से परिशुद्ध होकर ईसाई धर्म ही भविष्य में मानव का सर्वव्यापक धर्म होगा।

इसी प्रकार हाईलर ने ओटो के मत की दुहाई देते हुए कहा है कि ईसाइ धर्म ही सर्वव्यापक धर्म होने का अधिकारी हो सकता है—

> यह (ईसाई धर्म) इस अर्थ में श्रेष्ठ नहीं है जिस रूप में सत्य-असत्य की अपेक्षा (श्रेष्ठ) है, लेकिन जैसे प्लेटो अरस्तू से (श्रेष्ठ) है; दास की तुलना में स्वामी के रूप में नहीं, बल्कि जैसा बड़ा भाई अन्य भाइयों की तुलना में होता है।[2]

यह ठीक है कि भारतीय धर्मदर्शन प्रायः एकत्ववादी है। परन्तु शायद धर्मसमन्वय के दृष्टिकोण से गीता को सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है। अब गीता का धर्मदर्शन समन्वयात्मक होने के कारण सरल नहीं माना जायगा और अनेक टीकाओं की आवश्यकता रहने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक मत को मान्यता नहीं प्राप्त हो सकती है। गीता में ईश्वरवाद, रहस्यवाद, एकत्ववाद इत्यादि अनेक धाराओं का सन्तुलन देखने में आता है। इन अनेक धाराओं में गीता में एकशिलावाद की भी झलक मिलती है।

---

१. वही, पृ० ३४९।

२. Friedrich Heiler, **Ibid**, p. 115.

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥—९ : २३ ॥

अर्थात्, हे अर्जुन ! जो भक्त श्रद्धा से दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी मुझे ही अविधिपूर्वक पूजते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥—९ : २५ ॥

अर्थात्, देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते और मेरे पूजनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं ।

इसी प्रकार ४ : ११, ६ : ३०-३१, ७ : २०-२३ से सिद्ध होता है कि अन्य सभी देवता निम्नतर श्रेणी के हैं और श्रीकृष्ण भगवान् ही पूर्ण हैं । इसलिए क्यों नहीं केवल एक पूर्ण ईश्वर की पूजा की जाय ?

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।—१८ : ६६ ॥

परन्तु सामान्य रूप से भारतीय धर्मदर्शन को सर्वेश्वरवादी, एकत्ववादी, रहस्यवादी कहा जायगा, न कि एकशिलावादी ।

एकशिलावादी सिद्धान्त के प्रति भी वही आपत्ति उठायी जा सकती है जो एकाधिपत्यवादी सिद्धान्त के विरोध में उठायी गयी है । यदि सब धर्म अपने को श्रेष्ठ मानने लगें तो इनके बीच कौन निबटारा करेगा ? इसलिये अब हम एकधर्मतत्त्वसिद्धान्त की व्याख्या करेंगे ।

एकधर्मतत्त्वसिद्धान्त (Essentialist Theory)

अभी तक हमलोग धर्मविशेषों की ही चर्चा कर रहे थे । परन्तु एकधर्मतत्त्वसिद्धान्त के अनुसार केवल एक तत्त्व है जो सभी धर्मविशेषों में सामान्य रूप से पाया जाता है । इसलिए, इस मत के अनुसार, एक **सामान्य** धर्मतत्त्व है जिसकी तुलना में अन्य सभी **धर्मविशेष** स्थानीय आकस्मिकताएँ हैं । यह मत वेद, उपनिषद् तथा अद्वैतवेदान्त में पाया जाता है और इसे विशेषतया राधाकृष्णन् ने लोकप्रिय बना दिया है । भगवानदास राधाकृष्णन् के समान दार्शनिक नहीं हैं, लेकिन इनके मत को भी धर्मतात्त्विक ही पुकारा जायगा । चूँकि भगवानदास का मत सरल है, इसलिए इसकी व्याख्या पहले की जायगी ।

भगवानदास के अनुसार, किसी भी धर्मविशेष को अनिवार्य नहीं माना जा सकता । धर्मों की इस परिहार्यता से दो निष्कर्ष स्थापित किये जा सकते हैं, अर्थात्—

(क) सभी धर्मों को असत्य मानकर सबों का निराकरण ।
(ख) सभी धर्मों को आंशिक रूप से सत्य मानकर उन्हें स्वीकार करना ।

भगवानदास दोनों निष्कर्षों को अव्यावहारिक समझते हैं।[1] इसलिए, इनके अनुसार धर्मों के आकस्मिक गुणों को हटाकर उनके सार या तत्त्व को ही खोज निकालना चाहिए।[2] उसी तत्त्व को मूलतत्त्व समझना चाहिए जो अधिकतम धर्मों में पाया जाय या जो सभी धर्मों में स्पष्ट रूप से विद्यमान हो।[3] इस कसौटी के आधार पर उन्होंने अनेक धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया और उनके आधार पर दिखाया कि बाइबिल, क़ुरान, उपनिषद्, शिव-महिमा-श्रुति इत्यादि सभी एक ही ईश्वर, एक ही सत्यता और एक ही धर्म पर जोर देते हैं। भगवानदास के उद्धरणों का यह एक नमूना है—

> वेद, सांख्य, योग, शैव तथा वैष्णव इत्यादि अनेक मत हैं जिन्हें लोग अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न रीति से अपनाते हैं। कोई किसी एक को और कोई दूसरे को उत्तम समझता है। तो भी इन सब मार्गों का तू ही एक लक्ष्यस्थान है। कुछ मार्ग सीधे और सरल हैं और कुछ टेढ़े और कठिन। लेकिन ये सब अनेक नदियों के समान हैं जो एक ही समुद्र में गिरती हैं।[4]

अनेक ग्रन्थों के अनेक उद्धरणों के आधार पर भगवानदास ने यह निष्कर्ष स्थापित किया है—

> सत्य सर्वव्यापक होता है और इस पर किसी जाति या गुरु का एकाधिपत्य नहीं माना जा सकता है; जो अवास्तविक है वह देश, काल तथा स्थिति-विशेषों से उत्पन्न होता है। सामान्य मूलसत्यताओं को ईश्वर ने विभिन्न धर्मपुस्तकों में, विभिन्न भाषाओं में, विभिन्न जातियों में उत्पन्न व्यक्तियों के द्वारा प्रकाशित किया है।[5]

भगवानदास का उद्देश्य बहुत ऊँचा था। वे चाहते थे कि सभी धर्मों के बीच शान्ति एवं समन्वय स्थापित किया जाय। इस दिशा में उनका प्रयास श्लाघ्य माना जायगा। परन्तु दार्शनिक कसौटी पर भगवानदास का प्रयास छिछला और अधूरा कहा जायगा। केवल यही कहना पर्याप्त नहीं है कि सभी धर्मों में अन्तर्निहित एक ही सत्य अथवा ईश्वर है। ईसाई मत का ईश्वर प्रेमी है जो त्याग और दुःख झेलकर प्रेमलीला प्रदर्शित करता है; इस्लाम का ईश्वर न्यायाधीश है जो करुणा और दया के साथ न्याय करता है और फिर अनेक धर्मों—जैसे जैन तथा हीनयान बौद्धधर्म—में ईश्वर को स्थान ही

---

१. Bhagwandas, **The Essential Unity of All Religions**, p. ४९.

२. वही, पृ० ४९।

३. वही, पृ० ४८, ५१-५२।

४. वही, पृ० ५३।

५. वही, पृ० ५६।

नहीं दिया गया है। अब इन तीनों धर्मों को ही ध्यान में रखकर कैसे कहा जाय कि सभी धर्मों में एक ही ईश्वर की पूजा की जाती है ? यदि ईसाई धर्म के ईश्वर से त्यागमय प्रेम को, इस्लाम के अल्लाह से करुणा एवं दयामय न्याय को तथा जैनियों से अनीश्वर-वाद को हटा लिया जाय तो धर्म का कुछ भी अंश नहीं रह जाता या सामान्य तत्त्व की खोज में हम धर्म को ही खो देते हैं। यदि विशिष्टता को हम संरक्षित रखना चाहें तो धर्मों की रक्षा होती है लेकिन सामान्यता विनष्ट हो जाती है और यदि हम विशिष्टता को त्यागकर सामान्य तत्त्वों को स्थापित करना चाहते हैं तो धर्मविशेष ही लुप्त हो जाते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि सामान्य धर्म, धर्म नहीं कहा जा सकता है। यह धर्मों का अधिदर्शन (meta-philosophy) कहा जायगा।

फिर, भगवानदास ने सामान्य तत्त्वों की बात कही है, लेकिन इन तत्त्वों की कहीं परिगणना नहीं की है और न इनकी कहीं सूची बतायी है। उन्होंने कभी सूफीमत तथा उपनिषदों की दुहाई दी है तो कभी शैव तथा वैष्णव मतों का उल्लेख किया है। लेकिन सूफी तथा औपनिषदी एकता रहस्यवादी है, न कि उपासनामूलक। रहस्यवादी सामान्य तत्त्व को अमूर्त गिना जायगा, न कि मूर्त अथवा वास्तविक। फिर शैव तथा अन्य मतों की एकता के सम्बन्ध में बताया गया है कि मार्ग अनेक हैं लेकिन इनका लक्ष्यस्थान एक ही हो सकता है। जैसे, किसी पहाड़ की चोटी पर पहुँचने के अनेक रास्ते हो सकते हैं, पर क्या सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है ? ईसाई स्वर्ग को पवित्र धाम समझकर प्राप्त करना चाहते हैं, बौद्ध निर्वाण प्राप्त करना चाहते हैं, सांख्य कैवल्य और जैन सर्वज्ञता इत्यादि। क्या ये सभी एक समान गतियाँ हैं ?

असल में मार्ग तथा लक्ष्यस्थान की उपमा भ्रामक भी है। इस उपमा के अनुसार मार्गयात्रा की विभिन्नता का प्रभाव लक्ष्यस्थान पर नहीं पड़ता है। पर, क्या यह बात धर्म के सम्बन्ध में सही कही जायगी ? धार्मिक लक्ष्य, धार्मिक अनुष्ठान, क्रियाकलाप, उपासना इत्यादि से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है। वैदिक लोग यज्ञादि से स्वर्गप्राप्ति, ज्ञानी ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मप्राप्ति तथा प्रेमी भक्तिमार्ग से भगवान् को प्राप्त करते हैं। अतः, सभी मार्गों का लक्ष्यस्थान एक नहीं हो सकता।

दूसरी बात है कि जैसा भक्त होगा वैसा ही उसका भगवान् भी होगा और जैसा भगवान् होगा वैसा ही भक्त। तात्पर्य यह कि ईसा के पदचिह्नों पर चलनेवाले के लिए भगवान् प्रेमी और क्षमाशील तथा इस्लाम के माननेवाले के लिए उसका अल्लाह यहूदियों के याहवे से भिन्न दिखाई देगा। ईसा के मार्ग पर चलने से ईसाई के व्यक्तित्व का जो रूप बनेगा वह यहूदियों के मार्ग पर चलने से उत्पन्न व्यक्तित्व से सर्वथा भिन्न होगा। अतः विभिन्न मार्गों पर चलने से धार्मिकों में भी उतनी ही विभिन्नता पायी जायगी जितनी विभिन्नता उनके मार्गों में देखी जाती है। अब यदि विभिन्न मार्गों पर

चलने से विभिन्न धार्मिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है तो विभिन्न व्यक्तियों का लक्ष्य भी विभिन्न दिखेगा। लक्ष्य को व्यक्ति की दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं किया जा सकता। चूंकि भगवानदास लक्ष्यों का सामान्यीकरण और मार्गों का विशेषीकरण करते हैं, इसलिए वे समझते हैं कि मार्गों की अनेकता को मानते हुए भी लक्ष्यस्थान की सामान्यता स्थापित की जा सकती है। लेकिन भगवानदास के सिद्धान्त में वस्तुतः दृष्टिभेद का दोष चला आता है।

यदि हम मान भी लें कि मार्ग अनेक हैं और उनका लक्ष्यस्थान एक ही है तो भी भगवानदास के एक धर्मतत्त्व का सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता है। यहाँ हम कह सकते हैं कि धर्म अनेक हैं और सभी निरपेक्षतया सापेक्ष हैं। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने संस्कार के अनुरूप अपना धर्म ग्रहण कर अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यहाँ धर्म की एकता नहीं, बल्कि अनेकता एवं सापेक्षता निरपेक्ष रूप से मान ली जा सकती है। यह मत भी भारतीय सिद्धान्त है और इसकी व्याख्या बाद में की जायगी। कम से कम, गीता के दो श्लोकों से धर्म की अनेकता को मानते हुए भी धर्म की एकता का पक्ष स्पष्ट किया जा सकता है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। —१८ : ४५ ॥

अर्थात्, अपने-अपने कर्म में तत्परायण होकर व्यक्ति अपनी सिद्धि को प्राप्त करता है।

साथ ही साथ स्पष्ट लिखा है कि अपना कर्मक्षेत्र अन्य व्यक्तियों के कर्मक्षेत्र की तुलना में हीन होते हुए भी अच्छा अर्थात् अपनाने योग्य है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥—१८ : ४७ ॥

अतः, हम इस निष्कर्ष पर आये कि भगवानदास के एकधर्मतत्त्वसिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। पर क्या राधाकृष्णन् का एकधर्मतत्त्वसिद्धान्त तर्क-संगत है?

राधाकृष्णन् का एकधर्मतत्त्वसिद्धान्त

राधाकृष्णन् अद्वैतवेदान्ती हैं। अद्वैतवाद के अनुसार, वास्तविक घटनाएँ व्यावहारिक रूप से ही सत्य हैं। पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर केवल एक निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म ही सत्य प्रतीत होता है। व्यावहारिक जीवन के लिए ईश्वर भी सत्य मालूम होता है और लोग उसकी पूजा करते हैं। परन्तु अन्तिम रूप से ईश्वर भी असत्य ठहरता है और एक ब्रह्म ही सत्य रहता है। लेकिन जब तक अन्तिम दृष्टि नहीं प्राप्त होती है तब तक ईश्वर ही सत्य माना जाता है; ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, पालक और संहारक समझा जाता

है। ईश्वर की उपासना अन्तिम रूप से सत्य नहीं कही जा सकती है, पर ईश्वरोपासना व्यर्थ नहीं मानी जायगी। ईश्वर की उपासना करने से हमारी बुद्धि परिष्कृत होती है, हमारा विवेक विमल बनता है और अन्त में हमारी शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि हमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर अन्य सभी सत्ताएँ—जिसमें ईश्वर भी एक सत्ता है—फीकी मालूम पड़ने लगती हैं, अन्य सभी प्रकाश धूमिल पड़ जाते हैं, अन्य सभी उदात्त गुण निम्नश्रेणिक प्रतीत होने लगते हैं। परन्तु जब तक ब्रह्मज्ञान प्राप्त न हो जाय तब तक के लिए ईश्वरपूजा मानव के हित अनिवार्य साधन है। अब हम किस देवी-देवता को अपना आराध्य देव मानें? यह प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार पर निर्भर करता है कि कौन देवी-देवता उसके चित्त पर चढ़ता है। परन्तु जिस किसी भी देवी-देवता की पूजा हम तन, मन और धन से करेंगे, उसीसे हमें ब्रह्मप्राप्ति में पूरी सहायता मिलेगी।

> कोई एक नाम पर और कोई दूसरे नाम पर ध्यान लगाता है। उनमें से कौन उत्तम है? सभी अतीत, अमर, देहहीन ब्रह्म के प्रमुख द्योतक हैं। ये नाम ध्यानयोग्य और स्तुत्य हैं, लेकिन अन्त में त्याज्य हैं; क्योंकि इनके द्वारा उच्चतर से उच्चतर स्तर प्राप्त किया जाता है, लेकिन जब अन्तिम लक्ष्य प्राप्त होता है तो एक अद्वैत पुरुष को ही पाया जाता है।[1]

फिर गीता के ३ : ११ पद पर टीका करते हुए राधाकृष्णन् ने बताया है कि विभिन्न उपासनाओं के आधार पर हम अपनी अन्तरस्थ आत्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं।[2] इसलिए, राधाकृष्णन् के लिए सभी धर्म सापेक्षतया सत्य हैं। परन्तु हमें अन्त में यह भी मान लेना चाहिए कि सब धर्म मिथ्या भी हैं क्योंकि अन्त में हमें सब देवी-देवताओं से परे जाकर केवल एक निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करना है। इसलिए केवल एक ब्रह्म सत्य है और इसे राधाकृष्णन् 'सर्वोच्च आत्मा' नाम से पुकारते हैं। इनके लिए अन्य सभी धर्म इस सर्वोच्च आत्मा के विभिन्न रूप हैं। इनके अनुसार, केवल एक सर्वोच्च आत्मा की सत्ता है जिसे लोग नाना नाम और विभिन्न रूप देकर पूजते हैं। राधाकृष्णन् के एकधर्मतत्त्वसिद्धान्त के दो मुख्य निष्कर्ष हैं—

१. केवल सर्वोच्च आत्मा का ही एक धर्मतत्त्व है।
२. अन्य सभी धर्म सापेक्षतया सत्य हैं।

---

१. S. Radhakrishnan, **Fragments of a Confession in The Philosophy of Sarvapalli Radhakrishnan**, Edited by P. Schilpp, p. 78.

२. S. Radhakrishnan, **The Bhagavadgita**, p. 158.

साथ ही साथ उन्हें यह भी स्पष्टतया कहना चाहिए कि सभी धर्म अन्तिम रूप से असत्य हैं। गौण रूप से आप यह बात कहते हैं, क्योंकि सभी धर्मों को आप सापेक्ष कहते हैं और उन्हें सर्वोच्च धर्म की तुलना में आकस्मिकतापूर्ण बताते हैं। परन्तु राधाकृष्णन् स्पष्ट रूप से पहले दो ही निष्कर्षों को बार-बार दुहराते हैं। राधाकृष्णन् के लिए प्रथम निष्कर्ष ही अनिवार्य है क्योंकि अन्य धर्मों की सापेक्षता एवं अनेकता भी एकधर्मतत्त्व की स्थापना से सिद्ध होती है। इसका क्या प्रमाण है कि एक ही धर्मतत्त्व है जिसे 'सर्वोच्च आत्मा' संज्ञा दी जा सकती है? कहीं-कहीं राधाकृष्णन् की युक्ति असम्बद्ध एवं विषयेतर प्रतीत होती है। यथा—

> विश्व की आध्यात्मिक एकता का तिरस्कार करना और धर्मों की विभिन्नता को अधोरेखित करना दार्शनिकतया अनुचित, नैतिकतया अरक्षणीय तथा सामाजिकतया आपत्तिजनक है।[1]

यदि राधाकृष्णन् ने दार्शनिक रीति से सर्वोच्च आत्मा की एकमात्र सत्ता स्थापित की है तो उसे तत्त्वमीमांसात्मक कहा जायगा। परन्तु समसामयिक विचारधारा के अनुसार शायद ही कोई तत्त्वमीमांसात्मक युक्तियों को वैध माने और यदि तत्त्व-मीमांसात्मक युक्तियों को सार्थक मान भी लिया जाय तो इनके आधार पर अन्य तत्त्व-मीमांसात्मक दृष्टियों का खण्डन नहीं हो सकता। अतः अद्वैतवेदान्ती युक्तियों के आधार पर ब्रह्मप्राप्तिमूलक धर्म को एकमात्र सत्य और अन्य सभी धर्मों को मिथ्या कहना अयौक्तिक प्रतीत होता है। लेकिन मूल प्रश्न है: क्या सभी धर्मों में अन्तर्निहित कोई एक तत्त्व है? फिर, क्या इस तत्त्व की उपासना की जाती है?

अपने मत की पुष्टि के लिए राधाकृष्णन् ने बताया है कि हीनयान तथा प्रारम्भिक बौद्धधर्म में भी एक आत्मा की सत्ता मानी गयी है। परन्तु शून्यवाद को ब्रह्मवाद में परिणत करने का काम बहुत कम विचारक कर सकते हैं। यदि शून्यवादी बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम, टोटमवाद इत्यादि धर्मों को ध्यान में रखा जाय तो क्या हम कह सकते हैं कि इन सबमें एक सर्वोच्च आत्मा की सत्ता अन्तर्निहित है? परन्तु राधाकृष्णन् कह सकते हैं कि ईसाई देश-काल तथा अन्य स्थितियों से प्रभावित होकर इस निराकार सर्वोच्च आत्मा को प्रेममय ईश्वर समझते हैं और यही बात जैनियों, बौद्धों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के साथ लागू होती है। लेकिन यदि ईसाई, जैन, बौद्ध इस आरोप को अस्वीकार करें तब क्या होगा? यदि वे कहें कि जिस प्रकार राधाकृष्णन् सर्वोच्च आत्मा को अपने धर्म का विषय मानते हैं उसी प्रकार हम ईसा, तीर्थङ्कर, अल्लाह इत्यादि को यथार्थ मानते हैं, तो राधाकृष्णन् इसका क्या प्रत्युत्तर दे सकते हैं? यदि सर्वोच्च आत्मा

१. **Fragments, P. 73.** इसकी पुनरावृत्ति **Recovery of Faith, pp. 197-198** पर की गयी है।

का कोई धर्म है तो वह भी सभी धर्मों के समकक्ष गिना जायगा। ऐसी दशा में किसी एक धर्म को सत्य और अन्य सभी धर्मों को असत्य कहना असहिष्णुता तथा कठोरपंथीपन का परिचायक है। आप अपने को उदार दिखाते हुए भी वस्तुतः एकाधिपत्यवाद को ही अपनाते हैं।

परन्तु राधाकृष्णन् कह सकते हैं कि सर्वोच्च आत्मा का धर्म सामान्य तथा सर्वव्यापक है और अन्य सभी धर्म विशिष्ट महत्त्व के हैं। पर यही दावा तो गलत है। कौन ऐसा प्रचलित धर्म है जो अपने को संकीर्ण, सीमित तथा आकस्मिक मानता है ? इसलिए अन्य सभी धर्मों को सापेक्ष एवं विशिष्ट कहकर तथा सर्वोच्च आत्मा के धर्म को सामान्य बताकर आपने धर्मसमन्वय नहीं स्थापित किया है।

लेकिन अपनी प्रतिरक्षा के लिए राधाकृष्णन् एक रास्ता और निकाल सकते हैं। वे कह सकते हैं कि उनका धर्मदर्शन सभी धर्मों के उपयुक्त है। उनके कथन अधिधर्मशास्त्रिक (meta-theological) हैं, न कि धर्मशास्त्रिक। यह सम्भव है। लेकिन इस दशा में उनकी युक्तियाँ दार्शनिक मानी जायँगी और उनके सिद्धान्त को धर्म नहीं कहा जायगा। इसलिए कहना पड़ेगा कि सर्वोच्च आत्मा के सम्बन्ध का विचार धर्म नहीं, बल्कि दर्शन है। हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अधिकांश भारतीय विचारकों ने अद्वैतवेदान्त के धर्मदर्शन को धर्म नहीं, बल्कि 'अतिधर्म' (Super-religion) संज्ञा दी है।

इसलिए सर्वोच्च आत्मा के धर्म को समान्य एवं सर्वव्यापक कहना असंगत है। यदि यह सभी धर्मों का तत्त्व है तो यह धर्म नहीं (क्योंकि यह तत्त्वमीसांसातमक तत्त्व हुआ) और यदि यह धर्म है तो यह सभी धर्मों का तत्त्व नहीं हो सकता (क्योंकि तब यह भी अन्य सभी धर्मों के समान एक धर्म हो जाता है)। परन्तु राधाकृष्णन् अनेक स्थलों पर तात्त्विक धर्म की चर्चा न कर सभी धर्मों के प्रति सहानुभूति दिखाते हैं। इनका कहना कि अन्तिम सत्यता के प्रति लोगों की विभिन्न दृष्टियाँ हो सकती हैं। परन्तु हमलोगों को व्यक्ति की निष्ठा का आदर करना चाहिए, क्योंकि राधाकृष्णन् का कहना है कि निष्ठा का सर्वोच्च विषय निष्ठा की स्वयं आत्मा है।[1]

> हिन्दुत्व की आध्यात्मिक चमक, यहूदीत्व की श्रद्धापूर्ण आज्ञाकारिता, यूनानी पैगनवाद का कलापूर्ण जीवन, बौद्धधर्म की विशाल करुणा, ईसाई धर्म के ईश्वरीय प्रेम का पाठ तथा इस्लाम की महाप्रभु के प्रति आत्मसमर्पण की आत्मा आदि विभिन्न परम्पराएँ हैं जो एक ही सत्ता की विभिन्न प्रतिमाएँ

१. S. Radhakrishnan, **Eastern Religion and Western Thought**, p. 338.

हैं और इन दृष्टियों के मेलजोल तथा पारस्परिक आदान-प्रदान से मानव-जाति की बहुपटी पूर्णता प्राप्त हो सकती है।[1]

क्या इन विभिन्न धार्मिक दृष्टियों का 'आलिङ्गन' तथा सामञ्जस्य हो सकता है? क्या ईश्वर को क्षमाशील प्रेम, करुणामय दया तथा असहिष्णु विधाता (यहूदीत्व) एक साथ कहा जा सकता है? फिर क्या एक साथ ही परमसत्ता को अनीश्वर, साकार, ईश्वर, निर्विकार ब्रह्म इत्यादि नामों से पुकारा जा सकता है? परन्तु, यदि कहा जाय कि विभिन्न धर्म एक ही धार्मिक तत्व को विभिन्न नाम से पुकारते हैं, तो इसका अभिप्राय होता है कि इन धर्मों में अन्तर्निहित दृष्टियाँ अवास्तविक हैं। यदि ये विभिन्न धार्मिक दृष्टियाँ अवास्तविक हों तो इनके सामञ्जस्य से क्या लाभ? फिर इनसे मानव-जाति का बहुपटी विकास कैसे हो सकता है? परन्तु, यदि इन विभिन्न दृष्टियों को हटा दिया जाय तो क्या कोई धर्मविशेष संरक्षित रह पाता है? यदि ईसाई धर्म से ईसा की जीवनी, शिक्षा तथा मृत्यु को हटा दिया जाय तो ईसाई धर्म में बचता ही क्या है? यदि इस्लाम से अल्लाह-विचार, पैग़म्बर मुहम्मद साहब, क़ुरान इत्यादि को हटा दिया जाय तो इस्लाम में क्या शेष रह जाता है? अतः यदि विभिन्न धार्मिक दृष्टियाँ सही मान ली जायँ तो इनका तर्कसंगत समाहार नहीं हो सकता और यदि इनकी विभिन्नता को गौण तथा आकस्मिक कहकर ठुकरा दिया जाय तो सभी परम्परागत धर्मों का विलयन हो जाता है।

अतः, हम राधाकृष्णन् के एकधर्मतत्त्व के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार कर सकते हैं। हम यह नहीं कह सकते हैं कि सभी धर्मों में अन्तर्निहित एक निरपेक्ष सत्ता है। इसलिए हम किसी भी धर्म को, सर्वोच्च आत्मा के धर्म को भी निरपेक्षतया सत्य नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः राधाकृष्णन् की उक्तियों से गौण रीति से ध्वनित होता है कि सभी धर्मों की सापेक्षता तथा अनेकता निरपेक्ष रूप से सत्य है। कोई एक धर्म निरपेक्ष नहीं है, बल्कि सभी धर्मों की सापेक्षता एवं अनेकता निरपेक्ष है। अब हम इस अन्तिम मत की व्याख्या करेंगे।

धर्मों की सापेक्षता तथा अनेकता की निरपेक्षता

व्यक्ति एक रूप के नहीं होते हैं। वे विभिन्न वर्गों में बँटे रहते हैं। उनकी मानसिक रचना तथा कार्यवाही भी विभिन्न हुआ करती है। जो बात आधुनिक मनोविज्ञान में कही गयी है वह भारतीय दर्शन में भी कही जाती थी। भारतीय परम्परा के अनुसार, चूँकि व्यक्तियों के कर्मसंस्कार विभिन्न होते हैं, इसलिए व्यक्ति भी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिए देवी-देवता भी विभिन्न होते हैं। प्रत्येक का वही देवी-देवता सच्चा है जो उसके हृदय का स्पर्श करता है तथा उसे अनुप्राणित करने में समर्थ होता है। जो

१. **Fragments**, p. 76.

देवता किसी एक प्रकार के संस्कार अथवा वर्ग के लिए सच्चा होता है, वह सम्भवतः अन्य व्यक्तियों के लिए वैसा नहीं भी हो सकता है। भक्त-भगवान्, पुजारी-देवता सापेक्ष हुआ करते हैं।

लोग प्रायः समझते हैं कि ईश्वर भी उसी प्रकार का तटस्थ पदार्थ होता है जिस प्रकार वैज्ञानिक वस्तुएँ होती हैं। हम समझते हैं कि अणु तथा सभी वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक नियम वैज्ञानिक-निरपेक्ष होते हैं। 'वैज्ञानिक-निरपेक्ष' का अभिप्राय है कि वैज्ञानिक की इच्छा अथवा उसके व्यक्तित्व की छाप उसकी वैज्ञानिक खोज में नहीं पायी जाती है। परन्तु ठीक इसके विपरीत धर्मज्ञान में होता है। जैसा हमारा व्यक्तित्व होगा वैसा ही हमारा देवता भी होगा क्योंकि हमारे देवता में हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण प्रकाशन रहता है। इस लिए जितने प्रकार के व्यक्ति होंगे उतने ही प्रकार के देवी-देवता भी होंगे। चूँकि व्यक्ति अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिए धर्मों की अनेकता अथवा सापेक्षता निरपेक्षतया सत्य मानी जायगी।

फिर, प्रत्येक भक्त में अपने देवी-देवता के प्रति निष्ठा होती है जिसके कारण वह अपने इष्ट देवता को सत्य मानता है और अन्य सभी देवताओं के प्रति श्रद्धाहीन हो जाता है। इसी श्रद्धाहीनता के कारण एक धर्म का पुजारी अन्य धर्मों को हेय दृष्टि से देखता है।

अब यदि धर्म अनेक हों और फिर यदि किसी की एक धर्म के प्रति निष्ठा रहे तथा अन्य सभी धर्मों के प्रति अश्रद्धा, तो धर्मों के बीच अन्तर्गोष्ठी कैसे होगी, उनके बीच एकता कैसे स्थापित की जायगी ? यह ठीक है कि इन धर्मों के बीच कुछ सामान्य तत्त्व अवश्य ही होना चाहिए जिनके आधार पर धर्म समन्वय हो सके अथवा विभिन्न धर्मों के बीच वार्तालाप स्थापित किया जा सके। इस तत्त्व को निर्गुण, निर्विकार तथा अनिर्वचनीय इत्यादि नामों से पुकारा गया है। लेकिन इस तत्त्व को धार्मिक पूजा अथवा ज्ञान का साक्षात् विषय नहीं कहा जा सकता है। यह वह परदा है जिस पर देवी-देवता के प्रतीक आरोपित किये जाते हैं। बिना प्रतीकों के धर्म नहीं हो सकता है और केवल छूछे परदे की शून्यता पूज्य वस्तु नहीं हो सकती है। हाँ, यद्यपि छूछा परदा पूज्य वस्तु नहीं होता, तो भी बिना इसके न प्रतीक होंगे और न धर्म। इसलिए यह रंगहीन, निर्गुण परदा सामान्यता प्रदान करता है जिसके आधार पर धर्मों के बीच एकता स्थापित हो सकती है। यदि हम परदे की अनिवार्यता समझ लें और हमें धर्मों की प्रतीकमयता का ज्ञान हो जाय तो इस ज्ञान को प्राप्त कर धर्मों के बीच अन्तर्गोष्ठी (inter-dialogue) सम्भव हो सकती है। यदि सभी धर्म प्रतीक हों तो किस प्रतीक को हम सत्य समझेंगे और किसे असत्य ? प्रतीक न सत्य होते हैं और न असत्य। वे या तो हमारे चित्त पर चढ़े होते हैं या हमें फीके लगते हैं; वे या तो हमें अनुप्राणित करते हैं या उनके प्रति हम उदासीन रहते हैं; वे या तो हमारे लिए मुदमंगलकारी होते हैं या अमंगलकारी। यदि

ऐसी बात हो तो क्यों किसी धर्म को एकमात्र सत्य समझ कर तथा अन्य सभी धर्मों को असत्य समझकर हम आपस में झगड़ पड़ेंगे ?

फिर यदि व्यक्ति को ज्ञात हो जाय कि धर्म निष्ठा का विषय है, न कि वैज्ञानिक जानकारी का, तो वह समझ जायगा कि सभी को एक-दूसरे की निष्ठा का आदर करना चाहिए। लेकिन निष्ठा बौद्धिक ज्ञान नहीं है; इसे आत्मबन्धन एवं आत्मसमर्पण कहा जा सकता है। आत्मबन्धन में भाव एवं अचेतन वृत्तियाँ ही प्रधान रहती हैं और संज्ञानात्मकता (cognitiveness) कम। ईसाई की निष्ठा ईसा में है और रामभक्त की राम में। इसी प्रकार अन्य धर्मावलम्बियों की निष्ठा अन्य इष्ट देवताओं में होती है। जिस प्रकार हम अपनी निष्ठा का समादर करते हैं—क्योंकि इसके द्वारा हमें जीवन में शक्ति एवं उत्प्रेरणा प्राप्त होती है—उसी प्रकार अन्य व्यक्तियों का जीवन भी उनकी अपनी निष्ठा से ही सम्पूर्ण होता है। इसलिए यदि सभी एक-दूसरे की धार्मिक निष्ठा का समादर करेंगे तो वे सर्वमुक्ति अथवा सर्वकल्याण कर पायेंगे। यदि हम एक-दूसरे की निष्ठा का समादर न करें तो आपसी धार्मिक कलह के कारण अपनी निष्ठा का भी पालन नहीं कर पायेंगे। अतः, अज्ञान के कारण ही धार्मिक निष्ठा को संज्ञान समझकर हम आपस में झगड़ते हैं और यदि हमें निष्ठा के भावात्मक एवं अचेतन आधार का ज्ञान हो जाय तो आपस में हमारे बीच धार्मिक सद्भाव सम्भव हो सकता है।

अतः, निष्ठा के स्वरूप का श्रवण एवं मनन करना चाहिए। सर्वप्रथम हमें अपने बौद्धिक स्तर पर स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति का धर्म उसकी निष्ठा पर निर्भर करता है और यह निष्ठा प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, संस्कृति तथा उसकी मानसिक बनावट एवं रचना पर निर्भर करती है। इसलिए सभी धर्मों को विनष्ट कर किसी एक धर्म की स्थापना मानव के साथ बलात्कार करने के बराबर होगी। सभी धर्मों के समादर से धर्म-सौहार्द या धर्म का संयुक्त राष्ट्र स्थापित हो सकेगा। ऐसा करने पर एक-दूसरे की निष्ठा के कारण अच्छाई में आगे बढ़ जाने अथवा जीवन को मूल्यवान् बनाने के लिए स्पर्धा का भाव बढ़ेगा जिसके कारण प्रत्येक धार्मिक अपनी अनुभूति को परिपूर्ण कर पायेगा। अतः, धर्मों का सम्मिश्रण नहीं, बल्कि उनकी सहभागिता ही वांछनीय होगी। यही कारण है कि महात्मा गाँधी ने कहा है—

> 'जैसा मैं गीता पर विश्वास रखता हूँ वैसा ही मैं बाइबिल में विश्वास रखता हूँ। मैं अपने ही धर्म के समान विश्व के सभी महान् धर्मों को मानता हूँ। किसी धर्म विशेष को उसके ही अनुयायियों द्वारा उपहसित देखकर मुझे बड़ा दुःख होता है।[1]'

प्रश्न है कि कैसे अन्य सभी धर्मों को ऐसा समझा जाय कि उससे लोगों को धार्मिक ज्ञान की परिपूर्णता प्राप्त हो।

अन्य धर्मों को समझने के लिए विभिन्न धर्मावलम्बियों के सम्प्रत्यय (दृढ़ विश्वास),

---

१. **Eastern Religion, p.** 313.

आत्मबन्धन एवं अस्तित्ववाची निर्णयों में पैठना होगा। इन निष्ठाओं में प्रवेश के लिए विभिन्न धर्मपन्थियों की आँखों से देखना होगा, कविहृदय रखकर उनकी निष्ठा में प्रविष्ट होना पड़ेगा। क्या यह सम्भव हो सकता है ? क्या ईसाई हिन्दू धर्म को हिन्दू के समान समझ सकता है या बौद्ध ईसाई धर्म को ईसाई के समान प्रेम, भक्ति तथा श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है ? यह बात जनसाधारण के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रायः वह अपने धर्म को प्रेम तथा निष्ठा से देखता है और यदि अन्य धर्मों को उपेक्षाभाव से नहीं भी देखता हो तो उनके प्रति तटस्थ रहता है। लेकिन रामकृष्ण परमहंस ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अनेक धर्मों को उनकी उपयुक्त निष्ठादृष्टि से देखा और उन्हें एक समान ही उपादेय पाया। यद्यपि रामकृष्ण परमहंस जैसा होना या कबीर के समान समदर्शी होना कठिन है, तो भी हम अन्य धर्मों की निष्ठा एवं आत्मबन्धन को समझने के लिए सहानुभूति एवं दृष्टियों की सहभागिता प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ अनुशासित कल्पना की नितान्त आवश्यकता पड़ जाती है। अनुशासित कल्पना, सहानुभूति तथा धर्मों को निष्ठा-प्रधान समझकर हमें अन्य सभी धर्मों की तह तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रयास का मुख्य क्रम होगा कि हम अन्य धर्मों को सुनने की चेष्टा करें। यद्यपि हम समझें कि हमारा ही धर्म एकमात्र सच्चा है, तो भी दूसरे धर्मों की सुनें। इससे धीरे-धीरे अन्य धर्मों के प्रति हमारा आदर बढ़ेगा और सभी धर्मों के प्रति आदरभाव उत्पन्न हो जाने पर पारस्परिक आवेष्टिवता (अर्थात् आदर्शों के प्रति आवेष्टन, उलझन, लगाव) बढ़ेगा[1] और अन्त में आध्यात्मिक दौड़ में हम सब एक-दूसरे को आगे बढ़ाते हुए बढ़ते जायँगे। यह है सर्वमुक्ति का पाठ। यह होगा सच्चा धर्मसमन्वय।

यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि धर्मसमन्वय का पाठ कहीं ऊँची कल्पना तो नहीं है ? जहाँ धर्म के नाम पर धर्मावलम्बियों के बीच इतना भेदभाव बना हुआ है, वहाँ क्या वे एक-दूसरे की बात सुन सकते हैं ? क्या प्रत्येक मन्दिर को गुरुद्वारा, मस्जिद तथा गिरजाघर समझा जा सकता है ? जहाँ अभी भी अछूतों को मन्दिर में प्रवेश की पूरी छूट नहीं है वहाँ क्या मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध इत्यादि को आमंत्रित कर उनके मत को जानने की उत्सुकता हो सकती है ? इस सन्दर्भ में ड्यूवी, मार्क्सवादी तथा मानवतावादी का कहना है कि परम्परागत धर्मों के आधार पर एकता सम्भव नहीं हो सकती है और न इन धर्मों को विज्ञान, जनतंत्र और प्रजातंत्र के युग में समीचीन समझा जा सकता है। इनके अनुसार, परम्परागत धर्मों का ऐसा स्वरूप ही है कि इनसे फूट फैले और वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार में बाधाएँ तथा उलझनें प्रस्तुत की जायँ। इसलिए, इन विचारकों के अनुसार, मानवतावाद ही ऐसा धर्म अथवा समाजदर्शन है जिसके द्वारा विश्व-एकता, वैज्ञानिक ज्ञानप्रसार तथा मानवमूल्यों का संरक्षण, संवर्द्धन तथा प्रचुर वितरण सम्भव हो सकता है। अतः, अब हम मानवतावाद का उल्लेख करेंगे।

१. Huston Smith, **The Religions of Man**, 1958, p. 312.

अध्याय : १४

मानवतावाद

(Humanism)

विषय प्रवेश

धर्मों की अकूटता, आप्तता तथा सापेक्षता मान लेने से हमें इनकी संज्ञानात्मकता को छोड़ना पड़ता है। उसी प्रकार जब हम सभी धर्मों के सहास्तित्व का नारा बुलन्द करते हैं तब हम फिर असाक्षात् रीति से धर्मों की असंज्ञानात्मकता के निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। इसका कारण है कि संज्ञानात्मकता में विविधता एवं अनेकता नहीं पायी जाती है। उदाहरणार्थ, गुरुत्वाकर्षण तथा वंशपरम्परा के नियमों में अनेकता एवं विविधता का कहीं स्थान नहीं है। संज्ञानात्मक व्यापार में निश्चितता तथा मतैक्यता रहनी चाहिए और ये लक्षण धर्मों में नहीं पाये जाते हैं। धर्मों के सम्बन्ध में मुख्य शर्त यही है कि इनमें तथ्यों के साथ अधिक-से-अधिक सामंजस्यपूर्णता हो और इनके अपने प्रकथनों में तर्कसंगति हो। मानवतावादी का यहाँ दावा है कि मानवतावाद ही एक धर्मदर्शन है जो सभी तथ्यों के अनुकूल है और जो इतना तर्कसंगत है कि इसे विश्वधर्मदर्शन की संज्ञा दी जा सकती है।

मानवतावाद के विविध रूप

मानवतावाद अति प्राचीन मत है। चीन, भारत और यूनान के आदिविचार में मानवतावाद पाया जाता है। कन्फ्यूसीयसवाद तथा ताओवाद में मानवतावाद है और बौद्धधर्म के आदिरूप को भी 'मानवतावाद' संज्ञा दी जाती है। यूनानी विचारकों ने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास को मानव-जीवन का चरमलक्ष्य माना था। इसलिए यूनानी शिक्षण में शारीरिक व्यायाम के साथ गणित एवं दर्शन को पाठ्यक्रम में रखा जाता था।

अतिसामान्य रूप से मानवतावाद को वह विचारधारा बताया जा सकता है जिसके अनुसार मानव-हितों को प्रमुख माना जाता है। इन मानव-हितों को या तो आधिदैविक शक्तियों के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है या इन अलौकिक शक्तियों से उत्प्रेरणा प्राप्त किये बिना मानव अपने ही श्रम से इन्हें प्राप्त कर सकता है। पुनः, इन हितों को या तो पार्थिव माना जा सकता है या आध्यात्मिक। इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर मानवतावाद का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है।
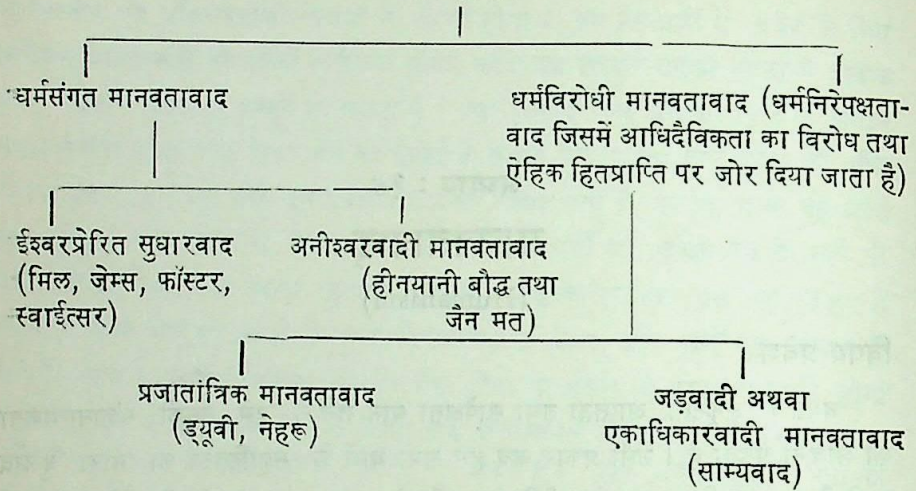
वर्तमान युग में मानवतावाद को 'प्रकृतिवादी एवं वैज्ञानिक' संज्ञा दी गयी है जिसमें किसी भी प्रकार की अलौकिकता तथा आधिदैविकता को स्थान नहीं दिया गया है।

धर्माश्रित मानवतावाद :

यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्म में निःसहायों की मदद कर सामाजिक स्तर के उठाने पर पर्याप्त बल दिया गया है। पर इन धर्मों में पारलौकिकता को भी स्वीकृत किया गया है और प्रायः पारलौकिक आशाओं के नाम पर ऐहिक हितों की अवहेलना भी की गयी है। बाद में चलकर बीसवीं शताब्दी में ईसाई विचारकों ने ऐहिक सुख पर अधिक जोर दिया, परहित तथा मानव-दुःख-निवारण को धार्मिक पूजा का आवश्यक एवं सच्चा अंग माना। इस मत को उन्नीसवीं शताब्दी में कॉम्ते तथा जॉन स्टुअर्ट मिल ने 'सुधार-वाद' (ameliorism) संज्ञा दी थी। इससे प्रभावित होकर बीसवीं शताब्दी में विलियम जेम्स तथा अल्बर्ट स्वाईत्सर ने मानव-दुःखों के निवारण तथा मानव-हितों के संवर्द्धन को धार्मिकता का मुख्य अंग माना। फिर जी० बी० फॉस्टर ने मानव-हितों को जीवन का चरम उद्देश्य माना। परन्तु, फॉस्टर के अनुसार, मानव की दशा इतनी गिरी हुई है कि बिना ईश्वरीय प्रेरणा के न तो वह अपना हित समझ सकता है और न वह अपना विकास कर सकता है। अतः, सामान्य रूप से धर्माश्रित मानवतावाद के अनुसार ईश्वर की सहायता, उसके प्रसाद तथा उसकी उत्प्रेरणा प्राप्त करके ही मानव अपने हितों का संरक्षण, संवर्द्धन तथा चरितार्थन कर सकता है। धर्माश्रित मानवतावाद में न तो आधि-दैविकता की सम्पूर्णतया अवहेलना की जाती है और न मानव-हितों को केवल ऐहिक सुखों में सीमित समझा जाता है। ये दोनों बातें अपनी रीति से भारतीय आध्यात्मिक मानवता-वाद में पायी जाती हैं।

बौद्धधर्म के हीनयानी मत तथा जैनधर्म में बताया गया है कि बिना किसी दैवी शक्ति की सहायता के मानव अपना चरम विकास कर सकता है। परन्तु इन मतों में मानवहित को ऐहिक न मानकर सम्पूर्णतया आध्यात्मिक माना गया है। फिर मुक्तिप्राप्ति के साधन तथा दुःखनिरोध मार्ग को शायद ही सामयिक वैज्ञानिक परम्परा के अन्तर्गत माना जाय। अतः, भारतीय आध्यात्मिक मानवतावाद अनीश्वरवादी अवश्य है, परन्तु इसका लक्ष्य जड़वादी तथा पार्थिव न होकर आध्यात्मिक कहा जायगा। इसके विपरीत, जॉन ड्यूवी का मत है। आप धर्मनिष्ठता (religiousness) को अभिवांछनीय समझते हैं, परन्तु परम्परागत धर्मों की आधिदैविकता तथा विज्ञानविरोधिता को भ्रमपूर्ण मानते हैं।

आधिदैविकता विरोधी मानवतावाद

इटली में चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में मानवतावाद का नारा लगाया गया था। इस मानवतावाद में वहाँ के परम्परागत ईसाई धर्म का विरोध नहीं किया गया, परन्तु इसमें दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जिनसे आगे चलकर प्रकृतिवादी मानवतावाद को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। ये दो सिद्धान्त हैं नागरिक दायित्व और धर्मसहिष्णुता। इस युग के मानवतावाद का नारा था कि धर्मों को चाहिए कि वे व्यक्तियों के नागरिक जीवन एवं राजनीतिक क्षेत्र में उत्प्रेरणा प्रदान करें। धार्मिक सहिष्णुता का अभिप्राय था कि धर्मों के बीच समयोचित व्यावहारिक मेल स्थापित किया जाय। इस सहिष्णुतावाद में दो बातें अन्तर्निहित हैं। इनका विश्वास था कि आधिदैविक परम्परागत धर्म कभी भी एक धर्म का रूप नहीं ले सकते हैं। इसलिए, इनके अनुसार, उन धर्मों के बीच धर्मसहिष्णुता ही एकमात्र शान्ति का उपाय हो सकती है। परन्तु इनका यह भी विश्वास था कि सभी धर्मों में एक ही मूल आधार अन्तर्निहित है और इसी के द्वारा विश्व धर्म सम्भव हो सकता है। इस एक मानवतावादी विश्वधर्म की चर्चा बीसवीं शताब्दी में विशेष रूप से होने लगी है।

आधिदैविकताविरोधी मानवतावाद उग्र रूप में सन् १९३३ के मई महीने के घोषणा-पत्र से प्रारम्भ होता है। यह वह समय था जब बेकारी और मन्दी से यूरोप-अमेरिका की व्यावसायिक, औद्योगिक आदि सभी आर्थिक व्यवस्थाएँ बिगड़ गयी थीं। उस समय अमेरिका के कुछ धर्मविचारकों को बोध हुआ कि ईश्वर मानव की सहायता नहीं कर सकता है; इसके विपरीत स्वयं मानव अपनी बुद्धि तथा रचनात्मक शक्तियों द्वारा अपनी सहायता कर सकता है। कई सभाओं के फलस्वरूप ईसाई मत के एक व्यक्तिवादी[1]

---

१. एक व्यक्तिवादी (unitarian) ईसाई विचारक पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के त्रि-एकत्व को ईश्वर न मानकर केवल एक 'पिता' को ईश्वर मानते हैं। वे ईसा मसीह को केवल एक मानव समझते हैं।

सम्प्रदाय ने धर्म विरोधी मानवतावाद का नारा लगाया और सन् १९३३ के मई में निम्न-लिखित घोषणापत्र प्रकाशित किया—

> मानवतावाद का कहना है कि आधुनिक विज्ञान द्वारा स्थापित ब्रह्माण्ड के स्वरूप से किसी प्रकार की आधिदैविकता अग्राह्य सिद्ध होती है और विश्व के द्वारा मानवमूल्यों की कोई गारण्टी हमें नहीं मिल सकती है। धर्म को चाहिए कि वह अपनी आशाओं और योजनाओं को विज्ञान की आत्मा और उसकी विधियों के प्रकाश में प्रस्तुत करें।
>
> धर्म उन प्रक्रियाओं, उद्देश्यों एवं अनुभूतियों से विरचित होता है जो मानव के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। धर्मनिष्ठ के लिये कोई भी मानव-वस्तु त्याज्य नहीं प्रतीत होती है। इसके अन्तर्गत श्रम, कला, दर्शन, विज्ञान, मैत्री, मनोरंजन सम्मिलित हैं—अर्थात् वह सब जो किसी भी अंश में मानवजीवन को सतोष प्रदान करता है। धर्मपरायणता और धर्मनिरपेक्षता के अन्तर को नहीं निबाहा जा सकता है।
>
> मानवतावाद का लक्ष्य है कि एक स्वतंत्र विश्वव्यापी समाज की स्थापना की जाय ताकि सभी लोग स्वतंत्र रहकर बौद्धिक स्तर पर सामान्य हित के लिए सहयोग देवें। मानवतावाद की माँग है कि इस सर्वसामान्य विश्व का समान अधिकार का जीवन हो।

सम्भवतः, इसी मानवतावादी घोषणापत्र से प्रभावित होकर ड्यूवी ने सन् १९३४ में **ए कॉमन फेथ** नामक पुस्तक में प्रकृतिवादी मानवतावाद को प्रस्तुत किया जिसकी यहाँ संक्षिप्त व्याख्या दी जायगी।

जॉन ड्यूवी का प्रकृतिवादी मानवतावाद

ड्यूवी के अनुसार, सर्वव्यापक एवं सामान्य धर्म का प्रत्यय ही वृथा है। धर्म केवल विशिष्ट रूप में ही हो सकते हैं। इसलिए किसी भी धर्म के द्वारा विश्व में एकता नहीं स्थापित की जा सकती है। परन्तु सभी धर्मों के पालन में एक सामान्य अभिवृत्ति (ऐटिट्युड) पायी जाती है जिसे 'धर्मनिष्ठता' (रिलिजसनेस) संज्ञा दी जा सकती है। धर्म-निष्ठता किसी भी धर्म एवं आदर्श के पालन में देखी जाती है। धर्मनिष्ठता अथवा धर्म-परायणता स्वस्थ एवं अभिवांछनीय मनोवृत्ति है जिसे व्यक्तियों में जगाये रहना चाहिए। धर्मपरायणता अनेक प्रकार से उत्पन्न होती है : कभी महान् उद्देश्य के आह्वान में, कभी कवितापाठ के गुंजन के फलस्वरूप और कभी दार्शनिक चिन्तन की गहनता से भी धर्म-निष्ठता उभर पड़ती है। स्पिनोज़ा ऐसे व्यक्ति के उदाहरण हैं जिनमें अमूर्त्त विचारों के आलोड़नों से ही धर्मनिष्ठता जाग उठी थी।[1] धर्मनिष्ठता का सम्बन्ध किसी कार्य को

---

१. का० फे०, पृ० १४।

सम्पादित करने के लिए संकल्प-विशिष्टता से नहीं है; इसका विषय सम्पूर्ण संकल्पशक्ति है। यह जीवन के किसी एक क्षेत्र विशेष को नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीवन को अनुप्राणित करती है।[1] ड्यूवी के अनुसार, किसी भी उच्च आदर्श के प्रति जागरूक होने पर धर्म-निष्ठता उत्पन्न हो जाती है—

> किसी सामान्य एवं शाश्वत मूल्य के प्रति दृढ़ विश्वास के हेतु बाधाओं तथा व्यक्तिगत हानि-भय के रहते हुए भी आदर्श लक्ष्य के प्रति अनुक्रियाशीलता को धर्मनिष्टता का गुण पुकारा जाता है।[2]

पहले लोग समझते थे कि धर्मनिष्ठता केवल परम्परागत धर्मों के ही द्वारा उत्पन्न हो सकती है और फिर, ड्यूवी के अनुसार, इन धर्मों में आधिदैविक शक्तियों की दुहाई दी जाती है। परन्तु आधिदैविक शक्तियों में विश्वास का आधार क्या है ? इसका आधार है आश्चर्यजनक घटनाएँ, जिन्हें अलौकिक शक्तियों के द्वारा उत्पन्न कहा जाता है। परन्तु वर्तमान युग में विलक्षण घटनाओं तथा चमत्कारी स्थितियों को अलौकिक शक्तियों की अविश्वसनीय करामात समझा जाता है। विज्ञान के युग में अलौकिक शक्तियों में विश्वास का जमना कठिन हो गया है। इसलिए, ड्यूवी के अनुसार, वर्तमान युग में आधिदैवि-कतामूलक धर्म के आधार पर धर्मनिष्ठता का टिकाये रहना कठिन है।

आधिदैविकता समय के प्रतिकूल तो है ही, लेकिन इसे त्यागने का एक दूसरा भी कारण है। ड्यूवी के अनुसार, परम्परागत आधिदैविकता से लकीरपंथी-विभाजक नीतियों को प्रोत्साहन मिलता है। आधिदैविकता के पोषक धर्मपरायण और धर्मनिरपेक्ष प्रक्रियाओं के बीच भेद बनाये रखते हैं और धर्मनिरपेक्ष प्रक्रियाओं को प्रोत्साहित न होने के लिए दबाव डालते रहते हैं।[3] ड्यूवी का कहना है कि इस कथन की पुष्टि ईसाई धर्म के इतिहास से होती है। इसमें मुक्त और पापी, भेड़ और बकरी, दास और चुने हुए का अन्तर किया जाता है।[4] फिर आधिदैविकता के कारण स्वयं व्यक्ति में ही विभाजन हो जाता है।

विलक्षण घटनाओं की शरण लेकर आधिदैविकता में लोगों का विश्वास दृढ़ किया जाता है; उदाहरणार्थ, प्राणशक्ति का स्वरूप, इसकी प्रजनन-प्रक्रिया इत्यादि। चूँकि अभी तक विज्ञान निर्जीव पदार्थ से जीव को नहीं उत्पन्न कर सका है, इसलिए आधि-दैविकतापोषक बताते हैं कि ईश्वर ने जीवों की सृष्टि की है और उससे ही सम्पूर्ण

---

१. वही, पृ० १७।

२. वही, पृ० २७।

३ .वही, पृ० ६६।

४. वही, पृ० ८४।

ब्रह्माण्ड का संचालन होता है। परन्तु घटनाओं की विलक्षणता की शरण बहुत दिनों तक नहीं ली जाती है। ज्ञानवृद्धि के साथ अनेक घटनाओं को—जिन्हें लोग विलक्षण समझते थे—विज्ञान स्पष्ट करता जा रहा है। यहाँ तक कि मानव आज चन्द्रमा पर भी पहुँच गया है, जिसे कुछ ही वर्षों पूर्व लोग असम्भव समझते थे। ऐसा होने पर भक्त प्रायः विज्ञान को शंकित नेत्रों से देखते आये हैं। प्रारम्भ में धर्म के नाम पर विज्ञानप्रसार के प्रति विरोध भी हुआ था। परन्तु वर्तमान समय में एक दूसरी आशंका उठ आती है। स्वयं भक्त का ही जीवन दो विरोधी धाराओं में विभाजित हो जायगा। दैनिक जीवन में विज्ञान का हाथ इतना अधिक हो गया है कि किसी की भी आस्था विज्ञान के प्रति दृढ़ होती जायगी। दूसरी ओर विलक्षणता की शरण लेकर ईश्वर के प्रति भी भक्तों की आस्था बनी रहेगी। इस प्रकार भक्तों का जीवन दो आत्मविरोधी आस्थाओं में बँट जायगा। ऐसी अवस्था में किस प्रकार व्यक्ति का एकीकरण सम्भव होगा ? पर, क्या हम विज्ञान का विरोध कर सकते हैं ?

विज्ञान हमारे जीवन में निश्चितता प्रदान करता है। इसके आधार पर घटनाओं का पूर्वकथन तथा नियंत्रण होता है जिससे जीवन का अभियोजनकार्य सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थ, धर्म प्रार्थना के द्वारा वर्षा उत्पन्न कराना सिखाता है और इससे केवल अनिश्चित ही परिणाम निकलता आया है। इसके विपरीत वैज्ञानिक विधि की मदद लेकर खाद, सिंचाई, उत्तम बीज इत्यादि के द्वारा उपज निश्चित रीति से बढ़ायी जा सकती है। फिर, धर्म बराबर वैज्ञानिक नियोजन का विरोध करता रहा है। परिवार-नियोजन का ही उदाहरण ले लें। भारत में धर्म की ही दुहाई देकर परिवारनियोजन में कठिनाई आ रही है। इस प्रकार धर्मतंत्र के प्रचार हो जाने से एक ही देश के लोग हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख इत्यादि आपस में लड़ते रहते हैं। इसी धर्म के नाम पर यहूदी और मुसलमान, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान आपस में लड़ते आ रहे हैं। अतः आधिदैविकता के आधार पर विभाजक नीतियों को प्रोत्साहन मिलता आ रहा है।

लेकिन क्या उन मूल्यों को ठुकराया जा सकता है जिनके आधार पर व्यक्ति और समाज में एकीकरण और व्यवस्था उत्पन्न होती है ? ड्यूवी एकीकरण को विशेष स्थान देते हैं और इसे ही वे सच्चे धर्म का एकमात्र आदर्श समझते हैं—

> मेरे अनुसार धर्म वह है जो व्यक्ति का एकीकरण उन सर्वग्राही आदर्श लक्ष्यों के द्वारा करता है जिन्हें कल्पना प्रस्तुत करती है और जिनके प्रति मानव-संकल्प अपनी अभिलाषाओं और वरणों को नियंत्रित करने के योग्य समझकर अनुक्रियाशील होता है।[1]

---

१. का० फे०, पृ० ३३।

इस परिभाषा के विश्लेषण पर ड्यूवी के द्वारा परिभाषित मानवतावाद में निम्न-लिखित तत्त्व स्पष्ट दीखते हैं—

१. जीवन का आदर्श लक्ष्य सम्पूर्ण एवं सर्वग्राही होना चाहिए, अर्थात् इसके अन्तर्गत सभी घटताओं, सभी वस्तुओं और सभी मूल्यों को समाविष्ट रहना चाहिए। यदि 'आदर्श लक्ष्य' संकीर्ण होगा तो उसे 'धर्म-लक्ष्य' संज्ञा नहीं दी जायगी।

२. फिर इस सर्वसम्पूर्ण लक्ष्य को कोरी बुद्धि से नहीं, आधिदैविक प्रकाशन एवं श्रुति से नहीं, बल्कि मानव अपनी रचनात्मक कल्पना से प्राप्त करता है। यह रचनात्मक कल्पना प्रकृति की यथार्थ घटनाओं में निहित रहती है। अतः, ड्यूवी के अनुसार, मानवतावादी धर्म प्रकृतिवादी होता है।

३. मानव आदर्श मूल्यों से अनुप्रेरित होता है। यदि वह केवल पाशविक वृत्तियों से संचालित हो तो उन वृत्तियों में निहित लक्ष्य को धार्मिक नहीं माना जायगा। अतः, ड्यूवी का मानवतावाद मूल्याधृत है। इसलिए 'धर्म' संज्ञा के लिए कल्पना से रचित आदर्श लक्ष्यों को इतना मूल्यमय होना चाहिए कि मानव की सम्पूर्ण संकलपशक्ति अनुप्राणित हो जाय, अर्थात् उसकी सभी क्रियात्मक वृत्तियाँ उदात्त होकर सम्पूर्णतया उभर पड़ें।

४. अन्त में, आदर्श लक्ष्य को इतना पूर्ण होना चाहिए कि इसके द्वारा मानव की सम्पूर्ण शक्तियाँ उद्घाटित हो सकें। इसलिए आदर्श की शरण लेकर प्रत्येक मानव अपना चरम विकास, चरम प्रकाशन एवं अभ्युदय कर सकेगा। यह तभी हो सकता है जब मानव की अनेक वृत्तियाँ सामंजस्यपूर्ण होकर क्रियाशील होती रहें। सभी वृत्तियों की इस सामंजस्यपूर्ण क्रियाशीलता का नाम व्यक्तित्व का चरम विकास तथा एकीकरण है। अतः सम्पूर्ण वास्तविकता से अनुप्रेरित होकर मानव की सम्पूर्ण शक्तियों के पूर्णतया विकास से मानव का आत्मविकास होना चाहिए।

अतः ड्यूवी के प्रकृतिवाद में परम्परागत धर्मों में निहित मूल्यों की पूर्ण संरक्षा की गयी है। अन्तर इतना ही है कि ड्यूवी प्रकाशन-श्रुति के स्थान पर रचनात्मक कल्पना की मदद लेते हैं, आधिदैविकता को त्यागकर प्रकृतिवाद को अपनाते हैं और आधिदैविक मरणोत्तर जीवन से पराङ्मुख होकर ऐहिक जीवन को सुधारने की सलाह देते हैं। पहले ही बताया जा चुका है कि ड्यूवी आधिदैविकता को विज्ञानविरोधी एवं विभाजक मानकर इसे छोड़ने की सलाह देते हैं। इसके विपक्ष में यथार्थता पर अवलम्बित रचनात्मक कल्पना को अपनाने के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

१. कल्पना मानव-मति में निहित अवश्य है लेकिन रचनात्मक होने के लिए इसे यथार्थता की शरण लेनी चाहिए। नहीं तो यह कोरी कल्पना हो जायगी। अब यदि रचनात्मक कल्पना यथार्थता पर आधृत हो तो यथार्थता में अन्तर्निहित रहने के लिए इसे

उस विधि की मदद लेनी चाहिए जिससे यथार्थता का ज्ञान प्राप्त हो जाय। प्रकृति की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक विधि एकमात्र विश्वसनीय विधि है। इसलिए, ड्यूवी के अनुसार, मानवतावादी का विज्ञानपोषी होना अनिवार्य है।

२. चूँकि यथार्थता में निहित रहने के लिए वैज्ञानिक विधि को अपनाना अनिवार्य होता है और चूँकि वैज्ञानिक विधि स्वयं मानव को अपनी ही रचनात्मक शक्तियों पर निर्भर रहती है, इसलिए मानवतावाद के अनुसार व्यक्ति और समाज को मानव का विधाता कहा जा सकता है। चूँकि प्रकृति एक ही है और मानवशक्ति से निस्सृत विज्ञान-विधि भी एक ही है और फिर चूँकि इस प्रकृति पर आधिपत्य सभी मानवों की वैज्ञानिक-प्रक्रियाओं के सहयोग से प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए ड्यूवी का मानवतावाद विश्व-समाज की कल्पना करता है। नकारात्मक रीति से, ड्यूवी के अनुसार, स्वर्गप्राप्ति की लिप्सा छोड़ देनी चाहिए और मानव को चाहिए कि परस्पर सहयोग के आधार पर वह मानव-कल्याण के हेतु अपनी योजनाओं को प्रश्रय दे।

३. ड्यूवी रचनात्मक कल्पना की रचनात्मकता पर इसलिए भी जोर देते हैं कि वे इसे स्वतंत्र मानव की स्वतंत्र इच्छा का स्फुरण मानते हैं। बाहरी दवाव तथा अन्तर्द्वन्द्व एवं आन्तरिक संघर्ष के रहने पर कल्पना की रचनात्मकता थोथी हो जाती है। इसलिए ड्यूवी के अनुसार, स्वतंत्र मानव को अपने स्वतंत्र निर्णय से प्राप्त आदर्श से उत्प्रेरित होकर इस विश्व को स्वतंत्र मानवसमाज का कर्मक्षेत्र बनाना चाहिए। अतः ड्यूवी जनतंत्र के पोषक हैं और विश्वव्यापी जनतंत्रों के संघ की कल्पना करते हैं।

चूँकि ड्यूवी मानवतावादी हैं इसलिए वे मानव के सभी सांस्कृतिक व्यापारों को प्रश्रय देते हैं। कला, ज्ञान, शिक्षा, सहभागिता, प्रेम, मैत्री इत्यादि सभी मानवमूल्यों का आप हार्दिक स्वागत करते हैं। हाँ, पर आप सभी मानवमूल्यों को ऐहिक समझते हैं। इनके अनुसार, मानव-आदर्श कहीं भी पहले से साकार नहीं माना जा सकता है और न इसे कोरी कपोलकल्पना कहा जा सकता है। सच्चा आदर्श मानवसमाज एवं प्रकृति से मेल खाता है और वह मानवशक्तियों को उत्प्रेरणा के द्वारा उन्मुक्त कर सम्बद्ध तथा साकार रूप धारण करता है। आदर्श की इस प्रकृतिरूपता (अर्थात् प्रकृति के प्रति अनुकूलता) से ड्यूवी इतने अनुप्रेरित हो गये कि आप इसे 'ईश्वर' संज्ञा देने लगे। यहाँ हमें याद रखना चाहिए कि परम्परागत धर्म आधिदैविकता पर इतना अधिक जोर देते हैं कि वे प्रकृति की अवज्ञा, उसके प्रति पराङ्मुखता का रुख प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत, ड्यूवी प्रकृतिवादी हैं और प्रकृति को मानव का पुनीत कर्मक्षेत्र समझते हैं। पर क्या प्रकृति को मानव-आदर्श के अनुकूल माना जा सकता है? यहाँ ड्यूवी और उनके समकालीन मानवतावादी फ्रायड में कुछ विरोध देखने में आता है। फ्रायड के अनुसार, प्रकृति मानव के लिए अग्नि-तूफान, बाढ़-सूखा तथा मरण-सन्देश प्रस्तुत कर मानव के

हृदय में भय का संचार करती रहती है। इसके विपरीत, ड्यूवी का मत है कि प्रकृति केवल उत्पीड़क नहीं होती। प्रकृति मानव को चुनौती देती रहती है उसकी शक्तियों को उभारती रहती है और उसकी वृत्तियों का उदात्तन और उसका सतत उद्बोध करती रहती है। प्रकृति के प्रति अनुक्रियाशील रहकर ही मानव में चरित्र, विवेक, ज्ञान, शिक्षण तथा मूल्यों का विकास हुआ है।[1] प्रकृति के प्रति आराधना-भाव से ओतप्रोत होकर ड्यूवी ने अपने उद्गार को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> धार्मिक अभिवृत्ति के लिए आवश्यक है कि जिस विश्व को कल्पना एक व्यवस्थित ब्रह्माण्ड समझती है और जिससे मानव चारों ओर से घिरा हुआ है उस विश्व के साथ मानव का सम्बन्ध निर्भरता एवं अवलम्ब का होना चाहिए। यथार्थ और आदर्श की इस एकता को 'ईश्वर' या 'ईश्वरीय' संज्ञा देकर मानव अपने को नैराश्य या अवज्ञा के भाव से संरक्षित रख सकता है जो (विश्व से) पार्थक्यभावना से उत्पन्न होते हैं।[2]

ड्यूवी के अनुसार, प्रकृतिवादी धर्मपरायणता उस सत्यता को मान्यता देती है जिसे केवल विज्ञान ही स्थापित कर सकता है और फिर यह प्रजातंत्र की नींव को इसके प्रति पूर्ण आस्था उत्पन्न करके पक्का करती है।[3] फिर, ड्यूवी के अनुसार प्रजातंत्र का नैतिक महत्त्व इसी में है कि इसके आधार पर स्वतंत्र विश्वराष्ट्र की स्थापना हो।[4] इस स्थल पर **ए कॉमन फेथ** की अन्तिम पंक्तियाँ अति मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं जिन्हें पढ़ने के बाद शायद ही कोई पाठक अप्रभावित रह सकता है—

> आदर्श उद्देश्य, जिनमें हमारी निष्ठा है, वे न तो मरीचिकाएँ हैं और न डगमगानेवाली विडम्बनाएँ। ये आदर्श हमारे पारस्परिक अनुकूल सम्बन्ध तथा इन सम्बन्धों में निहित मूल्यों के द्वारा ही साकार होते हैं। आज हम जो जीवित हैं, उस मानवता के अंग हैं जो सुदूर भूतकाल तक फैली है और जो प्रकृति के प्रति अनुक्रियाशील रही है। सभ्यता की वे वस्तुएँ जिन्हें हम मूल्यवान् समझते हैं, सब हमारी रचनाएँ नहीं हैं : वे उस अविच्छिन्न मानव-समाज की कृतियों एवं दुःखवहन के प्रसाद से उत्पन्न हुई हैं जिस समाज की हम एक कड़ी हैं। हमारा दायित्व है कि जिन मूल्यों की विरासत हमने प्राप्त की है उनका संरक्षण, परिशोधन, संचारण एवं संवर्द्धन करें ताकि हमारे

---

१. का० फे०, पृ० ५६।

२. वही, पृ० ५३।

३. **The philosophy of John Dewey**, Edited by **P.A. Schilpp**, 1950, **p.** 595.

४. वही, पृ० ५९७।

> बाद आनेवाली पीढ़ी उन्हें हमारी तुलना में अधिक ठोस एवं सुरक्षित, अधिक व्यापक रीति से सुलभ्य और अधिक मात्रा में समान रूप से वितरित पाये। धार्मिक विश्वास के ये वे तत्त्व हैं जिन्हें किसी सम्प्रदाय, वर्ग या जाति में सीमित नहीं किया जायगा। इस प्रकार का विश्वास गौण रीति से सर्वकाल से मानवजाति का सामान्य विश्वास रहा है। इसे स्पष्ट कर इसे क्रान्ति का रूप देना शेष रह गया है।[1]

ड्यूवी के अनुसार, इस विभ्रान्त, अनिश्चित तथा विक्षिप्त युग के लिए इस प्रकार का सन्देह नितान्त आवश्यक है।[2]

ड्यूवी की अनुप्रेरणा प्राप्त कर लामोण्ट ने मानवतावाद की सुव्यवस्थित व्याख्या की है। इसलिए लामोण्ट की व्याख्या को संक्षेप में यहाँ लिखा जा सकता है।

कॉर्लिस लामोण्ट का मानवतावादी विश्वदर्शन :

लामोण्ट के अनुसार, मानवतावाद समस्त मानवजाति का विश्वदर्शन है जो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के व्यक्तियों और उनकी असंख्य सन्तानों के दार्शनिक एवं नैतिक मार्ग दर्शन में समर्थ हो सकता है।[3] इनके अनुसार, दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि वह मानव-व्यापार में निहित उद्देश्यों, समस्याओं तथा आदर्शों का विश्लेषण और उनका स्पष्टीकरण करे; इसलिए दर्शन का उद्देश्य है कि वह विज्ञान, समाजशास्त्र तथा अन्य अध्ययनों के आधार पर विश्वदृष्टि प्रस्तुत करे। अतः, विविध तथा अनेक दृष्टियों को क्रमबद्ध व्यवस्था में लाये बिना दर्शन सम्भव नहीं हो सकता है और व्यवस्थित रहने पर ही यह मानव को अभीष्ट मूल्यों के प्रति उत्प्रेरित करने में समर्थ हो सकता है।[4] फिर, ड्यूवी की भाँति लामोण्ट कहते हैं कि सच्चा दर्शन वह है जो जीवन की आहुति से सींचा जाता है और फिर दार्शनिक को अपने विचारों की गहनता तब तक नहीं प्राप्त होती जब तक वह अपने दर्शन को अपने प्राणों की बाजी लगाकर मानने को तैयार नहीं होता है।[5] इस मत की पुष्टि के लिए लामोण्ट, ईसा, सुकरात ब्रूनो, स्पिनोज़ा इत्यादि के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लामोण्ट के इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि मान-

---

१. का० फे०, पृ० ८७।
२. वही, पृ० ५१।
३. **दी फिलॉसफी ऑव ह्यूमैनिज्म**, विज़न प्रेस, १९६२; पृ० २३, ६६।
४. वही, पृ० ४-५।
५. "Indeed, no man has a philosophy worthy of the name or has achieved full stature as a human being unless he is willing to lay down his life for his ultimate principles."—p. 6.

वतावाद के प्रति दार्शनिक को प्रतिबद्ध होना चाहिए। परन्तु हमलोगों ने आदर्श के प्रति कटिबद्धता को 'धर्मपरायणता' संज्ञा दी है; अतः लामोण्ट के मानवतावाद को 'धर्म' संज्ञा दी जायगी।

लामोण्ट के अनुसार, मानवतावाद तर्कसंगत रूप से प्रकृतिवादी एवं विज्ञानवादी ही हो सकता है क्योंकि मानवतावाद के लिए प्रकृति ही एकमात्र सत्ता है जिसका मानव एक अभिन्न अंग है और जिसमें आधिदैविकता का लेशमात्र नहीं है। यही एक दर्शन है जो बीसवीं शताब्दी की आत्मा और उसकी आवश्यकताओं के लिए सर्वथा उपयुक्त है, यह मानव जीवन और उसके अस्तित्व की ऐसी सामान्य दृष्टि है जो सभी देशों और जातियों को समष्टिपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है, यह व्यक्तिगत सीमित एवं संकीर्ण अभिरुचियों को कोसों दूर हटाकर उनके स्थान पर व्यापक उद्देश्य और आशाएँ प्रस्तुत कर मानव में अनुद्घाटित सम्भावनाओं को ललकारने की उत्प्रेरणा भर सकता है। मानवतावाद, लामोण्ट के अनुसार, तर्कसंगत रीति से केवल अन्तरराष्ट्रीय सहयोग से समर्थित किया जा सकता है। इसलिए, लामोण्ट के अनुसार, मानवतावाद वह दर्शन है जो सभी जातियों और व्यक्तियों की सुषुप्त सर्जनात्मक शक्तियों को उन्मुक्त कर उन्हें सूत्रीबद्ध करने में समर्थ हो सकता है।[1] अतः,

> बौद्धिक एवं जनतान्त्रिक विधियों का अनुसरण करते हुए समस्त मानव के ऐहिक सुखों की वृद्धि के हेतु सहर्ष सेवा के दर्शन को बीसवीं शताब्दी का मानवतावाद कहा जा सकता है।[2]

इस परिभाषा को ध्यान में रखकर लामोण्ट ने मानवतावाद के इन दस लक्षणों का उल्लेख किया है—

१. मानवतावाद प्रकृतिवादी तत्त्वमीमांसा है जिसमें किसी भी प्रकार की आधिदैविकता को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता है। यह प्रकृति सम्पूर्ण जड़ और उसमें निहित शक्तियों की समष्टि है जो अपने नियमों के द्वारा सञ्चालित होती रहती है।

२. इस विकासात्मक प्रकृति में मानव का भी उद्भव हुआ है। मस्तिष्क के साथ मानव के मन का अवियोज्य सम्बन्ध है और मस्तिष्क के विनष्ट होने पर चेतन प्रक्रियाओं का भी लोप हो जाता है। देह से परे आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारा जा सकता है और इसलिए आत्मा के अस्तित्व पर आधृत मरणोत्तर जीवन की आशा भी भ्रामक है। परन्तु मानवतावाद और जड़वाद के बीच अन्तर है। जड़वाद मन और चेतन को जड़ और देह से अलग समझता है और मन एवं चेतन को महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। लेकिन, मानवतावाद के अनुसार, जड़ और चेतन के बीच प्राकारिक अन्तर नहीं है और फिर इसमें चेतन को भी मान्यता दी जाती है।[3]

---

१. वही, पृ० ८।
२. वही, पृ० ९।
३. जूलियन हक्सले, **एसेज ऑव ए ह्यूमैनिस्ट**, चाटो और विण्डस, १९६४, पृ० ७३।

३. मानवतावाद के अनुसार, मानव को अपनी शक्तियों पर भरोसा रखना चाहिए। अपनी बुद्धि के द्वारा वैज्ञानिक विधि की मदद लेकर मानव अपनी प्रगति कर सकता है और अपनी सुषुप्त एवं अनुद्घाटित शक्तियों का विकास कर सकता है।

४. मानवतावादी आशावादी होता है। उसके लिए आधिदैविक शक्तियाँ काल्पनिक समझी जाती हैं। इसलिए मानवतावाद में दैववाद, नियतिवाद एवं पूर्वनियतिवाद को अस्वीकारा जाता है। यह मानव की स्वतन्त्र एवं सार्जनात्मक शक्तियों का पोषक है और मानता है कि मानव अपना ही भाग्यनिर्माता एवं विधाता होता है। मानव की इस पूर्ण स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में इटली-निवासी पीचो (सन् १४६३-१४९४) की उक्ति उल्लेखनीय है। पीचो ने **ओरेशन ऑन दी डिग्निटी ऑव मैन** नामक पुस्तक में बताया है कि आदम की सृष्टि कर ईश्वर ने आदम से कहा--

> मैंने तुम्हें इच्छा-स्वातन्त्र्य प्रदान किया है जिसकी सहायता से बिना किसी रोकटोक के तुम अपना स्वरूप निर्धारित करना। मैंने तुम्हें न स्वर्गीय जीव बनाया है और न पार्थिव, न मरणशील बनाया है और न अमर; मैंने तुम्हें स्वतन्त्र एवं सर्वश्रेष्ठ शिल्पकार बनाया है ताकि तुम अपने को इच्छित साँचे और ढाँचे में ढालो।

यहाँ इकबाल की प्रसिद्ध पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं—

> खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तक़दीर के पहले।
> खुदा बन्दे से खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है॥

मानव को अपना भाग्यविधाता और स्वतन्त्र संकल्पी मान लेने पर मानवतावाद अस्तित्ववादी मानवतावाद का रूप धारण कर लेता है।

५. मानवतावाद नीति एवं आचार को ऐहिक अनुभूतियों और सम्बन्धों पर आधृत तथा उनमें सीमित समझता है। इसका दृढ़ विश्वास है कि बिना किसी जाति, वर्ण और धर्म का विचार किये आर्थिक, सांस्कृति तथा आचारिक सुख, स्वतन्त्रता एवं प्रगतिशीलता का संवर्द्धन मानवजीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है। सामान्य रूप से मानवतावाद धर्म एवं निरीश्वरवाद के प्रति तटस्थता बरतता है। इसलिए मानवतावाद को धर्मनिरपेक्ष कहा जा सकता है। लेकिन आगे चलकर हम देखेंगे कि मानवतावाद और धर्मनिरपेक्षतावाद (सेक्यूलरिज्म) में थोड़ा अन्तर है। धर्मनिरपेक्षतावाद में ईश्वर, धर्म तथा निरीश्वरवाद के प्रति पूर्ण तटस्थता निबाही जाती है। धर्मनिरपेक्षतावाद में भी आधिदैविकता को प्रश्रम नहीं दिया जाता है, परन्तु इसका साक्षात् विरोध नहीं किया जाता है। इसके विपरीत मानवतावाद में आधिदैविकता का पूर्ण विरोध किया जाता है और उसका खण्डन किया जाता है।

६. मानवतावाद के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास तथा अपना हित अन्य व्यक्तियों के कल्याण और परहित के सेवाकार्य के माध्यम से प्राप्त कर सकता है। इसे परम्परागत भारतीय विचारधारा के विपरीत समझना चाहिए क्योंकि उस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज से विमुख होकर समाधि द्वारा अपना पूर्ण विकास कर सकता है। इसके विपरीत, मानवतावाद के अनुसार, बिना लोकसेवा किये व्यक्ति अपनी पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता है।

७. मानवतावाद कला, साहित्य, मनोरञ्जन तथा सभी प्रकार के सांस्कृतिक कार्यों का प्रोत्साहन चाहता है जिससे मानवजीवन सर्वाङ्गपूर्ण तथा सौन्दर्यमय बने। जड़वाद के विपरीत, मानवतावादी दर्शन में मानव-आदर्श और उसके उद्देश्य को भी महत्त्वपूर्ण जीवन का उत्प्रेरक माना जाता है। इसके अनुसार, केवल पाशविक वृत्तियों से ही मानव सञ्चालित नहीं होता है। इनके अतिरिक्त मानव में बुद्धि, विवेक तथा कल्पनाशक्ति भी है जिनके द्वारा मानव की रचनात्मक कृतियाँ सञ्चालित होती हैं।

८. मानवतावाद विश्वव्यापी समाज के हित की योजना प्रस्तुत कर विश्वजनतन्त्र की स्थापना का स्वप्न देखता है ताकि इस विश्वव्यवस्था के आपार पर अमर शान्ति तथा निरन्तर प्रगति प्राप्त की जाय। मानवतावाद का स्वप्न बिना अन्तरराष्ट्रीय सहयोग और कर्मक्षेत्र के नहीं पूरा हो सकता है। साम्यवाद भी मानवतावाद के अन्तर्गत विभिन्न वादों में एक है; मानवतावाद जनतान्त्रिक है और साम्यवाद तानाशाही।

९. चूँकि मानवतावाद में जनतन्त्र, इच्छा-स्वातन्त्र्य तथा वैज्ञानिक विधि को मान्यता दी जाती है, इसलिए इसे राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में पूरी छूट का समर्थक माना जाता है।

१०. मानवतावाद लकीरपंथ से कोसों दूर रहता है। यह मानव को अपनी बुद्धि और उस पर आधृत विज्ञान पर भरोसा रखना सिखाता है। इसलिए यह मानव को सभी वादों, मूल अवधारणाओं तथा मान्यताओं की निरन्तर समीक्षा करना सिखाता है। स्वयं मानवतावाद अपने को इस समीक्षा-कसौटी पर परीक्षित करता रहता है।

मानवतावाद विश्वदर्शन माना जाता है और विश्वव्यापी शान्ति स्थापित करना इसका मुक्य उद्देश्य है। इसके अनुसार, सभी झगड़े और मतभेद शान्तिपूर्ण संगोष्ठी एवं विचारविनिमय के आधार पर दूर किये जा सकते हैं।

मानवतावाद का सम्बन्ध मार्क्सवाद के साथ भी है। इनके बीच दो मुख्य भेद हैं—

१. मार्क्सवाद तानाशाही है। इसके अनुसार, साम्यवादी दल के सदस्यों को छोड़कर अन्य व्यक्तियों को शासन के सम्बन्ध में मत प्रकट करने की छूट नहीं दी जा सकती है। इसके विपरीत, मानवतावाद जनतांत्रिक है। प्रकृतिवादी मानवतावाद मानव को स्वतंत्र जीव समझता है और इसलिए, इसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलनी

चाहिए कि वह अपनी ऐहिक सुख-प्राप्ति, विज्ञान-पोषण तथा स्वतंत्र रचना के लिए ऐसे शासन के पक्ष में मतदान करे जिसमें इन उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके।

२. फिर, मार्क्सवादी जड़वाद मानव-आदर्श और चेतनहीन जड़ के बीच प्राकारिक अन्तर मानता है। ऐसा मान लेने से मानव और प्रकृति के बीच विरोध की भावना जग सकती है। जड़वाद के विपरीत प्रकृतिवादी मानवतावाद के अनुसार जड़ और चेतन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव को भी न केवल जड़ और न केवल चेतन, बल्कि जड़-चेतन अथवा मनोदैहिक मानना चाहिए। मानव-आदर्श प्रकृति में ही निहित हैं और प्रकृति में ही उन्हें साकार किया जा सकता है।

भारतीयों के लिए मानवतावाद इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि भारत का संविधान धर्मनिरपेक्षतावादी है, जो मानवतावाद का ही एक रूप है। चूँकि भारतीय संविधान की नींव नेहरू ने डाली, इसलिए उनके द्वारा प्रणीत धर्मनिरपेक्षतावाद का हमें ज्ञान होना चाहिए।

नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद

नेहरू के अनुसार, इस युग के दो सर्वोच्च आदर्श हैं—मानवतावाद और वैज्ञानिक परम्परा। इन दोनों के समन्वय को 'वैज्ञानिक मानवतावाद' संज्ञा दी जा सकती है।[1] कोंत के समान नेहरू का भी कथन है कि मानवता ही ईश्वर है और समाजसेवा इसका मुख्य धर्मानुष्ठान।[2]

वैज्ञानिक मानवतावाद के अनुसार, भौतिक जड़ की विकासात्मक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप मानव का उद्विकास हुआ है और इसलिए प्रकृति का अंग रहकर, बिना आधिदैविक शक्ति की दुहाई दिये, अपनी ही शक्ति और बुद्धि पर भरोसा रखकर मानव अपना उत्थान और अपनी प्रगति कर सकता है। मानव सर्जनात्मक, समीक्षक एवं प्रगतिशील जीव है। प्रगति के लिए उसे आदर्श की आवश्यकता पड़ती है जिसके अनुशीलन से वह आगे बढ़ सकता है। फिर, मानव सामाजिक जीव होता है। इसलिए किसी सामाजिक व्यवस्था में रहकर लोककल्याण के आदर्श का अनुशीलन कर मानव अपनी अनुद्घाटित सम्भावनाओं एवं शक्तियों का चरम विकास कर सकता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी समाज का अंग होता है, उसी प्रकार कोई एक समाज किसी एक जाति अथवा राष्ट्र की इकाई होता है और फिर इसी प्रकार प्रत्येक जाति तथा राष्ट्र को अन्तरराष्ट्रीय संगठन का अंग होना चाहिए। इस दृष्टि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को किसी एक राष्ट्र का सदस्य रहकर अन्तरराष्ट्रीय आदर्शों का पालन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के समान प्रत्येक राष्ट्र अन्तरराष्ट्रीय संघ का सदस्य होकर पारस्परिक

---

१. **दी डिस्कवरी ऑव इण्डिया**, लन्दन १९६०, पृ० ५२७।
२. वही, पृ० ५२७।

सहयोग के आधार पर अपना विकास कर सकता है और अपनी समस्याओं का समाधान कर सकता है। अन्तरराष्ट्रीय कलह को नेहरू ने अशुभ माना है।

वैज्ञानिक मानवतावाद के सिद्धान्तों के अनुकूल नेहरू राजनीति में अन्तरराष्ट्रीय सहयोग और सहास्तित्व के समर्थक थे, भारत में जनतंत्र के पोषक और इसके विकास के लिए तकनीक और विज्ञान द्वारा राष्ट्रीय औद्योगीकरण के मुख्य कर्णधार थे। इनके अनुसार, मानव केवल प्रकृति की देन ही नहीं है, बल्कि प्रकृति के विकास का मुख्य साधन भी है। इनके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र तथा स्वाधीन है, पर वह आत्मकेन्द्रित इकाई नहीं है। व्यक्ति अपनी परिस्थिति और समाज के प्रति अनुक्रियाशील रहा करता है। इसलिए व्यक्ति को प्रोन्नत होने के लिए राजनीतिक एवं आर्थिक रीति से स्वतंत्र रहना चाहिए। नेहरू ने देखा कि भारतवासी उपनिवेशवादियों, सामन्तवादियों तथा पूँजीपतियों की चालों से जकड़ा हुआ है। उपनिवेशवाद से मुक्त करने के लिए नेहरू ने गाँधीजी के साथ अँगरेजों के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया। फिर भारत के आजाद हो जाने पर सामन्तवाद का अन्त करने की कोशिश की। पटेल का सहयोग प्राप्त कर आपने देशी राज्यों का अन्त किया। पूँजीपतियों से भारतीयों को संरक्षित रखना आसान काम नहीं है। तो भी उन्होंने अनेक धन्धों का राष्ट्रीयकरण किया और फिर अनेक राष्ट्रीय योजनाओं के अन्तर्गत विशाल उद्योगों की स्थापना की। इन कदमों के उठाने में उन्हें भारतीयों का सहयोग मिला। लेकिन वे समझते थे कि भारतीय अपने भाग्य का विधाता तभी हो सकता है जब उसे स्वतंत्र रीति से जनमत का अधिकार प्राप्त हो। इसलिए नेहरू ने स्वतंत्र मतदान का अधिकार प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति को वैधानिक रीति से प्रदान किया। आपके अनुसार, प्रत्येक राष्ट्र का शासन संसदीय (पार्लियामेण्टरी) सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के द्वारा होना चाहिए। इसलिए नेहरू, ड्यूवी तथा लामोण्ट के समान तानाशाही के विरुद्ध जनतांत्रिक स्वतंत्रता के समर्थक थे।

व्यक्ति के समान प्रत्येक राष्ट्र को भी पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह अपना विकास आप कर सके। इसलिए, नेहरू के वैज्ञानिक मानवतावाद के अनुसार, किसी देश के ऊपर दबाव डालना गलत है। यही कारण है कि उन्होंने राष्ट्रों के बीच सहास्तित्व तथा बे-लगाव (निर्बन्धन) की नीति अपनायी। इस नीति के सफल होने में उन्होंने सशस्त्र गुटबन्दियों को रोड़े के रूप में देखा और इसलिए उन्होंने सशस्त्र गुटबन्दियों की निन्दा की। परन्तु निर्बन्धन की नीति को उन्होंने अलगाववाद नहीं माना। वें राष्ट्रों के आपसी सहयोग की नीति को ही सही समझते थे। इसलिए उनकी तटस्थता की नीति गतिशील कही गयी है।

नेहरू लोकोपकारवादी एवं उदार विचारक थे। तो भी आपके मानवतावाद में धर्म तथा ईश्वरवाद का स्थान नहीं देखा जाता है। आपके अनुसार, धर्म परलोकवादी होता

है, न कि ऐहिक। नेहरू को परलोक-विचार रुचिकर नहीं मालूम देता था। पारलौकिक सत्ता की उन्हें चिन्ता न थी। इस संसार के कर्त्तव्य निश्चित करना और उनका पालन ही उन्हें पर्याप्त मालूम देता था।[1] फिर, इनके अनुसार, धर्म, श्रुति एवं इलहाम की दुहाई देकर वैज्ञानिक खोज में अड़चन पहुँचाता है।[2] विश्व-इतिहास की साक्षी देते हुए नेहरू ने बताया है कि धर्म के द्वारा विश्वशान्ति की अपेक्षा युद्ध और कलह का अंश ही अधिक देखने में आता है। नेहरू ने स्वीकार अवश्य किया है कि धर्मों से मानवसंस्कृति में प्रगति अवश्य हुई है। उन्होंने बौद्ध धर्म के विषय में बताया है कि इसके द्वारा जाति-वाद का विरोध किया गया था और यह भी कि बौद्धमत धर्माश्रित मानवतावाद कहा जायगा क्योंकि इसमें देवी-देवता को कोई स्थान नहीं दिया गया है परन्तु धर्मों का उद्देश्य रहा है कि व्यक्तिगत मोक्षप्राप्ति की जाय। यहाँ उल्लेखनीय है कि बोधिसत्त्व-विचार में भी सामूहिक अभ्युदय का सन्देश नहीं है, इस महायान पन्थ में भी एक-एक कर सर्वमुक्ति का सन्देश है, न कि सामूहिक क्रान्ति की शिक्षा। अतः, नेहरू धर्मों को समाजसुधार एवं देशक्रान्ति के लिए अनुपयुक्त समझते थे। यही कारण है कि नेहरू महात्मा गाँधी के दर्शन के प्रति विशेष आस्था नहीं रखते थे।

महात्मा गाँधी धर्म और परलोक में विश्वास रखते थे। उनके लिए प्रत्येक व्यक्ति का आन्तरिक एवं आध्यात्मिक विकास मानव-प्रगति के लिए आवश्यक है। इसके विपक्ष में नेहरू का कहना था कि धर्म की शरण लेकर व्यक्तिगत विकास सम्भव हो सकता है, लेकिन इसके द्वारा सामाजिक उत्थान और देशक्रान्ति सम्भव नहीं हो सकती और समस्त मानवजाति के प्रगतिशील होने के लिए देशक्रान्ति आवश्यक है। फिर, व्यक्ति के समान देश की इकाई ग्राम है। महात्मा गाँधी प्रत्येक ग्राम को स्वावलम्बी बनाकर स्वतंत्र इकाई रखना चाहते थे। इसके विपरीत, नेहरू अधिक-से-अधिक व्यक्तियों, ग्रामों, राष्ट्रों के बीच सहयोग और क्रियात्मक सहकारिता के समर्थक थे। नेहरू के अनुसार, किसी एक ग्राम को स्वावलम्बी तभी किया जा सकता है जब ग्रामवासियों की आवश्यकता को अतिसीमित रूप में रखा जाय। इनके अनुसार, सभ्य जीवन के लिए उद्योग, तकनीक, विज्ञान आदि अति महत्त्वपूर्ण हैं और अनेक राष्ट्रों के सहयोग से ही औद्योगीकरण सम्भव है। इसलिए ग्रामोद्योग के साथ साथ नेहरू ने राष्ट्रीय औद्योगीकरण की विशाल व्यवस्था की है।

यदि नेहरू की आस्था महात्मा गाँधी के समाजदर्शन में न थी तो क्यों नेहरू गाँधीजी को इतने प्रिय थे और क्यों नेहरू महात्मा गाँधी के अनुयायी रहे? महात्मा के व्यक्तित्व में इतना आकर्षण था कि नेहरू बिना उससे प्रभावित हुए नहीं रह पाये। लेकिन दूसरी

---

१. **ग्लिम्सेज ऑव इण्डिया**, भाग १, पृ० ५८।

२. **वही**, भाग २, पृ० ६८१; **डिस्कवरी**, पृ० ११-१२, ५२४; **ऐन ऑटोबायोग्राफी**, पृ० ३७७।

बात थी कि महात्मा गाँधी के अनुसार उद्देश्य की पवित्रता के साथ साधन की भी निर्मलता रहनी चाहिए। शान्तिप्रिय नेहरू को यह 'उद्देश्य-साधन की पवित्रता' अकाट्य सिद्धान्त लगा और नेहरू ने गाँधीदर्शन के इस सन्देश को अपनाया और आजन्म निबाहा।

विज्ञान, तकनीक राष्ट्रीय औद्योगीकरण आदि साम्यवाद के नारे हैं। चूँकि नेहरू ने इन साधनों को अपनाया; इसलिए वे साम्यवाद के बहुत नजदीक थे। अन्तरराष्ट्रीय नीति में भी आप साम्यवादी रूस के साथ साठगाँठ किये हुए थे। आपको साम्यवाद इसलिए प्रिय था कि साम्यवाद में पारलौकिकता की अवज्ञा की जाती है, ऐहिक सुख को प्रश्रय दिया जाता है और मानव की अपनी ही शक्ति पर भरोसा सिखाया जाता है। परन्तु आप साम्यवाद की तानाशाही के विरोधी थे।

नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद उदार तथा सामयिक सन्देश था, पर क्या नेहरू की यह अमरज्योति हमारा मार्गदर्शन कर रही है ? खेद के साथ मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिक मानवतावाद का आलोक नेहरू-निधन के पूर्व ही अन्धकार के गर्भ में विलीन हो चुका था। इसके क्या कारण हैं ? नेहरू का दर्शन बुर्जुआ दर्शन है जिसमें बुद्धि को भावसंवेग तथा अनुप्रेरणाओं की तुलना में प्रधानता दी जाती है। यह समाज के मध्यवर्गी व्यक्तियों का दर्शन है जिसमें पाशविक वृत्तियों की अवहेलना कर बौद्धिक आधार प्रस्तुत किये जाते हैं। चूँकि समाज में शोषित, पिछड़े तथा दरिद्र व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है, जिन्हें भोजन, वस्त्र, आवास, औषधि तथा अन्य वस्तुओं की आवश्यकता केवल जीवन-निर्वाह के लिए अति तीव्र है, इसलिए केवल बौद्धिक स्तर पर निबाहे गये आदर्शों से उनमें किसी प्रकार की उत्प्रेरणा नहीं होती है। जब तक शोषित, तिरस्कृत तथा पिछड़ी जातियों एवं व्यक्तियों को अनुप्राणित नहीं किया जाय तब तक समाज में क्रान्ति सफल नहीं हो सकती है। उन्हें प्रोत्साहित, अनुप्राणित करने एवं उभारने के लिए भोजन, वस्त्र, आवास तथा जीवननिर्वाह की वस्तुओं की उपलब्धि की जब तक योजना नहीं की जायगी तब तक भारतीयों में अनुप्रेरणा नहीं आ सकती है। नेहरू भी भारतीयों की आर्थिक स्वतन्त्रता के प्रतिपोषक थे, परन्तु उनका स्वप्न केवल कागज पर ही रह गया। वे समझते थे कि उनके मानवतावाद में इतनी आधुनिकता है, इतनी वैज्ञानिकता है, इतनी तर्कसंगति है कि सभी लोग उनके दर्शन को अपना लेंगे। यह बुद्धिवादी नेहरू का भ्रम था। भावसंवेग तथा अनुप्रेरणाओं से ही मानव का जीवन संचालित होता है; बुद्धि एक क्षीण शक्ति है। यह ठीक है कि अन्त में बुद्धि की ही विजय होती है। कब ? जब भाव संवेग से संचालित रहने पर मानव ठोकर खाता है, आपस के कलह से त्रस्त हो जाता है तथा अनेक सामाजिक थपेड़ों से कुण्ठित हो जाता है तब हार मानकर वह मनीषियों की बात पर ध्यान देता है। अनेक काल बीतने पर असफलताओं से घिर जाने पर ही अन्त में बुद्धि की विजय होती है। समय है कम और भारतीयों के सहस्र वर्षों से पिछड़े रहने के कारण उनकी समस्याएँ हैं अनेक। आज नेहरू के वैज्ञानिक मानवतावाद

तथा साम्यवाद में होड़ लगी हुई है। भारतीय स्वतंत्र मतदान के वरदान को भानकर प्रजातंत्र को अपनायेंगे या तानाशाही सर्वसत्तामूलक साम्यवाद को अपनायेंगे; ये दो विकल्प भारतीयों के समक्ष प्रस्तुत हैं। अभी तक भारत में भारतीयों को नेहरू का मानवतावाद कोई वरदान नहीं दे पाया है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से नेहरू का मानवतावाद बुद्धि-वादी होने के कारण विफल हो चुका है।

नेहरू को अपने अन्तिम काल में प्रतीत होने लगा था कि पूँजीपतियों की चालों से, शासकों के भाई-भतीजावाद से, घूसखोरी तथा अन्य खामियों से राष्ट्रीय उद्योग असफल हो रहा है। यदि वे इन सबपर ध्यान देते तो उन्हें मानवतावाद के संघ को दृढ़ अनु-शासन की डोरी से बाँधना पड़ता। परन्तु उन्होंने संघ की नींव पक्की नहीं की। उनके अनुयायी उनके बताये आदर्शों के प्रति केवल जिह्वा-पूजा (ठकुरसुहाती) करके अपना उल्लू सीधा करते रहे और बुर्जुआवादी नेहरू का दर्शन निष्प्राण रह गया।

फिर नेहरू पारलौकिकता के विरोधी अवश्य थे और वे समझते थे कि ज्ञानवृद्धि के साथ धर्म के प्रति लोगों की आस्था और जातिवाद अपने आप विलीन हो जायँगे। वे पाकिस्तान को ईशतांत्रिक कहकर उसका उपहास करते थे। पर उन्हें धर्म के बल का पूरा ज्ञान नहीं था। धर्म के नाम पर भारत का विभाजन हो गया, गाँधीजी की हत्या की गयी, परिवार-नियोजन विफल हुआ और जातिवाद के कारण राष्ट्रभावना भारतीयों में जग भी नहीं पायी। ये सब बातें नेहरू के सामने गुजरीं, पर धर्म का उन्होंने कहीं भी शासनिक विरोध नहीं किया। उनके उदार हृदय ने सभी जातियों और धर्मों का समादर ही किया और उन्हें अपनी संरक्षा में रखा। इस उदारता से साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद को प्रोत्साहन मिला और इनका खण्डन नहीं हो पाया। केवल पुस्तकों में या भाषण में धर्मों के विरुद्ध नारा उठाने से धर्म के प्रति अनास्था नहीं हो सकती। उन्हें चाहिए था कि उनके मानवतावाद के अपनानेवालों में धर्मपरायणता न हो। आपकी बुद्धि मानवतावादी थी पर आपका आचार बुर्जुआवादी था। 'संस्कारो नान्यथा भवेत्'। शैशवकाल की संस्कृति व्यक्ति को आजन्म अपनी छाया की भाँति घेरे रहती है। नेहरू इसके अपवाद नहीं थे। जब तक नेहरू जीवित थे तब तक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर धर्मतंत्र, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, शासकों की लोलुपता इत्यादि दबी रही। नेहरू के निधन के बाद ये विघटनकारी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठी हैं। बुर्जुआवादी होने के कारण नेहरू का वैज्ञानिक मानवतावाद पुस्तक के पृष्ठों में ही सीमित रह गया और इसका प्रभाव भारतीय जनता पर विशेष नहीं पड़ा। परन्तु नेहरू का नाम—विशेषकर भारतीय संविधान में—धर्म निरपेक्षतावाद के प्रसंग में लिया जाता है। इसलिए इसकी भी चर्चा अति संक्षेप में करनी चाहिए।

धर्मनिरपेक्षतावाद (Secularism)

धर्मनिरपेक्षतावाद वह दर्शन है जिसमें परम्परागत धर्मों एवं आध्यात्मिकता की

अवहेलना की जाती है और मानव को अपने पार्थिव हितों की ओर ध्यान देने के लिए सिखाया जाता है। धर्मनिरपेक्षतावाद मानवतावाद का ही एक अंग है। प्रकृतिवादी मानवतावाद में परम्परागत धर्म अथवा पारलौकिकता का विरोध किया जाता है। इसके विपरीत, धर्मनिरपेक्षतावाद में धर्मों के प्रति उपेक्षा एवं तटस्थता की नीति अपनायी जाती है। इसके अनुसार, ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवाद दोनों ही को उपेक्षित करना चाहिए क्योंकि वैज्ञानिक रीति से इन्हें न स्वीकार किया जा सकता है और न इन्हें खण्डित। धर्म-सम्बन्धी विचारों के प्रति पूर्ण उदासीनता अपनाना ही इस वाद का मुख्य उद्देश्य है।

धर्मनिरपेक्षतावाद के स्वरूप को हम इसके संक्षिप्त इतिहास के आधार पर निरूपित कर सकते हैं। जब यूरोप में प्रोटेस्टेण्ट धर्म का प्रादुर्भाव हुआ तो अनेक लोग सोचने लगे कि सभी लोगों को धर्म पर विचार करने का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। परन्तु रोमन कैथलिक पुजारी इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए। इनके अनुसार, पुजारियों की संस्था अर्थात् रोमन कैथलिक चर्च को ही पूर्ण अधिकार है कि वह ईसाई धर्म के सम्बन्ध में अधिकारी घोषणा करे। रोमन कैथलिक पादरियों के इस हठ से खिन्न होकर फ्रेंच विचारकों ने भी उनसे बदला लेना ठान लिया। सर्वप्रथम, फ्रेंच विचारकों ने राष्ट्र-सम्बन्धी सभी गोष्ठियों एवं विचार-विमर्श-सभाओं से पादरियों को अलग कर दिया। फिर राष्ट्र-सम्बन्धी सभी योजनाओं एवं संगठनों में धार्मिक विचारों को प्रश्रय देने से इनकार कर दिया। आपसी कशमकश के बढ़ जाने पर स्वतंत्र विचारक ईश्वर चिन्तन एवं पारलौकिकता का भी विरोध करने लगे। समसामयिक विचारधारा में धर्मनिरपेक्षतावाद केवल फ्रेंच बुर्जुआ में ही नहीं सीमित है, वरन् समस्त यूरोप में फैला हुआ है। यहाँ तक कि साधारणतया कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट भी विचारने लगे हैं कि उनका भी कर्त्तव्य है कि वैज्ञानिक विधि और आधुनिक अध्ययन के आधार पर सामाजिक न्याय तथा लोकहित की स्थापना में सहयोग प्रदान करें।

यूरोप के साथ-साथ ब्रिटेन में भी धर्मनिरपेक्षतावाद की परम्परा जड़ पकड़ने लगी। इस वाद के अनुसार, नैतिक जीवन को ही मुख्य स्थान प्रदान करना चाहिए और इसके लिए आवश्यक नहीं है कि ईश्वर में तथा मरणोत्तर जीवन में विश्वास रखा जाय। जेम्स और जॉन स्टुअर्ट मिल, बेन्थम, जी० ए० लिविस इत्यादि उपयोगितावादियों और सुधारवादियों ने धर्मनिरपेक्षतावाद के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। जॉर्ज जेकब होलिओक (सन् १८१७–१९०६) धर्मनिरपेक्षतावाद के संस्थापक माने जाते हैं। इनके अनुसार, मानवों की वास्तविक स्थितियों का सुधार और उनके हितों की प्राप्ति धर्मनिरपेक्षतावाद का मुख्य उद्देश्य है। धर्मनिरपेक्षतावाद न तो ईश्वरवाद को और न अनीश्वरवाद को अपने दर्शन में स्थान देता है। परन्तु होलिओक स्वयं धर्म विरोधी नहीं थे। होलिओक के अनुसार, धर्मनिरपेक्षतावाद ईश्वरवाद का बहिष्कारक अवश्य है, पर ईश्वर-

वाद का विरोधी नहीं । इनके अनुसार, ऐहिक सुख प्राप्ति ही मानवजीवन का परमलक्ष्य है और इस लक्ष्यप्राप्ति के लिए मानव को अपनी बुद्धि द्वारा भौतिक साधनों की सहायता लेनी चाहिए । धर्मनिरपेक्षतावाद कोई हटवाद तथा लकीरपंथ नहीं है । इसके अनुसार, अनेक वाद हो सकते हैं और आधिदैविकता की निन्दा करना अभीष्ट नहीं है । परन्तु बिना आनुभविक साधन और सिद्धान्तों के मानव का कल्याण नहीं हो सकता । धर्मनिरपेक्षतावादी आधिदैविक शक्तियों और उनके प्रति किये गये चिन्तन के प्रति सम्पूर्णतया उदासीन रहता है । वह परम्परागत धर्मों का विरोध नहीं करता और उन धर्मों का प्रतिवाद तभी करता है जब वे इस निरपेक्षतावाद का विरोध करने लगते हैं । अतः वस्तुतः धर्मनिरपेक्षतावाद परम्परागत धर्मों के प्रति तटस्थ रहता है और इसीलिए इसे 'धर्मनिरपेक्ष' कहते हैं ।

मानवतावाद का मूल्यांकन

इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान से प्रभावित आधुनिक विचारकों द्वारा परम्परागत आधिदैविक प्रतीकों की युक्तिपूर्ण को स्वीकार करना कठिन हो जाता है । बिना अनुभूति की आधारशिला पर टिकाये किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करना आज के युग में अन्धविश्वास कहा जायगा । इसलिए आधुनिक बुद्धिवादी प्रायः धर्मनिरपेक्षतावाद से अपना सन्तोष कर लेते हैं । पर क्या मानव शुद्धबुद्धि है ? क्या उसमें पशुता नहीं है ?

आधुनिक मनोविज्ञान का निष्कर्ष है कि मानव आकाश के पक्षियों और भूतल के पशुओं के समान मूलप्रवृत्तियों से संचालित होता है । ये ही प्रवृत्तियाँ मानव के मूल लक्ष्यों को निर्धारित करती हैं । बुद्धि इन मूलप्रवृत्तियों की तुष्टि के लिए साधन निर्धारित करती है । फिर, मूलप्रवृत्तियों को सामंजस्यपूर्ण रीति से सन्तुष्ट करने के लिए बुद्धि की सहायता लेनी पड़ती है । अतः, बुद्धि मानव का आवश्यक अस्त्र-शस्त्र है, पर उसकी जीवनशक्ति उसकी मूलप्रवृत्तियों में ही निहित है । अतः, मूलप्रवृत्तियों को ध्यान में रखे बिना मानव निष्प्राण हो जायगा । पर, क्या मानवतावादी इस बात को नहीं समझते ? ड्यूवी केवल मानवतावादी और सुधारवादी ही नहीं थे, वस्तुतः वे अमेरिका के मनोवैज्ञानिक भी थे । इसलिए मानवतावादी मानव को कोरी बुद्धि नहीं मानते । उनके अनुसार, मानव को इन्हीं मूलप्रवृत्तिमूलक उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहना चाहिए । परन्तु, इन मानवतावादियों की कमी कहाँ है ? कमी इस बात में है कि इन्होंने युग की देन पर ध्यान नहीं दिया । मानव अपने अचेतन का शिकार होता है । अचेतन में ही मानव की सभी शक्तियाँ निहित हैं । इसलिए यदि मानव अपनी बुद्धि के आधार पर केवल चेतन अनुभवजन्य लक्ष्यों को ही ध्यान में रखे तो वह अपनी अचेतन की शक्तियों से वंचित हो जायगा । अचेतन की शक्तियों को उन्मुक्त करने के लिए देवी-देवता के प्रतीक की आवश्यकता होती है । मानवतावाद के प्रतीक मानवविकास की समकालीन स्थिति में आधु-

निक मानव के अचेतन को उभारने में समर्थ नहीं प्रतीत हो रहे हैं। देवकथा (पॉल तीलिख) तथा कहानी (ब्रेथवेट) के बिना आचार-व्यवहार में कुशलता नहीं प्राप्त की जा सकती है। मानव की अपनी सम्पूर्ण स्वतंत्रता के प्रतीक तथा वर्गहीन समाज के आदर्श मानव को ईश्वर, देवी-देवता तथा ईसा इत्यादि की तुलना में अनुप्रमाणित करने में समर्थ नहीं हो पाये हैं। फिर, वासनाओं का प्रशिक्षण और उनका शोधन भी सबल और पर्याप्त प्रतीक के बिना सम्भव नहीं होता। भारतीय समाधिसाधना से यह बात सिद्ध हो जाती है। मानवतावाद की तुलना में ईश्वरवाद की सबसे बड़ी विशेषता इसी बात में है कि ईश्वर के नाम पर वासनाओं की, स्वार्थ की और बुरी आदतों की आहुति दी जा सकती है। अतः मानवतावाद कोरी बुद्धि और चेतनमय कल्पना पर आधृत रहने के कारण हृदयस्पर्शी नहीं रह पाया है। यही मानवतावाद की कमी है। इसी कमी के कारण बौद्धधर्म भारत से लुप्त हो गया और शांकर-सिद्धान्त, देवी-देवता आदि की सगुणोपासना को साधनरूप में सन्निहित कर अभी भी भारतीयों का मार्गदर्शन कर रहा है।

अध्याय : १५

धर्मनिरपेक्षतावाद

(Secularism, सेक्यूलरिज़्म)

सेक्यूलरिज़्म के विभिन्न अर्थ

भारत को सेक्यूलर गणतन्त्र राज्य कहा जाता है। पर 'सेक्यूलर' का क्या तात्पर्य होता है ? इस शब्द से 'सेक्यूलरिज़्म' के तीन अर्थ लगाये गये हैं, अर्थात्

१. सभी धर्मों का सहास्तित्व।

२. धर्मनिरपेक्षता।

३. ऐहिकता, लौकिकता।

'सेक्यूलरिज़्म' मानवतावादी धर्म है और इस रूप में इसका अर्थ 'सभी धर्मों का सहास्तित्व' (Equal respect for all religions) हो ही नहीं सकता है, क्योंकि परम्परागत धर्मों में पारलौकिकता पायी जाती है जिसे मानवतावाद स्वीकार नहीं कर सकता है। द्वितीय, परम्परागत धर्मों में परस्पर-विरोध भी है। कोई सूर्य भगवान् की पूजा करता, तो अन्य धर्मों में इसे मूर्तिपूजा कहा जायगा। कोई 'ईसा' को ईश्वर का पुत्र मानता है, तो अन्य धर्मों में इसे ईश्वर-निन्दा कहा जाता है (यहूदी धर्म और इस्लाम)। इस प्रकार की अनेक बातें हैं जिनमें पारस्परिक विरोध है। यह विरोध कुछ छिछली बातों में ही सीमित नहीं है, वरन् तात्त्विक विश्वास-वचनों में भी भारी विरोध देखा जाता है। उदा० जैन-बौद्ध निरीश्वरवादी हैं, पर पैग़म्बरीधर्म तथा भक्त-प्रधान भारतीयधर्म ईश्वरवादी हैं। सबसे बड़ा झगड़ा तो उन धर्मों से उत्पन्न होता है जहाँ धर्म और राजनीति में अवियोज्य सम्बन्ध स्वीकारा जाता है। जब तक 'सेक्यूलरिज़्म' का अर्थ 'धर्मों का सहास्तित्व' माना जायगा तब तक भारत में धार्मिक तनाव बना रहेगा जिससे राष्ट्रीयता के भाव को धक्का पहुँचता है। इसलिए आवश्यक है कि 'सेक्यूलरिज़्म' का अर्थ या तो धर्मनिरपेक्षता अथवा ऐहिकतावाद समझा जाय।

'धर्मनिरपेक्षता' का अर्थ है कि राज्य की माँगों की पूर्ति करने में किसी भी धार्मिक भावों की अपेक्षा नहीं की जाती है। उदाहरणार्थ, वर्तमान युग में जनबाढ़ को रोकना नितान्त आवश्यक हो गया है। इसलिए भारत में नियम एवं विधि (law), जनमत-प्रसार इत्यादि के द्वारा परिवार-नियोजन पर बल देना आवश्यक हो गया है। इस परिवार-नियोजन की राज्य-आवश्यकता को धर्म के नाम पर नहीं रोकना चाहिए। परन्तु 'धर्मनिरपेक्षता' में इस बात की छूट है कि इस राज्य का नागरिक वैयक्तिक रूप

से किसी भी धर्म को अपनाये, पर धर्म के नाम पर राज्य-सञ्चालन में धर्मों से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए। आधुनिक भारत में अभी भी 'धर्मनिरपेक्षता' की अवहेलना की जा रही है और भारत के सभी कोनों से धार्मिक भेद-भाव की कथा सुनने में आ रही है। जहाँ धर्मनिरपेक्षता ही अभी कोसों दूर है, वहाँ ऐहिकता की बात कौन कहे। पर पाश्चात्य देशों में सेक्यूलरिज़्म से ऐहिकता (this worldliness) का ही अर्थ समझा जाता है। इसी अर्थ में 'सेक्यूलरिज़्म' का महत्व है और अब इसी 'ऐहिकता' के रूप में सेक्यूलरिज़्म की व्याख्या की जायगी।

ऐहिकतावाद के अनुसार लोक-कल्याण एवं मानव-हित ही एकमात्र मानव निःश्रेयस् (the highest end) है जिसे बिना श्रुति एवं पारलौकिक सत्ता की उत्प्रेरणा से, मानव अपनी बुद्धि के आधार पर विज्ञान, तकनीकी एवं औद्योगीकरण के द्वारा प्राप्त कर सकता है। इस रूप में ऐहिकतावाद ईश्वर-विरोधी तथा पारलौकिकता-विरोधी है और पूर्णतया मानवतावादी है। इस रूप में स्टैलिन का साम्यवाद ऐहिकतावाद का उग्ररूप माना जा सकता है। पर रूस को छोड़कर यूरोप तथा मंचूरिया का आधुनिक साम्यवाद धर्मनिरपेक्षतावादी है, अर्थात् जब तक धर्मों के द्वारा राज्य-सञ्चालन में रुकावटें नहीं उत्पन्न की जाती हैं, तब तक इन राज्यों को धर्म-पालन की वैयक्तिक छूट दी गयी है। पर अन्य ईसाई पाश्चात्य देशों में धर्मनिरपेक्षता के साथ राज्य का संचालन ऐहिकतावादी कहा जा सकता है। यही बात अभी के चीन और जापान राज्यों के सन्दर्भ में देखी जाती है। अतः, लोकहित एवं कल्याण हेतु भारत गणतन्त्र में भी धर्मनिरपेक्षता के साथ ऐहिकतावाद को ही अपनाना चाहिए। सेक्यूलरिज़्म को धर्मों के सहास्तित्व के रूप में रखने के लिए धर्मों का कलह अनिवार्य है। इसका कारण है कि भारत हिन्दू धर्म-प्रधान है और इसके साथ अन्य धर्मों का टकराव स्वाभाविक है। कुछ धर्म ऐसे हैं जो हिन्दू संस्कृति, भाषा और परम्परा को नहीं स्वीकारते हैं। इसलिए उनके साथ बहुसंख्यक हिन्दू धर्म का टकराव अनिवार्य हो जाता है। फिर देश-नेता भी ऐहिकतावादी नहीं हो पाये हैं। अतः, जातिभेद, साम्प्रदायिक भाव से ओतप्रोत यह देश धार्मिक-विचारों से ही अभी लड़ रहा है। इस धार्मिक उधेड़-बुन में सर्वसुखाय, सर्वहिताय का लक्ष्य मात्र जिह्वा-मन्त्र है। बिना विज्ञान के लोक-हित सम्भव नहीं हो सकता। पर धर्मों की गुत्थियों में पड़कर विज्ञान का भी प्रचार-प्रसार नहीं हो रहा है। हमारे वैज्ञानिक आज भी सूर्यग्रहण के अवसर पर सूर्य का अध्ययन न करके स्नान-पूजा के अनुष्ठान पर ही अधिक बल देते हैं।*

---

* **Times of India**, 1933 में विज्ञान-पर्यवेक्षण के आधार पर स्पष्ट कर दिया है कि अभी भी विज्ञान का पूरा प्रचार नहीं हो पाया है। देखें, Gautam Adhikalri, **Secularsm in India**, Times of India, March 19,

बिना विज्ञान के तकनीकी सम्भव नहीं हो सकता और बिना तकनीकी के देश के खनिज पदार्थ तथा अन्य सामग्रियों को उद्योग में नहीं लाया जा सकता है। जब तक राज्य का औद्योगीकरण न हो तब तक बेकारी और आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती है। बिना पर्याप्त अन्न-जल, वस्त्र, घर, शिक्षा, चिकित्सा-सेवा इत्यादि के मानव सुखी जीव नहीं हो सकता है। यदि पाश्चात्य देशों की ऐहिकता पर दृष्टिपात किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि वहाँ ऐहिकता बौद्धिक और सामाजिक, दोनों प्रकार के विकास के फलस्वरूप उद्विकसित हुई है। पर सर्वप्रथम, 'ऐहिकता' के लक्षणों को भी यथासम्भव स्पष्ट करना चाहिए।

कौक्स और विल्सन[1] ने ऐहिकता के लक्षणों के संदर्भ में सहिष्णुता, उपयोगितावाद, तकनीकीमूलक कार्यविधि और लौकिक दृष्टि का उल्लेख किया है। जब तक ग्रामीण जीवन का ही प्रचार था तब तक परम्परागत धर्मों का बोलबाला रहा। पर नगरीकरण के साथ ऐहिकता का प्रादुर्भाव होने लगा। नगरी व्यापार में अनामत्व और अवैयक्तिकता (Impersonality) के दो मुख्य लक्षण देखने में आते हैं। यदि कोई रेल-टिकट लेने जाता है तो कोई यह नहीं पूछता है कि हिन्दू टिकट लोगे या मुसलमान टिकट। कोई टिकट लेनेवाले का नाम तक नहीं पूछता है। यही व्यापार, तार-विभाग, बैंक, दूकान इत्यादि के संदर्भ में पाया जाता है। बड़े-बड़े शहरों में लोग अपने बगल के रहनेवाले पड़ोसी का नाम तक नहीं जानते हैं। इसी को 'अनामत्व' संज्ञा दी गयी है। जिस प्रकार एक यन्त्र काम करता रहता है, ठीक उसी प्रकार डाक, रेल और तार-विभागों में सेवारत लोग तत्परता के साथ अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। उन्हें डाक, रेल तथा तार विभागों में आये हुए ग्राहकों के व्यक्तिगत जीवन और उनकी समस्याओं को पूछने तक का न तो अवकाश मिलता और न इसकी आवश्यकता ही जान पड़ती है। नगरी जीवन में कार्य-कुशलता और तत्पर कार्यान्वियन पर ही बल दिया जाता है।

अतः, ऐहिकता में अनामत्व और अवैयक्तिकता के साथ व्यावहारिकता पर भी बल दिया जाता है। व्यावहारिकता से अर्थ होता है कि उद्देश्यों की स्वीकृति और उनकी

1983 जिसमें बताया गया है कि भारत में ऐहिकतावाद नहीं हुआ। Girilal Jain, **Beyond the Pak Crisis**, Times 21 9.1983 जिसमें बताया गया है कि राष्ट्रीयता के साथ धर्म का गठबन्धन नहीं करना चाहिए। Kewal Varma, **Why Hindu Chauvinism is so dangerous**, Times, December 6, 1983 जिसमें हिन्दू रूढ़िवाद की आलोचना दी गयी है।

१. विस्तारपूर्वक जानकारी के लिये देखें, या मसीह, **धर्म और ऐहिकता**, दर्शन-समीक्षा, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, दिसंबर १९७१।

प्राप्ति का तदनुरूप साधन । उदाहरणार्थ, देश की स्थिति को देखते हुए अधिक उपज, अधिक खनिज पदार्थ का उत्पादन इत्यादि उद्देश्यों की समीचीनता स्थिर की गयी है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तकनीकी को खोज निकाला जाता है। जैसे जल, उर्वरक, पंप, बिजली, डीजल, कीटनाशक दवाइयाँ इत्यादि को काम में लाकर पैदावार को बढ़ाया जाता है। इन उद्देश्यों और उनके अनुरूप साधनों को ही पर्याप्त समझा जाता है। न तो उद्देश्यों की स्थापना के लिए धर्मशास्त्रों की मदद ली जाती है और न इनकी पूर्ति के लिए पारलौकिक शक्तियों का आह्वान किया जाता है।

ऐहिकता में अन्य उद्देश्यों और उनकी पूर्ति के लिए लोगों में सहिष्णुता पायी जाती है, जैसे कोई आयुर्वेद, कोई होमियोपैथी और कोई ऐलोपैथी की ही मदद लेते हैं। जिसको जिस प्रकार की चिकित्सा भाये, वह उसका उपयोग करता है।

अतः, परंपरागत धर्मों में कठोरपंथीपन, असहिष्णुता तथा निरपेक्ष भाव दिखाई देता है। प्रत्येक ईश्वरवादी समझता है कि उसके धर्म को छोड़कर अन्य धर्म झूठे हैं। वह अपने विचारों में उदार नहीं रहता और समझता है कि उसके धर्म की शिक्षा निरपेक्षतया सत्य है।

ऐहिकता में ईश्वर का कोई स्थान नहीं दिखाई देता है। इसका कारण है कि विज्ञान एवं तकनीकी के आधार पर मानव अपनी ही बुद्धि के द्वारा अपनी समस्याओं का समाधान कर लेता है। विज्ञान के प्रादुर्भाव के पूर्व, निःसहाय मानव बाढ़, सूखाढ़ संक्रामक रोग इत्यादि प्रकोपों से संत्रस्त होकर अज्ञात दैवी शक्तियों की दुहाई देता था। आज वह बाढ़ की रोकथाम बाँध बाँधकर, सूखे की चुनौती को नलकूप, नहर इत्यादि के द्वारा तथा अन्य प्रकोपों से बचने के लिए भी प्राकृतिक साधनों की मदद लेता है। आज अपनी चिकित्सा के लिए मानव प्रार्थना, तंत्र-मंत्र पर निर्भर नहीं रहता, वरन् डाक्टरों के कौशल पर विश्वास करता है। अतः, ईश्वर की आवश्यकता मानव को किन्हीं स्थितियों में भी नहीं दिखाई देती है। यह ठीक है कि अनेक रोग अभी भी असाध्य हैं और अनेक समस्याओं का समाधान मानव को इस युग की वैज्ञानिक साधना में नहीं प्राप्त हुए हैं, तो भी मानव समझता है कि कालक्रम में विज्ञान-प्रगति के साथ उसकी समस्याओं का समाधान हो जायगा।

भारत में अभी भी ईश्वर अनावश्यक सिद्ध नहीं हो पाया है। पर विज्ञान, तकनीकी और औद्योगीकरण के साथ ऐहिकता का विकास होना अनिवार्य है। राजनीतिज्ञों ने धर्म को अपना आड़ बनाया है और इसलिए भारत में अभी धर्मनिरपेक्षता का रहना बहुत दूर है। हिंदू लोगों के द्वारा प्रचारित एकात्मता टायँ टायँ फिस हो गया, क्योंकि इसमें हिंदू धर्म के सिद्धान्तों में परिष्कार की कोई बात कही ही नहीं गयी थी।

आलोचना

ऐहिकतावाद की प्रथम कमी यही प्रतीत होती है कि इसमें धार्मिक अनुभूति का अभाव-सा मालूम देता है। अब प्रश्न किया जा सकता है कि धार्मिक अनुभूति का क्या स्वरूप है। औटो का कहना है कि रहस्यमय विस्मयपूर्ण पवित्र महान् की अनुभूति को धार्मिक अनुभूति कहा जा सकता है। 'रहस्यमय एवं विस्मयपूर्ण' अनुभूति में तर्कबुद्धि नहीं होती, पर इसमें भाव और संवेग की प्रधानता पायी जाती है। प्रायः धर्मविश्वास में प्रमाणों के अभाव में तथा तथ्यविरोधी रहने पर भी विश्वासी अपनी भक्ति में स्थिर रहता है। पर ऐहिकतावाद तर्कबुद्धि पर आश्रित रहता है। अतः, ऐहिकतावाद में धार्मिक अनुभूति का अभाव देखा जाता है। स्वयं ऐहिकतावादी, विशेषकर साम्यवादी भौतिकवादी अपने को धर्मविरोधी तथा धर्म के आलोचक मानते हैं।

पाश्चात्य ऐहिकतावाद में केवल ईश्वर ही नहीं, वरन् किसी भी प्रकार की पारलौकिकता को अमान्य ठहराते हैं। इसलिए जैन-बौद्ध धर्मों को भी ऐहिकता में स्थान नहीं दिया जा सकता है। पर ऐसा आभासित होता है कि इसमें गुरु-पंथ को स्वीकारा जाता है क्योंकि पग-पग पर मार्क्स-ऐंजल की दुहाई दी जाती है। फिर रूस में लेनिन को बड़ी भक्ति के साथ देखा ज़ाता है।

परम्परागत धर्मों में व्यक्ति की पूर्णता पर बल दिया जाता है और ऐहिकतावाद में मानव-समाज को ही पूर्ण बनाने का आदर्श स्वीकारा जाता है। प्रश्न होता है : क्या मानव किसी आदर्श से अनुप्राणित होकर अपने जीवन को इस आदर्श के प्रति अपने को समर्पित कर दे सकता है? अभी तक परम्परागत धर्मों में, विशेषकर ईश्वरवादी धर्मों में मानव के सभी आदर्श साकार समझे जाते हैं। अतः नैतिक मूल्यों को भी मानव की कोरी कल्पना नहीं कहा जाता है। कृष्ण एवं शिव भगवान् तथा ईसा इत्यादि को मूल्यों का साकार रूप समझा जाता है और आदर्शों को (शिवं, सत्यं, सुन्दरम्) ईश्वर की आज्ञा समझकर उनका पालन किया जाता है। पर मानव समाज की पूर्णता केवल कल्पना ही कही जायगी। अतः ऐहिकतावाद में धार्मिक अनुभूति का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। हाँ, हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि परम्परागत धर्म के पीछे सहस्रों वर्ष की संस्कृति और इतिहास पड़ा हुआ है। पर ऐहिकतावाद औद्योगीकरण के इतिहास से जुटा हुआ है। संभव है कि मानव समाज़ की पूर्णता का आदर्श मानव में ऐसी जड़ पकड़ ले कि यह परम्परागत धर्मों के समान ही सुदृढ़ हो जाय।

इस स्थिति में पाश्चात्य और भारतीय देशों में प्राकारिक अंतर है। पाश्चात्य देशों में नैतिकता ही धर्म का विशेष लक्षण समझा गया है। ईश्वर में अविश्वास के हो जाने पर भी ईसाई नैतिकता पाश्चात्य देशों में अभी भी जीवन की व्यवहार नीति है। इसके विपरीत भारतीय धर्मों में व्यक्तिगत पूर्णता अथवा देवत्व-प्राप्ति ही धर्म का मूल आदर्श

रहा है। पर समाजाभिमुखी नैतिक आचरणों पर बल नहीं दिया गया है। अतः, भारत में धर्म-ह्रास से नैतिक जीवन में गिरावट हो जाने की भारी आशंका है। राजनेताओं का वही स्थान है जो प्राचीनकाल में राजाओं का था। इसलिए चरित्रहीन राजनेताओं के हो जाने पर सार्वजनिक नैतिक व्यवहार में भारी ह्रास की आशंका उठेगी। भारत में अभी पाश्चात्य साहित्य, विचारधारायें, समतावादी सामाजिक संगठन इत्यादि के आदर्श देश में फैल रहे हैं और इन विचारों के अनुरूप समाज-संगठन नहीं हुआ है। अतः, भारत में विचार-क्रान्ति की आवश्यकता है ताकि प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों प्रकार की धाराओं में सामंजस्य हो सके। इसलिए ऐहिकतावादी पाश्चात्य विचारधारा को देश के औद्योगीकरण के साथ स्वीकार करना ही पड़ेगा, पर साथ ही साथ जनजीवन में ऐहिकतावाद से असंतुलन हो जाना अनिवार्य प्रतीत होता है।

ऐहिकतावादी देशों में लोग देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, विज्ञान-प्रेम, साहित्य-निर्माण, ललित-कला इत्यादि के द्वारा अपने जीवन को उद्देश्यपूर्ण बनाने का प्रयास करते हैं। पर प्रश्न वहाँ भी यह मुख्य है कि मानव जीवन का चरम उद्देश्य क्या है। ईश्वरवादी के लिए इसका उत्तर देना बड़ा आसान है। उसका कहना है कि ईश्वर ने मानव को इसलिए बनाया है कि वह ईश्वर की आज्ञा माने, उसकी सेवा करे और अपने को उसे अर्पितकर संपूर्णानंद को प्राप्त करे। पर निरीश्वरवादी विचारधारा में 'उद्देश्य' से अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। इसका कारण है कि 'उद्देश्य' का संबंध 'संकल्प' के साथ जुटा हुआ है और 'संकल्प' भी बिना किसी व्यक्तित्वपूर्ण सत्ता को स्वीकारे हुए निरर्थक हो जाता है।

अब ऐहिकतावाद के अनुसार इस विश्व का कोई रचयिता नहीं है। तब मानव जीवन का क्या चरम उद्देश्य हो सकता है ? इस संदर्भ में कहा जाता है कि इस संदर्भ में 'उद्देश्य' से अभिप्राय होना चाहिये कि इस विश्व में मानव जीवन का क्या स्थान अथवा फंकशन क्या है ? जिस प्रकार नाक, कान के विषय शरीर के संदर्भ में इनके फंकशन को पूछा जा सकता है, उसी प्रकार इस विश्व-व्यवस्था में मानव जीवन का फंकशन भी पूछा जा सकता है। परन्तु संपूर्ण विश्व-व्यवस्था के विषय में प्रश्न ही करना व्यर्थ है क्योंकि संपूर्ण विश्व हमारे चिंतन का विषय नहीं हो सकता है। अतः, ऐहिकतावाद में निरुद्देश्यता देखी जाती है।

अंतिम रूप में यही कहा जा सकता है कि विश्व के उद्देश्य का प्रश्न करना वृथा है, पर मानव में संकल्प, बुद्धि और भाव हैं और उसके व्यापार में उद्देश्य देखा जाता है। कोई वैज्ञानिक बनता, कोई राजनेता, कोई अभिनेता इत्यादि। क्यों नहीं अपने जीवन के स्थान में निर्धारित उद्देश्यों को ही मानव का चरम उद्देश्य समझा जाय ? इन उद्देश्य-पूर्तियों को जीवन-निर्वाह का मार्ग समझा जायगा, न कि जीवन की अंतिम पूर्ति। इसे

मानव का, तीलिख़ के अनुसार, ultimate concern (अंतिम धुन, लगन एवं बेचैनी) कहा जा सकता है। प्रश्न रह ही जाता है :

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः।

यदि संपूर्ण ब्रह्मांड भी प्राप्त हो जाय तो इससे क्या ?

सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृत्ता स्यामिति।

अत ऐहिकतावाद में जीवन की सार्थकता का समाधान नहीं हो पाया है।

Conversion (जीवन-परिवर्तन, धर्म-परिवर्तन)

'Co·version' शब्द से एक धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को अपनाना विशेष रूप से नहीं समझना चाहिये। इस शब्द से जीवन में नया मोड़ आ जाना, एक दिव्यज्योति का प्राप्त करना, बोधि, मन-परिवर्तन इत्यादि अर्थ ध्वनित होते हैं।

इस पुस्तक के अनुसार धर्म मानव का स्वभाव-गुण है और प्रत्येक मानव में किसी न किसी धर्म को अपना कर अपनी पूर्णता प्राप्त करने की जन्मजात प्रेरणा पायी जाती है। जब भी किसी व्यक्ति विशेष को प्रतीत होता है कि उसे वह आदर्श रूप प्राप्त हो गया है जिसे उसे प्राप्त होना चाहिए तो उस अवस्था को जीवन-परिवर्तन कहा जा सकता है। सर्वप्रथम, चेतन एवं अचेतन रीति से अतीत शक्ति की खोज, उसे प्राप्त करने की बेचैनी इत्यादि रहनी चाहिए। तब एक ऐसी घड़ी का आ जाना जब यह खोज पूरी हो जाती, अंतिम बोधि हो जाती, या ईश्वर-दर्शन हो जाता है जिससे साधक में आनन्द का संचार हो जाता है और संभवतः चिरशांति। इस प्रकार का जीवन-परिवर्तन बुद्ध भगवान द्वारा बोधि-प्राप्ति में, वाल्मीकि तथा तुलसीदास द्वारा राम-दर्शन में, विवेकानन्द द्वारा 'माँ' के दर्शन में, संत पॉल द्वारा ईसा-दर्शन में चरितार्थ होता है।

जीवन-परिवर्तन किसी एक अमुक धर्म की निधि नहीं है। यह बात समस्त मानव जाति में पायी जाती है, क्योंकि अतीत शक्ति सभी मानव जाति में पायी जाती है जो उन्हें उद्विकसित करती रहती है। सामान्य रूप से 'कन्वर्शन' व्यक्ति की वह समाकलन-प्रक्रिया है जिसके आधार पर अव्यवस्थित से व्यवस्थित जीवन प्राप्त होता है जिस व्यवस्था के कारण व्यक्ति में निहित सभी पाशविक वृत्तियाँ उदात्त रूप ले लेती हैं, और व्यक्ति उर्ध्वदिशा में अनुप्राणित हो जाता है। अतः, व्यक्ति अतीत शक्ति के आह्वान को सुनकर उसके अनुरूप किसी चरम लक्ष्य की ओर अनुप्रेरित हो जाता है। इस जीवन-परिवर्तन में दो बातें उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम, मानव में स्वतन्त्र इच्छा है और अपनी इच्छा को काम में लाकर वह किसी भी अपने चरम लक्ष्य को अपना सकता है। अतः, मानव का जीवन-परिवर्तन उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और मानव का अपना मानवी

गुण है। द्वितीय, धर्म के अतिरिक्त किसी भी क्षेत्र को इसे अपनाया जा सकता है, पर धर्म-क्षेत्र के क्षेत्र में इसे उग्ररूप से उत्कृष्ट रीति से पाया जाता है। इसलिए कन्वर्शन को धर्म-परिवर्तन समझा जाता है। सामान्य रूप से धर्म-परिवर्तन में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं* :

१. परम सत् का साक्षात्कार। ईश्वरवादी के लिए ईश्वर-दर्शन, उदा०, राम, कृष्ण, ईसा इत्यादि का दर्शन।

२. हिन्दू-परम्परा में व्यक्ति को असह्य बंधन के भार को समझना जिससे मुक्ति-प्राप्ति के लिए बेचैन रहना। पैग़म्बरी परम्परा में पापी होने का अनुभव जिससे कि क्षमा के लिए व्यक्ति व्याकुल होता है।

सामान्य रूप से असन्तुलित से सन्तुलित स्थिति को प्राप्त करना, अशान्ति से शान्त हो जाना।

३. निर्वाण अथवा ब्रह्मप्राप्ति के बाद शान्ति प्राप्त कर लेना और जीवन में इस ज्ञान के प्राप्ति दृढ़ संकल्पी हो जाना। ईश्वरवादी में ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास हो जाता है और जीवन में चिर शान्ति।

४. सम्पूर्ण जीवन का आमूल परिवर्तन जैसा वाल्मीकि की कथा में है कि वे डाकू से रामभक्त हो गये और उसी प्रकार कामुक जीवन को त्यागकर गोस्वामी तुलसीदास रामभक्त हो गये।

५. प्रायः नया जीवन प्राप्त कर लेने के बाद एक मिशन (mission) को प्राप्त कर लेना। साधक को इतना आनन्द प्राप्त हो जाता है कि वह उसे अपने में सीमित नहीं रख सकता है। बुद्ध भगवान् को प्रचार करने की प्रेरणा इतनी प्रबल हो गयी कि वे अपने धर्म का प्रचार करने लगे। यही बात सन्त पॉल में देखी जाती है जो बाद में

---

* Conversion may mean a rebirth (द्विज), regeneration (जीर्णोद्धार), a transformation from an unorganized to an organized integrated life, from indifference to heightened social life with the finding of new meaning and values, from the thoughts about life into participation in a fuller and richer polity. William James has thus defined it :

Conversion is that experience of assurance in which a self hitherto divided and unhappy becomes unified with a firmer hold upon, riligious realities. (**The Varieties of Religious Experience**, Longmans 1935, p. 189)

पैगम्बर मुहम्मद की जीवनी में भी देखी जाती है। इसी प्रकार विवेकानन्द वेदान्त-प्रचार करने के लिए धर्म-पार्लियामेन्ट में गये थे।

सामान्य रूप से इस धर्म-परिवर्तन से व्यक्ति आत्मकेन्द्रित न रहकर विश्व-कल्याण के भाव से ग्रस्त हो जाता है।

ईश्वरवाद में जीवन-परिवर्तन ईश्वर का दान समझा जाता है। कभी ऐसा मालूम देता है कि मानो ईश्वर अपनी शक्ति और अनुग्रह के फलस्वरूप व्यक्तिविशेष में इस प्रकार का महान कार्य करता है। भारतीय धर्म-परम्परा में इसे प्रपत्ति कहा जाता है। पर ऐसे भी उदाहरण देखने में आते हैं जिसमें व्यक्ति अपने प्रयास एवं पुरुषकार के फलस्वरूप हो ईश्वर के दान का अधिकारी हो जाता है। व्यक्ति को अपनी इच्छा को ईश्वर को अर्पित कर देने के बाद जीवन-परिवर्तन प्राप्त होता है।

प्रायः किशोरावस्था में, १३-१८ वर्ष की आयु में धर्म-परिवर्तन का अधिकतर उदाहरण मिलता है। इसका कारण है कि शरीर-मन के विकास के बाद ही ज्ञानक्षितिज विस्तारित हो जाता है और मानव में नये आयाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ऐसा विकास प्रायः सहसा दिखाई देता है, पर क्रम-विकास भी सम्भव होता है। चूँकि नये आयाम दृष्टि-गोचर होने लगते हैं, इसलिए धर्म-परिवर्तन को द्विजावस्था पुकारा जाता है। त्रिनेत्र होना अथवा दिव्यदृष्टि प्राप्त करना भी इसे कहा जा सकता है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि धर्म-परिवर्तन में अतीत सत् के द्वारा व्यक्ति में सहसा उत्परिवर्तन (mutation) हो जाता है।

'[1]A mutation of life as if, through a transcendent reality.'

धर्म-परिवर्तन इतना विविध रूप धारण करता है कि इसके मनोवैज्ञानिक कारणों को समझना कठिन हो जाता है। विलियम जेम्स ने धर्म-परिवर्तन में अचेतन मानस की क्रियाशीलता को विशेष माना है। पर ईश्वरवादी के अनुसार, धर्म-परिवर्तन ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होते हैं। धर्म-परिवर्तन के अनेक उदाहरणों के फलस्वरूप निम्नलिखित घटक विशेष समझे गये हैं :

१. धर्म-शिक्षा के फलस्वरूप धर्म-संस्कार का होना।

२. दृढ़ विश्वास रखने की प्रवृत्ति, अर्थात् उदार विचार के बदले निरपेक्षतया किसी सत्य को पकड़े रहने की प्रवृत्ति।

३. इन्द्रियजन्य ज्ञान से परे और अतीत अन्य उच्चतर सत्ताओं के प्रति अनुराग और ध्यान लगाने का झुकाव।

---

१. प्रायः जैविक विकास में ऐसा भी देखा गया है कि एकाएक एक नवीन जाति उत्पन्न हो जाती हैं। इसे उत्परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है। बर्गसाँ के दर्शन में इसे महत्वपूर्ण गिना गया है।

४. किसी भी कारणवश मानसिक गाँठ का हो जाना जिसके कारण मानसिक प्रवाह का रुक जाना।

५. अपने और मानव के विषय में अन्तिम प्रकार की समस्याओं से उलझना, अर्थात् कोऽहं, कस्त्वम् इत्यादि प्रश्नों पर विचारना।

६. गहरी चोट का पहुँचना, उदा० सन्त तुलसीदास का पत्नी द्वारा तिरस्कृत अथवा अपमानित होना इत्यादि।

व्यक्तिगत और मानवजाति के लिए धर्म-परिवर्तन को उच्चस्तर पर उठाने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। व्यक्ति-धर्म-परिवर्तन में व्यक्ति की सम्पूर्ण वृत्तियाँ उदात्त हो जाती हैं और जीवन में टेक और मिशन का अनुभव कर मूसा, ईसा, वाल्मीकि, तुलसीदास तथा विवेकानन्द ने मानव विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इस रूप में धर्म-परिवर्तन को मानव इतिहास में मुख्य स्तम्भ माना जायगा, पर धर्म-परिवर्तन का एक दूसरा रूप भी है जो भारत के लिए विवाद का विषय बन गया है। इसे (Proselytize) अर्थात् धर्मान्तरण की संज्ञा दी जाती है। धर्मान्तरण में एक व्यक्ति को उसके धर्म को छोड़कर दूसरे अन्य धर्म में दीक्षा दी जाती है।

धर्मान्तरण

भारत के इतिहास में भी धर्मान्तरण के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, अनेक आर्यजातियों ने जैन और बौद्ध धर्मों को अपनाया। यहाँ तक बौद्ध धर्म-प्रचार के द्वारा आज भी चीन, जापान, तिब्बत, लंका, बर्मा इत्यादि देशों में अनेक बौद्ध पाये जाते हैं। फिर अनेक बौद्ध भी हिन्दू धर्म में वापस चले आये और उनमें से अनेक मुसलमान भी बन गये। यह भी सर्वमान्य है कि शक, हून और यवनों में से अनेक जातियों ने हिन्दू धर्म को अपनाया है।

इसी प्रकार केरला राज्य में और तमिल देश में भी भारतीयों ने ईसाई धर्म अपनाया था, पर अधिकतर भारतीयों ने इस्लाम को स्वीकार किया। आर्य-समाज आज भी धर्मान्तरण को वैध मानता है। पर धर्मान्तरण में झगड़ा किस बात का है? सर्वप्रथम धर्मान्तरण प्रलोभन तथा धर्मेतर कारणों के आधार पर सम्पन्न होता है। द्वितीय, धर्म को स्थायी राजनीति की संज्ञा राममनोहर लोहिया ने दी है। इसलिए धर्मान्तरण को राजनीति की समस्या समझना चाहिए।

भारत हिन्दू-प्रधान देश है और हिन्दू धर्म और राजनीति में ब्राह्मणों का प्रमुख स्थान होता है। ईसाई तथा मुसलमान हो जाने पर ब्राह्मण तथा अन्य ऊँची जातियों के लोगों को राजनैतिक क्षति पहुँचती है। प्रायः, शूद्र जाति के ही लोगों के बीच धर्मान्तरण विशेष रूप से देखा जाता है। क्यों? क्योंकि हिंदू धर्म वर्ण-विचार को धार्मिक समर्थन

देता है और जातिभेद के कारण शूद्र जातियों का शोषण होता रहा है। पाश्चात्य समता-वाद दिनोंदिन भारत में प्रमुख होता जाता है। अतः शूद्र न तो अब अपना शोषण चाहते हैं और न अपने को 'नीच' कहने के लिए तैयार हैं।

पर देखा जाय तो जातिभेद वास्तव में धार्मिक व्यवस्था नहीं है और इसे राजनीति में परिणत कर धर्म और राजनीति दोनों में बड़ा धक्का पहुँचा है। धर्मान्तिरण में प्रलोभन का स्थान नहीं रहना चाहिए। पर वास्तविकता यही है कि धर्मान्तरण में इस समय प्रलोभन विशेष हाथ रखता है जिसके कारण हिंदू राष्ट्रीयता और धर्म में बड़ी हानि की आशंका है। पर शुद्ध धर्मविचार की दृष्टि से धर्मपरिवर्तन के साथ धर्मान्तरण को भी वैध मानना ही पड़ेगा।

●

अध्याय : १६

धर्मों की एकता

भारतीय परम्परा के अनुसार एक ही परमसत् को सभी धर्म वाले विभिन्न रूप से भजते हैं। ऋग्वेद के अनुसार एक ही परमसत् को लोग इन्द्र, मरुत, अग्नि इत्यादि के रूप में पूजते हैं। अतः, सभी धर्मों का अन्तिम विषय एक ही है। इसलिए सभी धर्म वास्तव में एक ही परम धर्म के विशिष्ट रूप हैं। गीता ९:२३-२५ में स्पष्ट किया गया है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने बताया है कि उनको (श्रीकृष्ण) को छोड़कर अन्य देवताओं के भक्त भी वास्तव में सही बात को न जानने के कारण अज्ञानवश (वे) श्रीकृष्ण की ही पूजा करते हैं। इस भारतीय परम्परा का ठोस आधार है।[1] प्रथम, धर्मों के ऐतिहासिक उत्स (Origin, उत्पत्ति) पर अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। द्वितीय, मानव की मानसिक रचना ऐसी है कि मानव को किसी न किसी धर्म को अपनाना ही पड़ता है। अब धर्मों के उत्स पर ध्यान दिया जा सकता है।

धर्मों का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक उत्स :

वास्तव में सभी प्रचलित धर्मों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, अर्थात् पैग़म्बरी धर्म और हिन्दू धर्म। पैग़म्बरी धर्म में पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लाम को गिना जाता है, और हिन्दू धर्म में अजीविकावाद, जैन, बौद्ध, ब्राह्मण तथा सिख धर्मों को रखा जा सकता है। चूँकि अजीविकावाद १३वीं-१४वीं शताब्दी में जैन धर्म में विलीन हो गया, इसलिए इसकी चर्चा अब नहीं की जाती है, पर जैन धर्म के विकास में इसकी बहुत बड़ी देन है। व्यापक अर्थ में हिन्दू का समान्य आधार है चतुष्पदी कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति का सिद्धान्त। इस रूप में सिख धर्म को भी 'हिन्दू' ही कहा जायगा। सिख धर्म में इस्लाम और ब्राह्मणवादी सिद्धान्त का सम्मिश्रण अवश्य है, पर प्रायः अधिकांश व्यक्ति इस बात से अनभिज्ञ हैं कि बौद्ध धर्म का भी प्रभाव ईसाई धर्म में स्पष्ट दिखाई देता है। फिर भारत में इस्लाम धर्म में भी हिन्दू धर्मों का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। अतः, ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर कहा जा सकता है कि सभी धर्मों पर परस्पर प्रभाव पड़ा है जिसे निम्नलिखित रीति से विस्तारित किया जा सकता है।

---

१. विशेष रूप से इस तथ्य को लेखक ने **Shankara's Philosophy of a world Religion** में स्पष्ट कर दिया है।

यहूदी भक्त इब्राहिम ही को अपने धर्म का आदिपिता मानते हैं। बाद में चलकर इस्लाम ने यहूदी धर्म को शुद्ध एकेश्वरवादी न मानकर इसी नबी इब्राहिम के चलाये मत को शुद्ध एकेश्वरवादी माना है। इसलिए स्पष्ट है कि नबी इब्राहिम के मत से यहूदी और इस्लाम धर्म निकले हैं। फिर इसमें भी सन्देह नहीं है कि इस्लाम के अनेक तथ्य यहूदी और ईसाई धर्म पर आधृत हैं। इसलिए कहना पड़ेगा कि यहूदी धर्म से ही ईसाई धर्म निकला है[1] और इन दोनों धर्मों पर और विशेषकर इब्राहिम के एकेश्वरवादी मत पर इस्लाम स्थापित हुआ है। पर नबी इब्राहिम का क्या मत था?

नबी इब्राहिम का मत कहीं भी उल्लिखित नहीं मिलता है। तब इस मत को हज़रत मुहम्मद ने कहाँ से प्राप्त किया? Encyclopaedia of Islam के अनुसार क़ुरान में कहा गया है कि सन्त हनीफ़ ने ही नबी इब्राहिम के शुद्ध एकेश्वरवाद को संरक्षित रखा था। अब सन्त हनीफ़ कौन थे? नबी इब्राहिम और सन्त हनीफ़ दोनों का सम्बन्ध उस देश से था जिसे ईरानी-भारतीय आर्यों का प्रथम निवास-स्थान माना जाता है। इसी आर्यों के आदिनिवास में पारसी धर्म का उदय हुआ। धर्मविदों का कहना है कि प्रारम्भ में यह पारसी धर्म शुद्ध एकेश्वरवादी था और बाद में अहूर मज़्दा और अहरिमन के द्वैतवाद की स्थापना हुई थी। अतः, नबी इब्राहिम और सन्त हनीफ़ का एकेश्वर-वाद सम्भवतः इसी पारसी धर्म के एकेश्वरवाद से प्राप्त किया गया था। इस पक्ष को यहूदी धर्म के एकेश्वरवाद के विकास से पुष्ट किया जा सकता है।

लगभग ७०० ई० पू० तक यहूदी एकेश्वरवादी नहीं थे। उनका ईश्वर 'याहवे' मेघ-गर्जन तथा तूफान का देवता था। वे मानते थे कि अन्य देवता भी हैं, पर उन सभी देवताओं की तुलना में उनका याहवे सर्वोपरि ईश्वर था। लगभग ७०० ई० पू० नबूकदनज़र ने यहूदियों पर विजय पायी और अधिकांश यहूदियों को दास बनाकर बाबुल देश में ले आया। बाद में लगभग ५३८ ई० पू० में अधिकांश यहूदी स्वदेश लौट आये। निर्वासिकाल (pr-exilic) के पूर्व यहूदी सर्वदेवतावादी[2] (henotheist), मूर्त्तिपूजक तथा अधिकांशतः यज्ञकर्मकाण्डी थे। सम्भवतः, स्वर्ग-नरक, न्याय-दिवस, पुनरुत्थान-विचार (resurrection), एकेश्वरवाद तथा यज्ञबलि की अपेक्षा आचरण-शुद्धि का विचार यहूदी धर्म में बाबुल देश के पारसी धर्म से ही प्रभावित हुआ था। पर पारसी-धर्म का क्या स्वरूप है?

---

१. प्रारम्भ में ईसाई को यहूदी ही समझा जाता था, पर बाद में ईसाई धर्म को सभी जातियों का व्यापक धर्म मान लिया गया और तब यह यहूदी धर्म से विभिन्न समझा जाने लगा।

२. सर्वदेवतावाद में अनेक देवताओं की वास्तविकता में विश्वास किया जाता है पर एक समय में आराधना-काल में किसी एक देवता को सर्वोपरि समझा जाता है।

प्रारम्भ में पारसी धर्म शुद्ध एकेश्वरवादी था। इसमें यज्ञबलि की भर्त्सना की गयी है और शुद्ध आचरण पर बल दिया गया है। अन्तिम न्याय-दिवस (day of judgment) में प्रत्येक व्यक्ति का उनके किये का विचार होगा जिसके अनुरूप उन्हें स्वर्ग या नरक प्राप्त होगा। बहुत बाद में पारसी धर्म के नबी जराथूस्त्र थे जिन्होंने इन सब बातों के साथ अन्य धर्मों और मतों के प्रति असहिष्णुता, अर्थात् धर्म-कठोरता (fanaticism) को भी अपनाया है। सम्भवतः, सेमिटिक (नबीमूलक) धर्मों में अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता के संकीर्ण विचार को यहीं से प्राप्त किया गया है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि सभी सेमिटिक धर्म के मूल सिद्धान्त इसी पारसी धर्म से प्राप्त हुए हैं। पर क्या बाबुल देश के पारसी धर्म का सम्बन्ध हिन्दू धर्म से भी है? यह तो निश्चित ही है कि आर्यों का आदि-निवास इसी बाबुली देशों के साथ था। इसलिए भारतीय आर्यों का धर्म भी पारसी धर्म से साक्षात्-असाक्षात् रूप से प्रभावित माना जायगा। पारसी धर्म की 'गाथा' तथा बाद की ज़ेन्दावस्ता की भाषा ऋग्वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। फिर ऋग्वैदिक धर्म के अनेक देवताओं का उल्लेख भी पारसी धर्मपुस्तकों में पाया जाता है। पर उल्लेखनीय बात है कि भारतीय आर्य और ईरानियों के बीच भारी धर्मभेद भी देखा जाता है।

स्पष्ट है ही कि ऋग्वैदिक आर्य प्रारम्भ में अनेक देवतावादी, पशुबलि करने वाले तथा युद्धप्रिय थे। इन विचारों की तुलना में पारसी धर्म एकेश्वरवादी, बलि-विरोधी तथा शुद्ध आचरणवादी था। सम्भवतः, भारतीय आर्य ईरानियों के धर्म-सुधार से असन्तुष्ट होकर उनका साथ छोड़कर भारत आये। ऐसा समझा जाता है कि असुर वरुण देवता ईरानियों के अहूर (असुर का ईरानी रूप) मज़्दा का ही रूपान्तर है। वरुण देवता शुद्ध आचरण को ही स्वीकार करते दिखाई देते हैं। पर युद्धप्रिय भारतीय आर्यों ने इन्द्र को ही वरुण की तुलना में सर्वश्रेष्ठ माना और अन्त तक यज्ञकर्म पर बल देते रहे तथा स्वर्ग-प्राप्ति को ही मानव का निःश्रेयस् माना था। यही कारण है कि वरुण-पूजा कालगति में धूमिल पड़ गयी। ईरानी और भारतीय आर्यों के बीच इतना मतभेद बढ़ गया था कि आर्य देवताओं को 'सुर' और राक्षसों को 'असुर' संज्ञा देते थे। ठीक इसके विपरीत ईरानी देवताओं को 'असुर' और राक्षसों को 'सुर' नाम देने लगे। भला! 'देवता' का अर्थ है कि वह जो ज्योतिमय 'दिव्य' हो। वह किस प्रकार 'राक्षस तथा दानव' कहा जा सकता है? इसी प्रकार 'आसु' अलौकिक शक्ति है। इस अलौकिक शक्तिशाली असुरों को कैसे 'राक्षस' कहा जा सकता है? वास्तव में ये केवल शब्दनिन्दा के अपशब्द हैं जिनके आधार पर ईरानी और भारतीय आर्यों के आपसी धर्मकलह का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

अतः, भारतीय आर्यधर्म में भी इसी पारसी धर्म का प्रभाव असाक्षात् रूप से, उस धर्म के प्रति प्रतिक्रिया के फलतः रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसलिए सभी धर्मों का

उत्स इसी एक भौगोलिक तथा ऐताहासिक बाबुली देश के पारसी धर्म से सम्भवतः सम्पन्न माना जा सकता है। क्या यह स्पष्ट नहीं करता है कि सभी प्रचलित धर्म की शुरुआत एक ही स्थल और धर्म से हुई ? अपितु, ईसाई धर्म जिससे सभी सेमिटिक धर्म प्रभावित हुए और बाद में इस्लाम का सूफ़ी मत तथा चिस्ती-सम्प्रदाय का गुरु-धर्म भी वेदान्त में चर्चित गुरु-सिद्धान्त से प्रभावित दिखता है।

ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म :

कुछ ऐसे लिखित प्रमाण बताये जाते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि ईसाई धर्म पर हिन्दू धर्म का प्रभाव पड़ा है। फाइलो (३० ई० पू० सन् ५० तथा सिकन्दरा के क्लिमेन्ट सन् १५०—सन् २१४ ई० के लगभग) जो ईसाई धर्म के कर्णधार थे, वे ब्राह्मणों और बौद्धों की शिक्षाओं से अवगत मालूम देते हैं। वे इनके धर्म में भी ईश्वर-प्रकाशना (revelation) का हाथ पाते हैं। अतः, इससे स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का प्रचार सिकन्दरा (Alexandria) तक पहुँच गया था। यह भी सर्वविदित है कि ईसा के पूर्व ही कुछ यूनानी शासकों ने बौद्ध और वासुदेवी धर्मों को अपनाया था। यह बात मिलिन्द-प्रश्न तथा १५०-१०० ई० पू० के शिला-लेख से सिद्ध हो जाती है।

पुनः, यह भी स्वीकृत किया जा सकता है कि इसाई पुजारियों[1] में ब्रह्मचर्य, संन्यास तथा नैतिक शुद्धता का पाठ सम्भवतः बौद्ध-जैन धर्मों से लिया गया है। मठवास भी ईसाई धर्म में बौद्ध धर्म की ही देन बतायी जा सकती है। उसी प्रकार माला-जप भी हिन्दुत्व की देन है जिसे ईसाइयों ने अपनाया था। फिर सन्त-दिवसों को मनाना बौद्धों-द्वारा स्तूपों से प्राप्त प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं कि पाप-स्वीकरण (confe-ssion) की प्रथा बौद्धों के अपोशथ-परम्परा की मात्र आवृत्ति है।

बहुत वर्षों तक ईसाई धर्म को ज्ञेयवाद (gnasticism) के साथ संघर्ष करना पड़ा था। यह 'ज्ञा' शब्द और gnos शब्द दोनों का मूल एक ही माना जाता है। यह ज्ञेयवाद वास्तव में ब्रह्मविद्या है जिसे यूनानियों ने स्वीकारा था। बौद्ध धर्म को ईसाइयों ने इतनी दूर तक स्वीकारा था कि आठवीं शताब्दी में बुद्ध भगवान् को लोग ईसाई सन्त के रूप में मानने लग गये थे। यहाँ तक बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा था कि प्रारम्भ में क्रूश के ऊपरी भाग में चक्र लगा रहता था और यह चक्र वस्तुतः बौद्धों का धर्म-चक्र था जो द्वादश-निदान का बोधक है।

जब ईसाई धर्म और हिन्दू धर्मों में इतना तालमेल है तो उनके बीच तार्किकतः किसी प्रकार के संघर्ष की सम्भावना सही नहीं मानी जा सकती है।

---

१. अभी भी रोमन कैथलिक पुजारियों को ब्रह्मचर्य, संन्यास और अपरिग्रह की शपथ लेनी पड़ती है।

रहस्यवाद का मूल आधार वेदान्ती ज्ञेयवाद है। इसलिए यूनानी रहस्यवाद वास्तव में हिन्दुत्व की देन है और इसी यूनानी और फिर उससे प्रभावित ईसाई रहस्यवाद का प्रभाव सूफीमत पर दिखता है। फिर इस्लाम में जातिभेद तथा चिस्ती-सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा में भी हिन्दुत्व का प्रभाव दिखता है।

अतः, हिन्दू धर्म और सेमिटिक धर्मों में ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से बहुत अधिक भेद नहीं मानना चाहिए। आधुनिक युग में भारतीय ईसाइयों में से कुछ धर्म-दार्शनिकों ने हिन्दू धर्मदर्शन को अपनाया है जिनमें ब्रह्मबांधव तथा चिचियाह के नाम उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य धर्मविचारकों में पॉल तीलिख ऐसे ईसाई धर्मदार्शनिक हुए हैं जिन्होंने शाङ्कर अद्वैतवाद को स्वीकारा है। फिर ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा प्रार्थना-सभा, ये सब ईसाई धर्म-प्रचार की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दुत्व में सुधारवादी आन्दोलन हैं। अतः, सभी प्रमुख प्रचलित धर्म का उत्स एक ही है और सम्भवतः उनकी अन्तिम दिशा भी किसी एक ही ओर हो। ऐसा टायनबी तथा हाकिङ्ग ने स्वीकारा है।[1]

धर्म-विकास में मानव की व्यापक मनोवैज्ञानिकता

प्राच्य और पाश्चात्य, दोनों में भावना व्यक्त की गयी है कि मानव के अन्दर ऐसे प्रेरक पाये जाते हैं जो मानव को उसकी परमगति की दिशा में उत्प्रेरित करते रहते हैं। धर्मभाव के आधार पर सन्त पॉल ने लिखा है कि ईश्वर ने हमारे हृदय में ऐसी आत्मा भर दी है कि मानव ईश्वर को 'हे पिता, हे पिता' कहकर उसे सम्बोधित करे। इसी प्रकार सन्त अगस्टिन ने लिखा है :

> 'ईश्वर ! तूने हम सबों को अपने लिए बनाया है और जब तक हम तुझे नहीं पा लेते हैं तब तक हमारे हृदय में शान्ति नहीं मिलती है।'

इसी प्रकार हनुमाननाटक (लगभग सन् ८५०) तथा कुसुमाञ्जलि (लगभग सन् ९२४) में भी बताया गया है कि मानव ईश्वर को किसी न किसी रूप में भजते रहते हैं। इन पुस्तकों के अनुसार निरीश्वरवादी जैन उसे अर्हत के रूप में तथा निरीश्वरवादी मीमांसक उसे यज्ञरूप कर्म द्वारा पूजते हैं। यहाँ तक कि इन पुस्तकों के अनुसार चार्वाक भी ईश्वर को लोकव्यवहार-सिद्ध के रूप में भजते हैं। अतः, इन पुस्तकों के अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना ईश्वर के रह ही नहीं सकता है, अर्थात् धर्म मानव का स्वभाव-गुण है। अंग्रेजी में इसे Religion **a priori** का सिद्धान्त कहते हैं। धर्म को मानव का स्वभाव-गुण मानने का मनोवैज्ञानिक आधार है।

मनोवैज्ञानिक आधार : प्राचीनकाल में अरस्तू ने बताया था कि प्रत्येक जीव में

---

1. W. E. Hocking, **Christianity and the faith of the coming civilization**, **Hibbert Journal**, 1955-56, p.346;
   Arnold Toynbee, **The Observer**, Oct. 24, 1954, p. 6, col. 4-5.

पूर्णता-प्राप्ति की भावना छिपी हुई है जिसके कारण परिस्थिति के अनुकूल हो जाने पर अण्डे में स्वस्थ बच्चा हो जाने की प्रक्रिया हो जाती है। अरस्तू की इस सूझ को लगभग २२ सौ वर्ष बाद हान्स अडोल्फ एडवर्ड ड्रिश (सन् १८६७-१९४०) ने इसे भ्रूणीय विकास के सन्दर्भ में सिद्ध कर दिया कि प्रत्येक जीव में पूर्ण होने का प्रेरक अन्तर्व्याप्त रहता है जिसके कारण भ्रूणावस्था में किसी भी अंश की क्षति हो जाने पर शेष अंग इस क्षति को पूरा कर जीव को पूर्ण बनाते रहते हैं। जो बात जैविक विकास के क्रम में सिद्ध हुई है उसे मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान में भी स्पष्ट किया है।

सर्वप्रथम, कार्ल गुस्ताव युंग ने बताया है कि मानव की मानसिक रचना ऐसी है कि वह जीवन के पूर्वार्ध में बाह्य जगत तथा समाज के प्रति अपने को अभियोजित करता है। जीवन-क्रम में सफल हो जाने पर प्रायः व्यक्ति जीवन को अर्थहीन और व्यर्थ समझने लगता है। यह भावना मानव को ललकारती है कि वह अपने को पूर्ण बनावे। उसे अब जीवन के उत्तरार्ध में आत्मिक जगत् की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनी पड़ती है। केवल आन्तरिक समस्याओं के समाधान करने पर ही मानव पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसी पूर्णता-प्राप्ति के प्रयास को धर्मचेतना अथवा धर्मभावना की संज्ञा दी जा सकती है। युंग के अनुसार बिरले ही कोई व्यक्ति अपने को पूर्ण बना ले पाते हैं, पर बिना पूर्णता-प्राप्ति को तुष्ट किये मानव को शान्ति नहीं मिल सकती है। पूर्णता-प्राप्ति की अवस्थाओं में युंग भारतीय वर्णाश्रम धर्म तथा अद्वैत वेदान्त की सच्चाई को व्यक्त करते हैं।

यह ठीक है कि युंग के विचार दीर्घकालीन अनुभव पर आधारित हैं। तो भी उनकी वैज्ञानिक देनों को परीक्षणात्मक नहीं कहा जायगा। पर बाद में कुर्त गोल्डस्टाइन, आंग्यान, अब्राहम मास्लोव इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व-विकास का परीक्षणात्मक अध्ययन किया है। इन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मानव में पूर्णता-प्राप्ति की भावना पायी जाती है। इसी भावना से अनुप्रेरित हो जाने पर उनके चेतन स्तर में उन्हें अपने आदर्श रूप का अवलोकन होने लगता है। इस आदर्श रूप को प्राप्त करने के लिए धर्म सहायक होता है। ईश्वर ही मानव का आदर्श रूप होता है। इसलिए शंकर के अनुसार 'जीवो ब्रह्मैव, नापरः'। जीव और ब्रह्म एक ही हैं। पाश्चात्य विचारक फोयबाख ने भी कहा है कि a talk about God is really a talk about man. यह ठीक है कि सभी व्यक्तियों और जातियों में पूर्ण मानव अथवा ईश्वर का एक आदर्श रूप नहीं हो सकता है। इसलिए विभिन्न जातियों और व्यक्तियों में इष्टदेवता की विभिन्नता का होना अनिवार्य है।

इस मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में एक बात उल्लेखनीय है। जब कोई अमुक व्यक्ति किसी एक विशिष्ट ईश्वर के रूप से इतना प्रभावित हो जाता है कि उसे पाकर वह अपने को पूर्ण समझने लगता है तब वह अन्य धर्मावलम्बियों को अपने से नीचा और हीन समझने

लगता है। इसी स्थिति में कठोरपन्थ (fanaticism) का उदय होता है। सभी धर्मावलम्बियों को समझना चाहिए कि ईश्वर का रूप जो किसी भी धर्म में पाया जाता है वह परिस्थिति-विशेष, जाति के सामूहिक जीवन, युग की माँग और संस्कृति से जुटा होता है। चूँकि ये शर्तें सभी युग और जातियों में एकसमान नहीं रहतीं, इसलिए इष्ट-देवताओं का रूप भी एकसमान नहीं हो सकता है। यह भी मनोवैज्ञानिक सत्यता है कि मानव का प्रकार, उसकी मानसिक रचना और मानसिक शक्तियों की कार्यवाही तथा संस्कार भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः, सभी मानव किसी एक प्रकार के ईश्वर की आराधना नहीं कर सकते हैं। जैसा मानव की मानसिक रचना और उसका संस्कार होगा वैसा ही उसका अपना आदर्श रूप होगा और जैसा उसका अपना आदर्श रूप होगा उसी के तदनुरूप उसके ईश्वर की भावना भी होगी।

अतः, मानवों की विभिन्नता के साथ ईश्वर-भावना भी विभिन्न होगी। इसलिए इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को समझकर मानव को धार्मिक संकीर्णता, अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता तथा कठोरपंथीपन से बचना चाहिए। इतना ही भर निष्कर्ष न्यायसंगत है कि मानव बिना किसी न किसी धर्म के चैन नहीं पा सकते हैं और सभी व्यक्तियों का अपना धर्म उनके विभिन्न संस्कार पर निर्भर करता है। इस निष्कर्ष को आगे भी स्पष्ट किया जायगा। धर्मों की सापेक्षता का मुख्य कारण है कि परम सत् तथा परमेश्वर अज्ञात और अज्ञेय हैं और हम उन्हें केवल प्रतीकों (Symbols) के द्वारा ही जान सकते हैं। पर प्रतीक सापेक्ष, परिवर्तनशील, युग और मानव संस्कार पर निर्भर करते हैं। अतः प्रतीकात्मक इष्टदेवताओं पर आधारित धर्म केवल सापेक्ष (relative) ही हो सकते हैं। इसलिए अब इस प्रसंग पर भी प्रकाश पड़ना चाहिए।

परम सत् तथा परमेश्वर अज्ञात एवं अज्ञेय

बाइबिल के अनुसार हम इतना ही भर जानते हैं कि ईश्वर **'है'**, पर यह नहीं जानते कि **'वह क्या है'**, अर्थात् ईश्वर का गुण नहीं जाना जा सकता है। इस स्थिति को अज्ञेयवाद कहा जाता है क्योंकि ईश्वर को निर्गुण और वर्णनातीत माना गया है। फिर बाइबिल में बार-बार कहा गया है कि ईश्वर अगोचर है। यही बात क़ुरान में भी कही गयी है कि ईश्वर अगोचर और इन्द्रियातीत है।

प्राच्य परम्परा में भी कहा गया है कि परम सत् (The highest reality) मन, वचन से परे है। यह अनिर्वचनीय सत्ता है। इसके सन्दर्भ में 'नेति, नेति' ही कहा जा सकता है (बृहदारण्यक उप० II. ३.६; III. ९.२६; IV. २.४; तैत्तिरीय उप० II. ४; मैत्री उप० VI. ७)।

अब प्रश्न उठता है कि मानव-स्थिति में विरोधाभास (paradox) दिखाई देता है। एक ओर मानव बिना परम सत् के नहीं रह सकता है क्योंकि धर्म-प्राप्ति मानव का

स्वभाव-गुण है। फिर परम सत् अज्ञात और अज्ञेय है। तो अज्ञेय को कैसे ज्ञान-परिधि के अन्दर लाया जाय? वस्तुतः अज्ञेय कभी भी मानव की ज्ञान-परिधि के अन्दर नहीं आ सकता है, क्योंकि मानव-ज्ञान इन्द्रियों पर निर्भर करता है और परम सत् इन्द्रियों का विषय नहीं है। दूसरे शब्दों में, इस विश्व की अर्थपूर्णता और सृष्टि का चरम उद्देश्य इस विश्व में नहीं, वरन् इससे अतीत ही हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में विट्गिन्स्टाइन की उक्ति उल्लेखनीय है :

"It is logically impossible for the sense of the world to be itself a part of the world, since the meaning of anything cannot be a part of that of which it is the meaning" (Tractatus 6.41, फिर देखें 6.4312).

अब जब विश्वातीत परम सत् का ज्ञान नहीं हो सकता है तब हम इसकी आराधना कैसे कर सकते हैं? अज्ञात को कैसे रिझाया जाय? मानव इस विडंबना में पड़कर परम सत् का अपनी अनुभूति एवं गहरे चिंतन के आधार पर चित्रण करता है। यह चित्रण कलात्मक रचना ही कही जा सकती है। उदाहरणार्थ, आदर्श सुन्दर नारी चित्रों के द्वारा कल्पित की जाती है। पर किसी भी विश्वसुन्दरी के चित्र को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'सत्य-असत्य' की संज्ञा केवल इन्द्रियजनित तथ्यात्मक प्रकथनों के लिये उचित रीति से प्रयोग की जाती है। पर कलात्मक सुन्दर नारी कहीं है तो नहीं जिसे देखकर फोटो लिया जाय। चित्र को केवल सुन्दर-भद्दा इत्यादि कहा जा सकता है। कलात्मक चित्र के सामने मानव अपने स्वभाव-गुण से विवश होकर अज्ञात एवं अज्ञेय परम सत् का चित्रण करते हैं और तब उसी चित्र की पूजा करते हैं। इस चित्र को कला-चित्र से भिन्न समझना चाहिये। इसलिये परम सत् के धार्मिक चित्रण को 'प्रतीक' कहा गया है। प्रतीक के अपने कुछ गुण होते हैं जिसके कारण इसे कोरा कलात्मक चित्र नहीं कहा जा सकता है। चूँकि इस युग में पॉल तीलिख (सन् १८८६-१९६६) ने ही प्रतीकों के स्वरूप पर बहुत बल दिया है, इसलिये पॉल तीलिख के प्रतीक-विचार को निम्नलिखित रूप से संक्षेप में उल्लिखित किया जा सकता है[1]।

१. प्रतीक का काम है कि वह उस परम सत् का निर्देश करे जो उससे परे और अतीत होता है। इस प्रतीक को चश्मे के शीशे के समान पारदर्शी रहना चाहिये ताकि इसके द्वारा वस्तुओं को (अर्थात् परम सत् को) देखा जा सके। स्वयं शीशे को देखने के लिये चश्मे में लेन्स नहीं लगाया जाता है। इस संदर्भ में राम, ईसा, मूसा इत्यादि परम सत् के प्रतीक हैं। इनकी पूजा के आधार पर परम सत् का अवभासन एवं अवबोधन[2]

---

१. देखें, सामान्य धर्मदर्शन, अध्याय ५, पृ० ११२-१३२।

२. 'अवबोधन' जिसमें परम सत् का ज्ञान-स्पर्श तथा उसका किंचित् आभास मिलता है।

होता है। पर कोई भी प्रतीक स्वयं परम सत् नहीं कहा जा सकता है। इसलिये शंकराचार्य ने ईश्वर तक को (प्रातिभासिक) ही कहा है।

२. प्रतीकोपासना की सबसे बड़ी पहचान है कि इस प्रतीक के द्वारा भक्त में अदम्य शक्ति का संचार होता है। 'मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन'।

३. प्रतीकों के द्वारा भक्तों के ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और इसके साथ ही परम सत् के प्रति नूतन आयाम का भी अवलोकन होने लगता है। उदा०, अर्जुन के विनय करने पर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन का ज्ञान-चक्षु खोल दिया जिसके फलस्वरूप अर्जुन को भगवान् का विश्वरूप दिखने लगा (गीता अध्याय ११)।

४. प्रतीक मानव के सामूहिक अचेतन की उपज है। इसलिये प्रतीक व्यक्तिगत चित्र नहीं है जिसे कलाकार अपनी स्वेच्छा से रचते हैं। किसी समूह अथवा जाति विशेष के द्वारा प्रतीकों को स्वीकृत रहना चाहिये। फिर चूँकि प्रतीक अचेतन की उपज रहती है, इसलिये प्रतीकों को सार्वजनिक तथा बाह्य सत्ता समझा जाता है।

५. अंत में, चूँकि सामूहिक अचेतन स्वयं परिवर्तनशील होता है, इसलिये प्रतीक भी कालान्तर में उदय-अस्त हो सकते हैं। अतः प्रतीक भी परिवर्तनशील होते रहते हैं। प्रतीकों के नकरात्मक रूप को समझकर शंकराचार्य ने बताया है कि ब्रह्म-ज्ञान के हो जाने पर ईश्वर के भान का भी विलयन हो जाता है।

अतः, हम इस निष्कर्ष पर आये कि परम सत् का अवबोधन-उद्‌बोधन[1] बिना किसी प्रतीकोपासना के सम्भव नहीं है। चूँकि पॉल तीलिख ईसाई धर्मदार्शनिक थे, इसलिये उन्होंने ईश्वरवाद के आधार पर उस परम सत् को प्राप्त करने का पाठ सिखाया था जो शब्दों तथा सभी प्रतीकों से परे और अतीत है। आप ईसा को भी प्रतीक मानते थे और ईसा से परे और अतीत सत्ता को प्राप्त करने को उच्चतम माना है। उनके मार्मिक शब्द हैं :

"Christianity as Christianity is neithor final nor universal. But that to which it witnesses is final and universal"[2]

पर तीलिख ने स्पष्ट किया है कि 'ईसोपासना' के द्वारा उस स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है जिसे उन्होंने 'God above God' की संज्ञा दी है। यह 'ईश्वर से परे ईश्वर' वास्तव में शंकर का ब्रह्म है जिसे उन्होंने अन्य संज्ञाओं से पुकारा है। इस 'ईश्वर से परे ईश्वर' की स्थिति ठीक ब्रह्म-प्राप्ति की दशा है जिसे तीलिख ने निम्नलिखित रीति से व्यक्त किया है :

---

१. 'उद्‌बोधन' से अर्थ ध्वनित होता है कि अचानक साधारण ज्ञान के आधार पर असाधारण बोधि का हो जाना। इस अवस्था में साधक को 'त्रिनेत्री' कहा गया है।

2. **Systematic Theology**, vol. I., p. 134.

"It is not a place where one can live, it is without the safety of words and concepts, it is without a name, a church, a cult, a theology. But it is moving in the depth of all of them"[1]

यहाँ अनिर्वचनीयता की दशा चली आती है। चूँकि तीलिख-विचार को शांकर मत बताया गया है, इसलिये शंकराचार्य के विचार को भी प्रदर्शित कर देना चाहिये।

शंकराचार्य और ईश्वरवाद

शंकराचार्य ने ब्रह्म-प्राप्ति का दो मार्ग बताया है, अर्थात् ईश्वरोपासना तथा ज्ञान मार्ग। शंकर ने स्पष्टतया दिखाया है कि ईश्वरोपासना से भी ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती है (ब्र. सू. भाष्य III. २.२१), क्योंकि यह ब्रह्म-प्राप्ति का साधन है (ब्र. सू भा. III. ३.१४), फिर शंकर ने स्पष्ट कहा है कि सगुणोपासकों को भी अंत में निर्वाणगति प्राप्त होती है (ब्र. सू. भा. IV. २.९; IV. ४.२२)। फिर यह भी स्वीकारा है कि जिस प्रकार विष्णु की मूर्ति विष्णु का प्रतीक है, उसी प्रकार इष्ट-देवता भी ब्रह्म के मात्र प्रतीक हैं (ब्र. सू. भा. IV. १.३-५)। तो भी शंकर ने बताया है कि ब्रह्म और ईश्वर के बीच का सम्बन्ध बहुत नज़दीकी का है और ईश्वरोपासना से क्रममुक्ति भी होती है (ब्र. सू. भा IV. ३.१०; IV. ४.२२)। अतः, शंकर ने ईश्वरोपासना को हेय नहीं समझा है। तो भी शंकर ने ईश्वर को ब्रह्म की तुलना में अप्राथमिक और निम्नतर कहा है (ब्र. सू. भा. III. २.२१-२२; III. ३.१२; IV. ३.९; IV. ३.१४-१५)। क्यों ?

इसका कारण है कि शंकर के लिये ब्रह्म एकमात्र अद्वैत सत्ता है और इसी अभेद-मूलक ब्रह्म की प्राप्ति को मानव का निःश्रेयस् गिना गया है। सगुण ब्रह्म अभेदमूलक नहीं है। इसलिये सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को परम सत् नहीं कहा जा सकता है। अतः शंकर ने ईश्वर को मायिक कहा है। फिर यह भी बताया है कि ईश्वरोपासना साधारण व्यक्तियों की सुविधा के लिये प्रस्थापित की गयी है (बृहदा. उ. भा VIII. १.१; ब्र. सू. भा. I. १.१, २०, २४, ३१; I. २. १४; III. २. १४)। जब ईश्वरोपासना से मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है तो ईश्वरोपासना को क्यों द्वितीय श्रेणिक एवं निम्नतर बताया गया है ?

इस सन्दर्भ में मुख्य बात है कि ईश्वरोपासना अनेक उद्देश्यों के लिए सम्पादित की जाती है। कोई भक्त ईश्वर की पूजा प्रभुता एवं अधिकार-प्राप्ति के लिए करते हैं (ब्र० सू० भा० IV. ३.१४); फिर कोई सांसारिक उन्नति तथा स्वर्ग-प्राप्ति के लिए भी ईश्वरोपासना करते हैं (ब्र० सू० भा० IV. १.१२)। अपितु, ईश्वरोपासना अशुभ के निवारण के लिए भी की जाती है (ब्र० सू० भा० III. २.२१)। अतः, ईश्वरोपासना बहु-हेतुक होती है और इसलिए इसे ब्रह्मप्राप्ति का एकमात्र साधन नहीं कहा

1. **The Courage to be**, p. 182, (Fontana 1967).

जा सकता है। इसलिए शांकर मत से ईश्वरोपासना को ब्रह्मप्राप्ति के हेतु ही होना चाहिए और इस स्थिति में 'ईश्वर' को ब्रह्म का मात्र प्रतीक समझना चाहिए। ब्रह्मप्राप्ति का सिद्धान्त धर्मों में एकता लाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है जिसे स्पष्ट करना अभीष्ट प्रतीत होता है।

ब्रह्मप्राप्ति का स्वरूप और महत्त्व

स्वयं ब्रह्म अभेदित, अविच्छिन्न तथा सभी सजातीय एवं विजातीय भेदों से परे अद्वैत सत्ता है। बृहदा० उप० III. ८.८ में नकारात्मक रीति से बताया गया है कि ब्रह्म न मोटा और न पतला, न छोटा और न बड़ा, न वायु और न आकाश, न मन और न प्राण तथा न उसमें अन्दर है और न बाहर। इसलिए ब्रह्मप्राप्ति में भी किसी प्रकार का द्वैतभाव और न भेदमूलक वस्तुज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस अभेदमूलक बोधन को बृहदा० उप० IV. ३.२२ में स्पष्ट किया गया है :

> ब्रह्मस्थिति में पिता पिता नहीं, माता माता नहीं रहतीं; लोक अलोक हो जाते, देव अदेव हो जाते, वेद अवेद हो जाते, चोर चोर नहीं दिखता, चाण्डाल चाण्डाल नहीं दिखता इत्यादि।

अर्थात् पाप-पुण्य का भेद नहीं रहता, ब्रह्मज्ञानी सभी सुख-दुःख से अतिक्रमित हो जाता और उसके लिए कोई वस्तु भी नहीं रहती। यह वही अवस्था हो जाती है जिसका पूर्वाभास सुषुप्ति तथा तुरीयावस्था में मिलता है। ब्रह्मप्राप्ति में न शैव्य शैव्य रहता, न वैष्णव वैष्णव ही दिखाई देता है। इसी प्रकार ब्रह्मप्राप्ति में सिख, ईसाई, मुसलमान और हिन्दू इत्यादि सभी भेदों का विलयन हो जाता है। तब इस सिद्धान्त का क्या व्यापक महत्त्व सम्भव हो सकता है?

सर्वप्रथम, स्मरण रखना चाहिए कि शंकर ईश्वरवाद का तिरस्कार नहीं करते हैं। उनका यहाँ इतना ही कहना है कि ईश्वरोपासना को ब्रह्मज्ञान हेतु सम्पन्न करना चाहिए। इस रूप में ईश्वरोपासना ब्रह्मप्राप्ति का अमोघ साधन है। अतः, शंकर ने ईश्वर-भक्ति को स्वीकारा है और अपने दैनिक जीवन में शंकर देवी-देवताओं के बेजोड़ भक्त थे। इसलिए शंकर किसी भी ईश्वरवादी को यह नहीं कहना चाहते हैं कि वह ईश्वर की उपासना न करे। उनका इतना ही कहना है कि प्रत्येक ईश्वरवादी अभेदमूलक सिद्धान्त से प्रभावित रहकर अपने धर्म का पालन करे। उदाहरणार्थ, ईसाई परम सत् की आराधना ईसा को प्रतीक बनाकर सम्पन्न कर सकता है। पर ईसाई को चाहिए कि वह अपने धर्म का पालन ब्रह्मस्थिति के आधार पर करे। उसे चाहिए कि वह अपने धर्म की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर उस स्थिति को प्राप्त करे जहाँ प्रोटेस्टेन्ट और कैथलिक का भेद न हो, जहाँ काले-गोरे का रंगभेद न हो, जहाँ भाषायी और क्षेत्रीय भेद न हो तथा साम्प्रदायिकता का भेद न हो। जब वह स्थिति को अपने ईसाई धर्म में प्राप्त कर लेता है तब उसे और अधिक ऊपर उठकर सिख, हिन्दू तथा अन्य

धर्मावलम्बियों को भी अभिन्न समझने लगना चाहिए। ईसाई को याद रखना चाहिए कि ईसा ने अपने अनुयायियों को बताया है कि वे ईश्वरीय प्रेम की पूर्णता को प्राप्त करें। ईश्वर किसी से भेदभाव नहीं रखता, यहाँ तक कि वह बुरे और भले, सभी लोगों को एक-बराबर धूप और वर्षा का दान देता है (मत्ती ५:४४-४८)।

जब हम शांकर-सिद्धान्त को लेकर ईसाइयों की अन्तिम स्थिति पर विचार करते हैं और जब हम उनकी वास्तविक दशाओं का अवलोकन करते हैं, तब प्रतीत होता है कि ईसाई ईश्वरीय प्रेम की पूर्णता से कितनी दूर भटक गये हैं। केराला में ईसाइयों के बीच जाति-भेद पाया जाता है, फिर उनमें क्षेत्रीय तथा भाषायी भेद जड़ पकड़े हुए हैं वे सांप्रदायिकता के चक्कर में भी पड़े हुए हैं क्योंकि प्रोटेस्टेंट तथा कैथलिक के भेद के आतिरिक्त कोई अपने को ऐंग्लिकन कहकर अन्य सभी सम्प्रदायों की अवहेलना करते हैं, तो कोई अपने को पेंटिकौस्टल कहकर अन्य सभी शाखाओं की तुलना में श्रेष्ठ समझते हैं इत्यादि।

जो बात ईसाइयों के लिए कही गयी है वह बात हिन्दू, सिख तथा मुसलमानों में भी पायी जाती है। खेद का विषय है कि हिन्दू धर्म के विश्वनेताओं में शंकर और रामानुज गिने जाते हैं और हिन्दू ही उनकी बातों को नहीं स्वीकार करते हैं। शंकर का अभेदमूलक सन्देश जो उपनिषदों से निकला है जातिभेद के विरुद्ध है। फिर रामानुज ने भक्ति-दर्शन की ठोस स्थापना की है और भक्ति की स्थिति में किसी प्रकार का जातिभेद नहीं रह सकता है :

> 'जाति पाति पूछै नहिं कोय,
> हरि को भजै सो हरि का होय।'

अतः, शंकर के अभेदमूलक सिद्धान्त के ही आधार पर सभी धर्मों की एकता प्राप्त हो सकती है। इस सिद्धान्त को निरपेक्षतया स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि इसमें सर्वव्यापकता के साथ संकीर्णता का पूर्णतया अभाव है। पर कुछ ऐसे कठोरपंथी हो सकते हैं जो अभी भी अपने धर्म को **सत्य** और अन्य धर्मों को **'मिथ्या'** समझते हैं। इसलिए अतिसंक्षेप में सिद्ध किया जायगा कि धर्म को 'सत्य-असत्य' कहा ही नहीं जा सकता है।

धर्मों की सत्यता-असत्यता का प्रश्न

धर्म में 'सत्यता-असत्यता' का विचार बड़ा भ्रामक है। केवल उन्हीं प्रकथनों को सत्य-असत्य कहा जा सकता है जिनका सन्दर्भ इन्द्रियग्राह्य तथ्य हुआ करते हैं। मूल्यात्मक प्रकथनों को 'सत्य-असत्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। उदाहरणार्थ, सौन्दर्यशास्त्र के प्रकथनों को सुन्दर-कुरूप कहा जाता है। उसी प्रकार नीतिशास्त्र के प्रकथनों को उचित-अनुचित कहा जाता है और नैतिक मूल्य को 'शुभ-अशुभ' की संज्ञा दी जाती है।

पर धर्म-संवाक्यों का सन्दर्भ अतीत परम सत् होता है जो इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। जिसे अनिर्वचनीय तथा 'मनसा, वाचा' से परे कहा जाता है। इसलिए धर्म-प्रकथनों को विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र तथा नीतिशास्त्र से सर्वथा भिन्न समझा जाता है। प्रायः धर्म-प्रकथनों को अनुपम एवं स्वजातिक (Sui generis) समझा जाता है। तब धर्म-प्रकथनों को क्या संज्ञा दी जाय ?

धर्म-भाषा उद्‌बोधक (evocative) होती है, क्योंकि यह भाषा परम सत् की बोधि, दिव्यज्योति तथा त्रिनेत्रीपन से उत्पन्न होती है। शुद्ध परम सत् के साथ साक्षात्कार होने पर भाषा 'मूक' हो जाती है। बृहदा० उप० III. ५ के अनुसार ब्रह्म-प्राप्त कर लेने के बाद साधक बाल-तुल्य हो जाता है और तब 'मुनि' और अन्त में अनिर्वचनीय ब्रह्म का रूप धारण कर लेता है। अतः, ब्रह्मस्थिति में मूक-भाषा हो जाती है। ठीक इसी प्रकार नागसेन ने राजा मिलिन्द को बताया कि 'निर्वाणं शान्तं'। जो बात परम सत् की सिद्धि के सन्दर्भ में कही गयी है, वह ईश्वरोपासना के प्रसंग में भी लागू है।

सत्य-असत्य प्रकथन वे हैं जिन्हें सत्यापित-मिथ्यापित किया जा सकता है, अर्थात् जिन प्रकथनों को प्रमाणित-अप्रमाणित किया जा सकता है। पर शंकर, रामानुज, कीर्केगोर्द इत्यादि ने सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। रामानुज और कॉण्ट ने अपने-अपने युग के सभी प्रमाणों का खण्डन किया है।

अतः, धर्म-प्रकथनों को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता है, पर इन्हें मंगलकारी-अमंगलकारी कहा जा सकता है। फिर अभ्युदयमूलक तथा संकीर्ण कहा जा सकता है। भारतीय दर्शन के प्ररिप्रेक्ष्य में धर्म-प्रकथनों को तामसिक, राजसिक तथा सात्त्विक संज्ञा दी जा सकती है।

निष्कर्ष : परम सत् तथा परमेश्वर महान्, अज्ञात और अज्ञेय है। मानव अपने स्वभाव-गुण से विवश होकर अज्ञात को अपनी ज्ञान-परिधि के अन्दर लाने का प्रयास करता है। परन्तु इष्टदेवता परम सत् के प्रतीक मात्र हैं जो सापेक्ष, परिवर्तनशील तथा युग एवं संस्कृति-निर्भर होते हैं। अतः, प्रतीकात्मक धर्म प्रकथनों को सत्य, असत्य नहीं पुकारा जा सकता है। इस बात को जान लेने पर प्रत्येक ईश्वरवादी का पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह शंकर के ब्रह्म-संबंधी अभेदमूलक सिद्धान्त के आधार पर उस स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास करें जिसमें हिंदू-सिख, मुसलमान-ईसाई इत्यादि का सब भेदभाव मिट जाय। इसी शांकर सिद्धान्त के आधार पर धर्मों की एकता प्राप्त हो सकती है।

●

अध्याय : १७

उपसंहार

हमलोगों ने पाश्चात्य और प्राच्य, परम्परागत तथा समकालीन धर्मदर्शनों का अध्ययन किया है। सामान्यतः पाश्चात्य धर्मदर्शन के एकांगीपन को हमलोगों ने प्राच्य धर्मदर्शन के अध्ययन के आधार पर दूर करने की कोशिश की है। फिर, भारतीय धर्मदर्शन की देवकथाओं तथा ईश्वरवाद के प्रतीकों के क्षीण हो जाने पर मानवतावाद का उदय हुआ है। इसमें भी बौद्धिक एवं सूक्ष्म प्रतीक हैं; उदाहरणार्थ जातिविहीन वर्गविहीन, शोषणमुक्त, सर्वहितपोषक और सर्वोदय समाज का प्रतीक। यह प्रतीक वर्गों के बीच संघर्ष के लिए पतित, दलित तथा सांस्कृतिक रीति से शोषित जातियों को उत्प्रेरणा प्रदान कर सकता है। परन्तु इस प्रतीक से व्यक्तिगत जीवन में मनोवैज्ञानिक स्तर पर नैतिक, निवेदित तथा त्यागी जीवन की उत्प्रेरणा नहीं मिलती देखी जाती है। प्रायः साम्यवाद से प्रोत्साहित क्रान्तियों में हिंसा का भाव दिखाई देता है; देश की संस्कृति तथा उसके न्यायधर्म के पक्ष साम्यवादियों को उत्प्रेरित नहीं करते हैं। पाश्चात्य ईश्वरवाद की देवकथा अभी भी पाश्चात्य सभ्यता के व्यक्तियों को अनुप्राणित करती है, यद्यपि अब इसका प्रतीक फीका पड़ता जा रहा है। यही बात शांकर सिद्धान्त के अन्तर्गत सगुणोपासना के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पाश्चात्य एवं प्राच्य परम्परागत धर्मदर्शन की अपेक्षा मानवतावाद का सामाजिक पक्ष सबल दीखता है, परन्तु इसका व्यक्तिगत पक्ष दुर्बल। फिर परम्परागत धर्मों के प्रतीकों की मनोवैज्ञानिक पर्याप्तता मानवतावाद के प्रतीकों की अपेक्षा अधिक मालूम पड़ती है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से पाश्चात्य ईश्वरवाद अनुभववादी आलोचनाओं से बुरी तरह घिर गया है। परन्तु, यदि ईश्वरवादी प्रकथनों को आत्मकथात्मक, देवकथात्मक और अस्तित्ववादी निर्णय माना जाय तो ईश्वरवाद अभी दार्शनिक दृष्टिकोण से सन्तोषजनक समझा जा सकता है। इस पुस्तक के दृष्टिकोण से भारतीय धर्मपरम्परा सामान्यतः आत्मविकासमूलक है और इसलिए इसके अनुसार धर्मप्रकथन प्रायः आत्मकथात्मक ही हो सकते हैं, जो व्यवहार द्वारा स्पष्ट होकर अर्थपूर्ण सिद्ध होते हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण से भारतीय धर्मपरम्परा अनुभववादी तथा अस्तित्ववादी प्रकथनों के रूप में सन्तोषजनक समझी जायगी। इस रूप में शायद बौद्ध-प्रकथनों को सबसे अधिक मान्यता दी जायगी। परन्तु बौद्धधर्मदर्शन को उतनी मनोवैज्ञानिक पर्याप्तता नहीं प्राप्त है जितनी सगुणोपासना को दी जा सकती है।

अन्त में, भारतीय धर्मपरम्परा में प्रारम्भ से ही सर्वधर्मसमन्वय का दर्शन पाया जाता है और यदि ईश्वरवाद को केवलैकेश्वरवाद के रूप में स्वीकार किया जाय तो इसमें धर्म-असहिष्णुता का बीज प्रारम्भ से ही देखा जाता है। अतः, विश्वधर्मदर्शन के रूप में अभी भी भारतीय धर्मपरम्परा को देखा जा सकता है। यदि धर्मपरम्परा के साथ मानवतावाद के आधुनिक रूप को सन्तोषजनक रीति से जोड़ दिया जाय तो यह विश्व का भविष्यधर्मदर्शन होगा। इसमें परम्परागत धर्मों के व्यक्तिगत विकास के मूल्यों एवं प्रतीकों के साथ विज्ञान तथा तकनीक पर आधृत समाजकल्याण, अन्तरराष्ट्रीयता, स्वतंत्र चुनाव इत्यादि को भी स्थान देना होगा। भविष्यधर्मदर्शन के लिए यह महान् समन्वय की विशेष चुनौती है।

●

परिशिष्ट–१

हिन्दू-धर्म

पाश्चात्य विचारकों की यह धारणा कि आर्य भारत में ईरान देश के आस-पास के भाग से आये, लगभग अब सर्वमान्य हो चुकी है। भारत में आने पर आर्यों के धर्म, संस्कृति तथा अन्य विचारों में अनेक परिवर्तन आ गये। प्रारंभ में आर्य ऐहिकता को मुख्य स्थान देते थे। वे पुत्र और धन-धान्य की कामना रखते थे और स्वर्गप्राप्ति को जीवन का अंतिम निःश्रेयस् स्वीकारते थे। स्वर्गप्राप्ति का मुख्य साधन वैदिक कर्म और यज्ञ माना जाता था। अब भी वैदिक यज्ञों की प्रथा है। पर इसका प्रचलन कम हो गया है। आर्यों की विचारधारा को भावात्मक और आशावादी कहा गया है।

आर्यों के भारत में आगमन के पूर्व निवासियों को द्राविड़ कहा गया है जो संभवतः सही नहीं है। तो भी प्राग्वैदिक भारतवासियों में आर्यों की अपेक्षा अधिक सभ्यता और संस्कृति थी। आजीविकावाद, जैन और बौद्ध धर्मों को प्राग्वैदिक स्वीकारा जा सकता है। इन धर्मों के विचारों में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति का चतुष्पदी स्तंभ देखा जाता है। 'संसार' से तात्पर्य है कि कर्म के अनुसार समस्त जीव-जगत् का आवागमन लगा रहता है। जैसा कर्म होगा ठीक तदनुरूप जीव को दूसरे जन्म में योनि प्राप्त होगी। परंतु अंतिम ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर जीव को दुःखपूर्ण संसार से मुक्ति प्राप्त हो जायगी। इस विचार-धारा के अनुसार सांसारिक जीवन दुःख-त्रय (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्या-त्मिक) से त्रस्त रहता है। स्वर्गप्राप्ति को अन्तिम निःश्रेयस् नहीं स्वीकारा जाता है, क्योंकि पुण्य के क्षय हो जाने पर मानव को फिर मर्त्यलोक में आना पड़ता है। चूँकि इस विचारधारा में संसार-विरक्ति और मुक्ति की बात कही गयी है, इसलिये इसे जगत्-पराङ्मुखता, पलायनवाद और निराशावाद की संज्ञा दी गयी है। स्वाइत्सर ने इसे संसार-जीवन-निषेध (World-and-life-negation) कहा है।

वर्तमान युग में ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, प्रार्थना-समाज इत्यादि सुधारवादी धाराओं का उदय हुआ है। तो भी 'हिंदू' का अर्थ विशेषतया सनातनी हिंदू धर्म ही माना जायगा और इसी सनातनी हिंदू धर्म के लक्षणों की चर्चा की जायगी। फिर यह भी स्वीकारा जायगा कि वर्तमानकालिक हिंदू धर्म वैदिक और अवैदिक धर्मों का अवियोज्य सम्मिश्रण है। प्राचीन देवी-देवता की पूजा के साथ इसमें गहन दर्शन की भी प्रबलता है। सर्प और वृक्ष-पूजा के साथ निरीश्वरवादी जैन और बौद्ध धर्म और अद्वैतवाद भी देखा जाता

है। हिंदू धर्म के मूल्यांकन करने में इसके अन्तर्गत धर्मदर्शन को ही विशेष स्थान देना चाहिये क्योंकि यही हिंदू मत का सार और प्राण है। इस धर्मदर्शन में अवैदिक कर्म-संसार-ज्ञान-मोक्ष के ही चतुष्पदी स्तंभ को विशेष स्थान दिया जाता है और स्वर्गप्राप्ति को गौण माना गया है। धर्मदर्शन की दृष्टि से शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत और भक्ति-परंपरा को मुख्य कहा जायगा।

धर्मग्रथ : 'वेद' से अर्थ है ज्ञान। वेद प्रथम मौखिक रूप में लगभग २५०० ई० पू० से लेकर १५०० ई० पू० तक माने जाते हैं। १५०० ई० पू० से लेकर १००० ई० पू० सप्तसिंधु में वेदों की रचना की गयी। प्रारम्भ में ऋक्, यजु और साम तीन वेद थे। बाद में अथर्ववेद को भी जोड़ लिया गया। ये चार वेद कविता के रूप में हैं। यज्ञों के विस्तार के साथ इनकी व्याख्या के लिये ब्राह्मण-संहिता (ई० पू० १०००-८००) की रचना हुई जिसे मानव का प्राचीनतम गद्य स्वीकारा गया है। कर्म-संसार ज्ञान-मोक्ष के विभिन्न पथों पर विचार होने पर गुह्य विद्या का प्रारंभ हुआ जिसे आरण्यक कहते हैं। अंत में इन्हीं आरण्यवासियों के द्वारा उपनिषदों की रचना हुई (ई० पू० ८००-६००)। श्रीमद्भगवद्गीता को भी उपनिषद् ही गिनना चाहिये, यद्यपि इसका स्थान इतिहास, अर्थात् महाभारत के शांतिपर्व में देखा जाता है। वास्तव में उपनिषद् और गीता हिंदुओं के सर्वप्रिय धर्मदार्शनिक धर्मग्रंथ हैं।

उपनिषदों को वेदों का अंत, अर्थात् 'वेदान्त' कहा जाता है। वेदों को श्रुति और अन्य बाद के धर्म-ग्रंथों को स्मृति कहा जाता है। याज्ञवल्क्य, गौतम, मनु आदि स्मृतिग्रंथ प्रमुख हैं। इन स्मृतियों को धर्मशास्त्र कहा गया है क्योंकि इनमें धर्म, आचार, समाज-व्यवस्था, कर्म-संस्कार इत्यादि की चर्चा है। मनुस्मृति अति प्रमुख धर्मशास्त्र है।

धर्मशास्त्रों के बाद इतिहास और पुराणों का स्थान आता है। इतिहास के अंतर्गत रामायण और महाभारत की गणना होती है। रामायण में मर्यादापुरुष राम का वर्णन आता है और महाभारत में गीता, पांचरात्र इत्यादि प्रमुख वैष्णव धर्म की चर्चा की गयी है।

पुराणों का समय ३०० ई० से लेकर १२०० ई० स्वीकारा जाता है। १८ पुराणों में विष्णु, ब्रह्मा और शिव भगवान् की गुण-गाथायें की गयी हैं। वैष्णव दृष्टि से भागवत-पुराण विशेष समझा जायगा।

भक्तिगंगा दक्षिण भारत में आलवारों के भक्ति संगीत में बही और इनके ग्रंथ को तमिलवेद भी कहते हैं। इन्हें नलयिरा प्रबंधम् की संज्ञा दी गयी है। रामानुजाचार्य के भक्तिदर्शन में आलवारों की भक्ति को समाविष्ट किया गया है।

हिंदुओं के लिये वेद को विशेष स्थान दिया जाता है क्योंकि इसमें हिंदू मत, आचार

और दर्शन रखा हुआ है। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं, अर्थात् ये शाश्वत, नित्य और अनादि हैं। इनका कोई रचयिता नहीं है। चूँकि मीमांसक सृष्टि-प्रलय के चक्र को नहीं स्वीकार करते, इसलिये वे वेद को भी विश्व के समान नित्य समझते हैं। इस विचार की तुलना में न्यायदर्शन वेद को पौरुषेय समझता है, अर्थात् इसे ईश्वर-प्रदत्त स्वीकारता है। चूँकि ईश्वर परम आदिपुरुष है, इसलिये ईश्वर-प्रदत्त वेद को पौरुषेय कहा गया है। चूँकि ईश्वर सत्य है, इसलिये न्याय के अनुसार वेद को सर्वस्वीकृत मानना चाहिये। शंकराचार्य वेद को अनादि मानते हैं। पर ब्रह्म-ज्ञान हो जाने पर वेदों का भी विलयन हो जाता है, यह शांकर मत है।

वेदों को नित्य और अनादि मानने के कारण हिन्दू मत के अनुसार यवन एवं म्लेच्छों के धर्मग्रन्थों को मान्यता नहीं दी जा सकती है क्योंकि वे बहुत बाद की रचनायें हैं जिन्हें मानव-बुद्धि के द्वारा रचा गया है।

दर्शन : 'दर्शन' से तात्पर्य है परम तत्त्व का साक्षात्कार। इस प्रकार से हिन्दू दर्शनों को विभिन्न दृष्टियाँ समझना चाहिए। इन्हें आस्तिक और नास्तिक दो भागों में बाँटा गया है। जो वेदों को अन्तिम शास्त्र नहीं स्वीकारते उन्हें नास्तिक और जो वेदों को तत्त्वविचार का मूलग्रन्थ स्वीकारते हैं उन्हें आस्तिक कहते हैं।
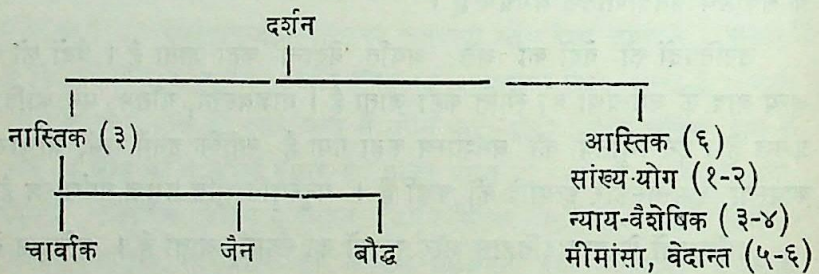
हिन्दू धर्म के सामान्य लक्षण

१. सर्वप्रथम, कर्म-संसार-ज्ञान-मोक्ष का चतुष्पदी स्तम्भ हिन्दू धर्म को पैगम्बरी धर्मों से विभिन्न कर देता है। ये सिद्धान्त इतने मौलिक हैं कि ये हिन्दुओं के सभी धार्मिक अनुष्ठानों को स्पष्ट करते हैं। कर्म-सिद्धान्त अवैदिक अजीविकावाद से प्रारम्भित होकर जैन, बौद्ध, हिन्दू, सनातन धर्म तथा सिख धर्म में भी पाया जाता है। पहले तो कर्मवाद नियतिवाद में परिणत हो गया, पर बाद में गीतानुसार ईश्वर के अधीन ही कर्म रहता है। अन्त में कर्मवाद रामानुज के कर्मज्ञान-समुच्चयवाद में देखा जाता है जिसका पूर्ण रूप रामानुजी भक्ति-सिद्धान्त में परिणत हो जाता है। इसी कर्मवाद को अपना लेने पर मानव जीवन की अशुभ-समस्या का समाधान मानव पर निर्भर माना जाता है, अर्थात् मानव का दुःख-सुख, शरीर, योनि, समाज में स्थान इत्यादि उसके पूर्वजन्म का कर्मफल

माना जाता है। ईश्वर मानव के दुःख-सुख का उत्तरदायी नहीं; वह केवल कर्मफलदाता ही कहा जा सकता है। फिर वास्तव में सनातनी हिंदू धर्म में नरक की व्यवस्था नहीं है क्योंकि जीव इसी सांसारिक चक्र में रहकर अपने कर्मों का भोग करता रहता है।

सिद्धान्ततः 'कर्म' से अर्थ है वैदिक अनुष्ठान, पर इसे आचार में भी प्रयुक्त किया गया है। नैतिक रूप से कर्म चार प्रकार के हैं, अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध। नित्य (संध्यावंदना), नैमित्तिक (उदा०, शुभ अवसरों पर कर्म), दोनों सदा करते रहना चाहिये। काम्य जिससे पुण्य प्राप्त होता है। उदा०, यज्ञ आदि (स्वर्गकामो यजेत)। निषिद्ध कर्म वास्तव में शास्त्रों के द्वारा नहीं करने का आदेश है।

गीता के अनुसार निष्काम कर्म को विशेष स्थान दिया गया है, अर्थात् अपने वर्णाश्रम कर्त्तव्यों का पालन कर ईश्वर पर फलों को अर्पित कर देना चाहिये।

'ज्ञान' से अर्थ है ब्रह्म-ज्ञान तथा तत्त्व-ज्ञान। जन्म-जन्मान्तर-सिद्धान्त जिस प्रकार से हिंदू-दर्शन और धर्म-विचार का अंतरंग है, उस प्रकार का विचार अन्यत्र नहीं पाया जाता है। कहीं-कहीं पाश्चात्य विचारकों में भी आकस्मिक रूप से यह पाया जाता है।

२. **वर्णविचार** को हिंदू धर्म की दूसरी विलक्षणता मानना चाहिये। ऋग्वेद में कर्मणा ब्राह्मण (पुजारी), क्षत्रिय (योद्धा) और वैश्य (व्यापारी) का उल्लेख आता है। पर भारत में आने के बाद ही आर्यों का संबंध दास/दस्युओं से हुआ जिन्हें काले रंग का, चिपटी नाक और मोटे ओंठवाला बताया गया है। इन्हीं लोगों को संभवतः 'शूद्र' संज्ञा दी गयी थी। ऋग्वेद १०:९० स्तोत्र में ही चार वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख आया है। इस स्तोत्र के अनुसार आदिपुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जाँघ से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए, अर्थात् समाज-व्यवस्था को जैविक रूप से संतुलित स्वीकारा गया है।

प्रारंभ में वर्ण-व्यवस्था संभवतः जन्मना न होकर कर्मणा ही थी और वर्णों में विजातीय अनुलोम और प्रतिलोम, दोनों प्रकार के विवाह का प्रचलन था। विदुर की माता शूद्र थी, वशिष्ठ ऋषि का जन्म वेश्या से हुआ था, व्यास की माता मछुवाइन थी और पराशर मुनि की माता चांडाल थी। भक्ति-परंपरा में जातिभेद नहीं स्वीकारा जाता है: जातिपाँति न पूछै कोय, हरि को भजे सो हरि का होय। प्रबुद्ध हिन्दू समाज-सुधारकों ने वर्ण-विचार को नहीं स्वीकारा है, उदा०, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण आश्रम इत्यादि। उपनिषद् के सत्यकामा के उदाहरण से भी यह बात टपकती है कि ब्राह्मण कर्म से न कि जन्म से जाना जाता है।

३. **वर्णाश्रम :** पूर्व ही में कहा गया है कि शुद्ध वैदिक आर्य जीवन को सुखमय समझते थे और संसार के प्रति इनका विचार वास्तववादी तथा आशावादी था। जब ये आर्य अवैदिक जैन और बौद्ध धर्मों के सम्पर्क में आये तो इन्हें स्वर्गप्राप्ति के स्थान पर

मुक्ति तथा निर्वाण-गति का विचार अधिक प्रिय लगा। पर जैन-बौद्ध धर्मों में बिना भिक्षु बने हुए निर्वाण-गति नहीं प्राप्त हो सकती है। आर्यों ने वैदिक और अवैदिक, दोनों विचारों का सम्मिश्रण कर चार आश्रमों की स्थापना की है, अर्थात् ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ में रहने पर सांसारिक ज्ञान और उसके अभ्युदय का उद्देश्य बना रहता है। जब सांसारिक जीवन के कर्त्तव्यों का पालन हो जाता है तब वानप्रस्थ और संन्यास की व्यवस्था मानी गयी है। मंडन मिश्र गार्हस्थ में भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव मानते हैं। पर शंकर बिना संन्यास के ब्रह्मज्ञान की सम्भावना नहीं स्वीकारते हैं।

वर्णाश्रम धर्म के मानने पर निवृत्ति (अर्थात् सर्वकर्म-संन्यास, उदा० शंकर) और प्रवृत्ति मार्ग (वर्ण के अनुसार कर्मनिष्ठा), दोनों का समन्वय हो जाता है। इसका समन्वय गीता के निष्काम कर्मनिष्ठा में देखा जाता है।

४. **पुरुषार्थ** : जीवन के परम लक्ष्यों को पुरुषार्थ कहते हैं। ये चार प्रकार के हैं, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यहाँ भी लौकिक और पारलौकिक, दोनों प्रकार के लक्ष्यों के बीच समन्वय देखा जाता है। अर्थ (धन-संचय) और काम (इन्द्रिय-सुख-भोग) का विषय सांसारिक है और धर्म और मोक्ष का संदर्भ पारलौकिक है। अर्थ-काम की प्राप्ति के लक्ष्य को ऐहिक कहा जायगा जिसमें जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टि पुष्ट होती है; तथा धर्म-मोक्ष के द्वारा विश्व के प्रति नकारात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। अतः, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के पुरुषार्थ में एक संतुलित एवं समन्वयात्मक परम लक्ष्य का बोध होता है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग परिलक्षित हो जाते हैं। जिस प्रकार आश्रम-विचार में वैदिक और अवैदिक, दोनों धाराओं का समन्वय देखा जाता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ में भी दोनों धाराओं का सम्मिश्रण दिखाई देता है। 'धर्म' से अर्थ है कि धर्मशास्त्रों के द्वारा विहित कर्म-अनुष्ठान, उदा० जप-तप, यज्ञ तथा निषिद्ध कर्मों का प्रायश्चित इत्यादि। 'धर्म' के अन्तर्गत वर्णाश्रम कर्त्तव्यों का प्रतिपालन भी सम्मिलित है। अतः 'धर्म' व्यापक शब्द है जिसमें शास्त्रीय और नैतिक, दोनों प्रकार के कर्म गिने जाते हैं।

'मोक्ष' की व्याख्या बाद में की जायगी। यहाँ इसका अर्थ होता है संसार-चक्र से मुक्ति। शंकर केवल ब्रह्मज्ञान के ही आधार पर मोक्ष की संभावना स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत रामानुज ज्ञान-कर्म-भक्ति के समुच्चय के आधार पर मोक्ष संभव मानते हैं। फिर शंकर के अनुसार मोक्ष-गति में ब्रह्म में जीव का विलयन हो जाता है, पर रामानुज के अनुसार जीव-ब्रह्म एक नहीं है। जीव ब्रह्म का अवियोज्य शारीरिक अंग है। मोक्ष गति में साधक ईश्वर-सान्निध्य प्राप्त कर ईश्वर की दासता अथवा कैंकर्य-भाव को प्राप्तकर बैकुंठवासी होता है।

अर्थ-काम के पुरुषार्थ पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदुत्व को कोरा पारलौकिकवादी तथा पलायनवादी नहीं कहा जा सकता । पर यह ठीक है कि अर्थ-काम के लक्ष्यों का धर्म और मोक्ष के निःश्रेयस के द्वारा नियंत्रित और अनुशासित रहना चाहिये । अतः, पुरुषार्थ की शिक्षा के आधार पर हिंदुत्व को आध्यात्मिक मानव का सर्वोच्च प्रयास समझना चाहिये । संपूर्ण जीवन में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह का पंच महाव्रत देखा जाता है ।

हिंदू रीति-रिवाज़ और प्रथा

जन्म से लेकर मरणपर्यन्त धार्मिक अनुष्ठानों का विधान है । नामकरण और अन्न-प्राशन शिशु काल में, उपनयन युवाकाल के पूर्व, विवाह और अन्त में श्राद्ध का प्रावधान है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये उपनयन आवश्यक है क्योंकि यज्ञोपवीत बिना किसी को भी द्विज अथवा वेद का अधिकारी हिंदू नहीं कहा जा सकता है । शूद्र का उपनयन नहीं होता और उसे वेद का अधिकारी पाठक नहीं स्वीकारा जाता है ।

दैनिक दिनचर्या के लिये स्नान, संध्यावन्दना, गायत्री मंत्र का जप, ईष्टदेवता की पूजा तथा स्वाध्याय (शास्त्रों का अध्ययन) इत्यादि आवश्यक है । गायत्री मंत्र

तत् सवितुर् वरेण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि,
धीयो यो नः प्रचोदयात् ।

(भावार्थ—परम ज्योतिमय सूर्य भगवान् पर ध्यान करें ताकि हमारे मन अनुप्राणित हों) ।

प्रायः इष्टदेवता की मूर्त्ति की पूजा की जाती है । यह मूर्त्ति 'अर्चा' कही जा सकती है जिसमें ईश्वर का वास माना जाता है । पर मूर्त्ति की नहीं, वरन् उस ईश्वर की पूजा की जाती है जो सभी वस्तुओं में वास करता है । मूर्त्ति केवल ध्यान को स्थिर करने का मात्र साधन है । योगाभ्यास में भी किसी न किसी मूर्ति या वस्तु को ध्यान का अवलंब बनाया जाता है । अतः, हिंदू मूर्तिपूजक नहीं, वरन् अधिकांशतः ईश्वरोपासक कहे जा सकते हैं ।

हिंदू-जीवन क्रिया-कलापों से घिरा रहता है । अनेक पर्वों के अतिरिक्त प्रत्येक सप्ताह के किसी एक दिन को उपवास और व्रत का दिन गिना जाता है । फिर एकादशी, पूर्णमासी और अमावस्या को भी व्रत और उपवास दिवस समझा जाता है ।

होली, दुर्गापूजा तथा छठ प्रमुख पर्व हैं । इनके अतिरिक्त पश्चिम भारत में विजयादशमी के साथ रावण-वध दिवस मनाया जाता है । बम्बई तथा महाराष्ट्र में दीपावली को बहुत बड़ा पर्व माना जाता है । पर छठ बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश का अतिप्राचीन प्रायश्चित एवं मनौती का पर्व है जिसमें सूर्य भगवान् की पूजा की जाती है ।

तीर्थयात्रा की प्रथा सिंधुतट सभ्यता के काल से ही देखी जाती है। तीर्थस्थानों की यात्रा से स्वास्थ्यलाभ होता, संत-समागम के साथ पवित्र विचारों का आदान-प्रदान होता है। प्रयाग, गया, हरिद्वार, वृन्दावन तथा शंकराचार्य-स्थापित चार धाम सम्पूर्ण भारत के भ्रमण के लिये पर्याप्त कहा जा सकता है। तीर्थभ्रमण से मन पवित्र हो जाता है तथा स्वदेश-प्रेम भी जग जाता है।

ईश्वर-विचार

हिंदू धर्म लगभग ५००० वर्षों से विराजमान है। इस लम्बी अवधि में विविध देवी-देवताओं की पूजा देखी जाती है। ऋग्वेद के १०:९० तथा १०:१२१ (हिरण्यगर्भ) तथा १०:१२९ (नासदीय) सूक्तों में अधिक एकत्ववाद (monism) है और कम अंश में एकेश्वरवाद दिखाई देता है। परन्तु हिंदू सनातन धर्म में ईश्वरवाद विशेष रूप से पाया जाता है। तब प्रश्न होता है, क्या अनेकेश्वरवाद (polytheism) हिंदू धर्म में नहीं देखा जाता है?

छिछले रूप से देखने पर हिंदुओं में अनेकेश्वरवाद अवश्य दिखाई देता है, पर अनेक देवी-देवताओं की आधारभूत सत्ता एक ईश्वर ही समझा जाता है। सर्वप्रथम, कार्य दृष्टि से एक ही ईश्वर के तीन रूप माने गये हैं, जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश की संज्ञा दी गयी है। मीमांसा को छोड़कर अन्य हिंदू विचारक की मान्यता है कि सृष्टि-चक्र होता रहता है। इस चक्र में ब्रह्मा को सृष्टि-रचयिता, विष्णु को सृष्टि-पालक और महेश को सृष्टि-संहारक कहा गया है। प्राग्वैदिक काल से ही देवियों की पूजा होती रही है। काली, दुर्गा, सरस्वती और लक्ष्मी मुख्य पूज्य देवियाँ हैं। इन्हें ईश्वर की शक्तियाँ समझा जाता है।

मूर्त्तियों पर ध्यान पर लगाना, लिङ्ग-पूजा, वृषभ-मर्यादा, देवी-पूजा, वृक्ष-सर्प-पूजा इत्यादि प्राग्वैदिक हैं और इनका संदर्भ सिंधुतट सभ्यता के साथ है। अब जब ईश्वरवाद और अद्वैतवाद को स्वीकारा गया है तब इन विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा क्यों अब तक चल रही है? इसका कारण है कि जैन-बौद्ध तथा शांकर मतों के अनुसार बिना भिक्षु तथा संन्यास धारण किये हुए मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। फिर इन मतों की विशेषता है कि बिना अधिकारी हुए कोई मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। अधिकारी होने में पूर्वजन्म के संचित पुण्यकर्म का हाथ रहता है। अतः, कर्मवाद को अपनाते हुए विशेषकर बौद्ध धर्म में प्रचलित पूजाओं को छेड़ना ठीक नहीं माना। इसलिये तब से लेकर आज तक प्राचीन पूजायें अभी भी प्रचलित देखी जाती हैं। हाँ, इन पूजाओं को अन्त में अज्ञानवश केवल एक ही ईश्वर की एकपक्षीय आराधना मानी जाती है (गीता ४:११; ७:२१-२४)।

अन्त में, हिंदू धर्म में ईश्वरवाद और ब्रह्म-प्राप्ति के दो प्रधान मत हैं। ईश्वरवाद

की विशेष शिक्षा गीता के भक्ति-मार्ग में देखी जाती है। ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण, सर्व-शक्तिमान, भक्त-वत्सल तथा करुणामय समझा गया है। भगवान् के छः गुणों को पाँच-रात्र में बताया गया है जिन्हें शंकर और रामानुज, दोनों ने स्वीकार किया है। ये छः गुण हैं; ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस्। हिंदू ईश्वरवाद की विशेषता है कि इसमें अवतारवाद चला आता है। अवतारवाद अजीविकावाद में ही देखा जाता है। पर पुराणों और गीता में अवतारवाद का मुख्य स्थान देखा जाता है। गीता ४:७ की प्रसिद्ध उक्ति है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

(हे भारत! जब-जब ही धर्म का ह्रास होता है, तब धर्म के उत्थान के लिये मैं अपने को सृष्ट करता हूँ, अर्थात् अवतार लेता हूँ)।

इस सन्दर्भ में दस अवतारों की चर्चा की गयी है, अर्थात् मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। इन दस अवतारों में राम और कृष्ण को विशेष समझा जाता है। राम को भगवान् का आंशिक और कृष्ण को भगवान का पूर्ण अवतार माना गया है।

रामानुज का ईश्वरवाद बहुत ही प्रमुख है क्योंकि इसमें तीनों मार्गों तथा उपनिषदों के विभिन्न पक्षों को न्यायसंगत रीति से सूत्रबद्ध किया गया है। पर ईश्वरवाद अधिकांश व्यक्तियों के लिए लाभप्रद रहते हुए भी इसमें द्वैतवाद आ जाता है। भक्त और भगवान् का भेद रहने पर भक्तों के बीच शैवों और वैष्णवों का कलह आ जाता है। अतः, सभी प्रकार के द्वैतवाद को दूर करने के लिए शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की है जिसका उल्लेख पृ० ३३-४०; १०७-११५ में कर दिया गया है।

न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारण मात्र है क्योंकि वह अणुओं का और मानवों के कर्मों का रचयिता नहीं है। अणु और कर्म वे उपादान (matter) हैं जिनके द्वारा ईश्वर प्रलय के बाद इस जगत् की सृष्टि करता है। शंकराचार्य ईश्वर को अन्तिम सत्ता नहीं स्वीकारते हैं। ईश्वर व्यावहारिक सत्ता है पर उसे मायापूर्ण कहा गया है। हाँ, ईश्वर माया के वश में नहीं होता, बल्कि स्वयं माया ईश्वर के वश में रहती है। यह ईश्वर (सगुण ब्रह्म) जगत् का निमित्त और उपादान, दोनों प्रकार का कारण होता है। रामानुजाचार्य के अनुसार चित् और अचित् (अर्थात् जीव और जगत्) दोनों ईश्वर का शरीर है और ईश्वर उसकी अन्तर्यामी आत्मा। अतः, ईश्वर से परे और अतीत कोई निर्गुण ब्रह्म नहीं है और न कोई माया।

जगत्-विचार

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच तत्त्व हैं जिनसे इस जगत् की रचना

बतायी गयी है। इन पंचभूतों में आकाश को छोड़कर अन्य चारों तत्त्वों की रचना परमाणुओं के द्वारा की गयी है। न्यायवैशेषिक दर्शन में परमाणुओं को स्थूल रूप देने के लिए अद्भुत शक्ति और ज्ञान की आवश्यकता मानी गयी है जिसे ईश्वर-संज्ञा दी जा सकती है।

मीमांसक और जैन, जगत् को नित्य और शाश्वत् मानते हैं। वे इसकी सृष्टि नहीं स्वीकारते हैं। पर अन्य अधिकांश हिन्दू स्वीकारते हैं कि सृष्टि-प्रलय का चक्र चलता रहता है। प्रत्येक सृष्टिकाल के चार युग होते हैं, अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग; और प्रत्येक युग के अनुरूप धर्म भी हुआ करते हैं। यह ठीक है कि ईश्वर अपने में सम्पूर्ण है और उसमें किसी बात का अभाव नहीं जिसके कारण सृष्टि-रचना की आवश्यकता पड़े। पर ईश्वर सर्वकालिक स्रष्टा है और अपनी शक्ति के बाहुल्य के वशीभूत होकर वह सदैव सृष्टि करता रहता है। इस सतत सर्जनात्मकता को लीला-संज्ञा दी गयी है। पर ईश्वर को करुणामय और भक्तवत्सल भी कहा गया है। इसलिए भक्तों के आर्तक्रन्दन से विह्वल होकर ईश्वर इस सृष्टि की ऐसी व्यवस्था कर देता है कि मानवों को ऐसा सुअवसर प्राप्त हो जिसमें वे अपने कर्म-बन्धन से मुक्त होकर अपने निःश्रेयस् को प्राप्त करें। अतः, ईश्वर की दृष्टि से यह जगत् ईश्वर का क्रीड़ा-क्षेत्र है, पर मानव की दृष्टि से यह जगत् मानव की कर्मभूमि है। मानव चाहे तो इस संसार में रहकर कर्म-बन्धन एवं अज्ञान से मुक्त होकर अपना निःश्रेयस् प्राप्त कर सकता है। रामानुजी दृष्टि के अनुसार मानव का असली स्वरूप है कि वह ईश्वर-निर्भर रहे, क्योंकि ईश्वर की दासता ही परम मुक्ति है। अतः, इस जगत् में रहकर मानव का परम लक्ष्य है कि इस जगत् को ब्रह्ममय रूप दिया जाय। रामानुजी वास्तववादी हैं और वे इस संसार को सत्य मानते हैं। इसके विपरीत शंकर विश्व को माया समझते हैं। परन्तु शंकर के अनुसार ब्रह्मज्ञानी अपने परमार्थदर्शन से समझता है कि जगत् मिथ्या है। जब तक ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो जाता तब तक इस संसार को व्यावहारिक रीति से सत्य ही समझना चाहिए। चूँकि ९९ प्रतिशत व्यक्ति वास्तव में व्यावहारिक सत्ता में ही रहते हैं, इसलिए जनसाधारण के लिए यह जगत् सत्य है और इसमें उन्हें रहकर इस जगत् को वर्णाश्रम धर्म का तथा भक्ति का कर्मक्षेत्र ही स्वीकारना चाहिए। अतः, जनसाधारण के लिए यह जगत् मानव का कर्मक्षेत्र है और मानव के लिए पलायनवाद की शिक्षा सार्थक नहीं कही जायगी।

सांख्यदर्शन के अनुसार इस जगत् के भौतिक पक्ष को प्रकृति-संज्ञा दी जा सकती है। प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस् तीन धर्म अथवा गुण है। प्रकृति को परिणामी-नित्य कहा गया है, अर्थात् यह नित्य परिवर्तनशील है। इसके विपरीत जीवों की नित्य आत्मा निष्क्रिय, अकर्त्ता और अभोगी है। मानव अज्ञानवश प्रकृति के साथ आत्मसात् कर अपने को कर्त्ता और सुख-दुःख भोगी समझता है। इस दृष्टि से भी जगत् को सार्थक

कहा गया है क्योंकि सांख्य के अनुसार विश्व-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य है कि जीवों विवेकख्याति हो, अर्थात् प्रत्येक जीव को इसका भान हो जाय कि वह अकर्त्ता और निष्क्रिय शुद्ध चैतन्यपूर्ण है और सभी प्रक्रियायें स्वयं प्रकृति से ही संचालित होती हैं।

अतः जगत् को मोक्षप्राप्ति का कर्मक्षेत्र माना गया है और इसी दृष्टि से विवेकानन्द का आह्वान् है :

'उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत', अर्थात्
उठो, जागो और तब तक रुको नहीं, जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाय।
"वत्स, मैं चाहता हूँ लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु, जिनके अन्दर ऐसे मन का वास हो, जो वज्र के उपादानों से गठित हो।"

अतः यह संसार, सेवा और त्याग का कर्मक्षेत्र है कि इसे ब्रह्ममय रूप में प्रवर्तित किया जा सके।

जीव-विचार

मानव को जीव कह सकते हैं। इसमें शरीर और आत्मा का योग है। शरीर व्यक्ति के पूर्वजन्म के कर्मसंस्कार का फल होता है और इसी शरीर के रहने से मानव की अनंत चेतना और शक्ति सीमित हो जाती है। यह है मानव-बंधन। मानव-बंधन क्यों और कैसे हुआ इसका उत्तर देना कठिन है। शंकर-सांख्य के अनुसार अज्ञान (अविद्या) के कारण मानव का बंधन हुआ है और रामानुज के अनुसार बंधन कर्म द्वारा हुआ। पर मानना पड़ेगा कि कर्म भी बिना अज्ञान के बन्धन का आधार नहीं हो सकता है। अतः, शंकर अज्ञान को और रामानुज कर्म को आदि-अनादि बंधन का आधार मानते हैं। पर दोनों ही स्वीकारते हैं कि मानव-बंधन का अंत अवश्य होता है। पर जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से मुक्त होने पर क्या जीव का विलयन हो जाता है?

नहीं। मानव आत्मा अमर है और इसकी चर्चा गीता, अध्याय २:१९-२४ में बतायी गयी है कि मानव आत्मा अजर, अमर, विकार-रहित, अजन्मा और नित्य है। पर अज्ञानवश जीव अपने को दुःखी, अशान्त और भयभीत पाता है। तब मानव का क्या कर्त्तव्य है?

मानव को अपने वर्णाश्रम कर्त्तव्यों का पालनकर चारों पुरुषार्थ को साकार करना चाहिये। कर्म पर बल देनेवाले वैदिक अनुष्ठान पर बल देते हैं, पर साथ ही साथ नैतिक गुणों को भी अपनाने का आदेश देते हैं। मनु के अनुसार दस नैतिक गुणों को अपनाना चाहिये, अर्थात् धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। जैनियों के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पाँच महाव्रत को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है। दो मुख्य प्रश्न उठते हैं :

(क) क्या मानव अपने ही बल पर नैतिकता प्राप्त कर सकता है ?

(ख) जब कर्म से बन्धन होता है तब कर्म से छुटकारा कैसे होगा ?

दोनों ही प्रश्नों का उत्तर गीता के द्वारा दिया जा सकता है । कर्म दो प्रकार के हैं, सकाम और निष्काम ।

सकाम कर्म से बन्धन हो सकता है, पर निष्काम कर्म से नहीं । निष्काम कर्म भक्ति द्वारा सम्पन्न हो सकता है । ईश्वर से बल प्राप्तकर मानवों को अपने वर्णाश्रम धर्म को निभाना चाहिये, अर्थात् कर्त्तव्यों को ईश्वर को अर्पितकर किसी भी कर्म की फलेच्छा नहीं रखनी चाहिये ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' ।—गीता २:४७ ।।

अर्थात् कर्म करने का ही अधिकार मानव को है, पर उन कर्मों के फल को ईश्वर को अर्पित कर देना चाहिये । यही बात कॉट महोदय ने बतायी थी कि सभी कर्त्तव्यों को ईश्वर की आज्ञा (आदेश) समझकर उनका प्रतिपालन करना चाहिये । फिर रामानुज ने ईश्वर के अनुग्रह पर बहुत बल दिया है । ईश्वर के अनुग्रह से मानव अपने कर्त्तव्यों के प्रतिपालन करने में समर्थ हो जाता है । प्रभु कृपा से 'मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन' । यह सिद्धान्त भी ईसाइयों के ईश्वरीय अनुग्रह से मिलता-जुलता है ।

अत: निष्कर्ष हुआ कि ईश्वर की भक्ति के फलस्वरूप ही सकाम कर्म निष्काम कर्म में परिणत हो जाता है और इस निष्काम कर्म के द्वारा भक्त को मोक्ष-गति प्राप्त होती है ।

मानव के नैतिक आचरण के सन्दर्भ में मानव की इच्छा-स्वतन्त्रता के विषय में सामान्य और विशिष्ट रूप में प्रश्न उठाया जाता है ।

१. जब मानव पूर्वकर्मसंस्कार के फलस्वरूप जकड़ा हुआ रहता है तब वह किस प्रकार किसी भी काम के करने में स्वतन्त्र हो सकता है ?

२. रामानुज के अनुसार जीव का स्वभावगुण है कि ईश्वर के शरीर-रूपी अंग के आधार पर वह ईश्वर पर एकदम निर्भर रहे । तब इसी अति निर्भरता के कारण उसमें (जीव में) किस प्रकार इच्छा-स्वातंत्र्य सम्भव हो सकता है ?

इन दोनों प्रश्नों का उत्तर पृ० १०१-१०३ में दे दिया गया है जिसकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं करनी चाहिये ।

अशुभ की समस्या

सांख्य दर्शन, जो अति प्राचीन दर्शन है, के अनुसार जीवन दु:खमय है और इसमें विशेष दु:खत्रय की चर्चा की गयी है, अर्थात् आध्यात्मिक (शारीरिक एवं मानसिक व्याधि, तृष्णा, क्रोध इत्यादि से उत्पन्न), आधिभौतिक (प्रकृति से उत्पन्न) और आधि-

दैविक (पारलौकिक सत्ताओं से उत्पन्न जिसमें प्राकृतिक प्रकोप, उदा०, बाढ़-सूखा, महामारी इत्यादि)। जीवन में सर्वत्र दुःख को देखकर बुद्ध भगवान् ने जरा-मरण का संदेश दिया था। चूँकि सांसारिक जीवन को सर्वथा दुःखमय समझा गया है, इसलिये भारतीय धर्मदर्शन को निराशावादी समझा गया है। यहाँ इतना ही भर स्मरण रखना चाहिये कि दुःख का सन्दर्भ मुक्ति-प्राप्ति का सन्देश है। इस प्रकार के सन्देश में सभी धर्मों में संसार को निस्सार समझा गया है। यह कोई हिन्दू धर्मदर्शन की विशेषता नहीं है। इसके विपरीत, अन्य धर्मों की अपेक्षा इसमें मुक्ति-मार्ग एवं मुक्ति की वास्तविकता पर बल दिया गया है और मुक्तिदशा को आनन्द की संज्ञा दी गयी है। फिर सिद्धान्ततः हिन्दू धर्म में नरक की यातना का प्रावधान नहीं है क्योंकि जीव अपने कर्मों के फलों को जन्म-जन्मान्तर जीवन में भुगत लेता है।

चूँकि जीव के अनेक जन्म होते हैं और फिर सृष्टि-प्रलय का कालगत चक्र चलता ही रहता है, इसलिये इस विधान में ईश्वर नहीं, स्वयं मानव अपने ही पूर्वकर्मों का फल भोगता है। इसलिये मानव ही जीवन की सभी अशुभ घटनाओं तथा अशोभन इवं अप्रिय तृष्णाओं का उत्तरदायी रहता है। इसकी तुलना में जहाँ एकबार ही (नबीमूलक धर्म में) ईश्वर द्वारा सृष्टि का मंतव्य है वहाँ किसी न किसी रूप में ईश्वर मानव अशुभ का कर्त्ता और उत्तरदायी हो जाता है। इस मत को ईश्वरवाद के पक्ष में दोषपूर्ण समझा जायगा। फिर इसी एक जीवन में मानव को कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ता है और असफल हो जाने पर नवीमूलक धर्मों में शाश्वत नरक-यातना का प्रावधान किया जाता है। पर परम करुणामय ईश्वर किस प्रकार अपने ही हाथों से सृष्ट मानव को शाश्वत नरक-पीड़ा में देखकर चुपचाप रह सकता है? ईश्वर स्वयं क्रूर प्रकृतिवाला सिद्ध हो जाता है। अत, हिन्दू विचारधारा में मानव अपने ही भाग्य का निर्माता है, अपने अशुभ का जन्मदाता है और उसे ही या तो अपने कर्मों का दुःख भुगतना पड़ता है, या ऐसा प्रयास करना पड़ता है कि उसे दुःखों से छुटकारा मिल जाय। यदि हिन्दू धर्मदर्शन के इस सिद्धान्त को ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ आश्रम का सन्देश मान लिया जाय तो मानव अपने ऐहिक जीवन का स्वयं निर्माता कहा जायगा। वास्तव में निरीश्वरवादी जैन और बौद्ध धर्मों में मानव स्वयं अपना विधाता कहा गया है। बुद्ध भगवान् का अन्तिम सन्देश है, 'अप्पो दीपो भव'।

हिन्दू मत में जीवन दुःखमय है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन में सुख नहीं पाया जाता है। यदि ऐंद्रिय सुख तथा बौद्धिक सुख नहीं होता तो जीवन की लालसा ही क्यों होती,—भव-तृष्णा ही क्यों रहती। पर जरा और अन्त में मरण भी तो अनिवार्य है। जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः (जन्म लेनेवालों की मृत्यु भी निश्चित ही है)। चूँकि इस सन्दर्भ में जन्म, जन्मान्तर को निश्चित मंतव्य स्वीकारा गया है, इसलिये जीवन को

सिद्धान्ततः दुःखमय समझा गया है और मानव को ही अपने भाग्य का दोषी ठहराया गया है।

कठोर कर्मवाद स्वीकारने पर नियतिवाद निखर आता है और वर्ण-विचार की आधारभूमि में शूद्रों को इस जीवन में किसी प्रकार की आशा नहीं दिखती है। पर सर्वप्रथम देखा जाता है कि वर्ण-विचार सिद्धान्ततः जन्मना है, न कि कर्मणा। द्वितीय चूँकि ब्राह्मण भी जरा-मरण के शिकार होते हैं, इसलिये उन्हें भी सांसारिक दुःख से मुक्ति की आवश्यकता दिखाई देती है। यहीं ईश्वरवाद की उपयोगिता देखी जाती है।

सर्वप्रथम, ईश्वर कर्मफलदाता है। यदि इतनी ही दूर तक ईश्वर की आवश्यकता होती, तो निरीश्वरवादी मीमांसकों की ही बात सही होती कि पूर्वकर्म-संस्कार (अदृष्ट) अपूर्व के रूप में अपने आप शुभ-अशुभ में परिणत होते रहेंगे और ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझी जा सकती है। पर ईश्वरवादियों के अनुसार भक्ति से द्रवित होकर अपनी अनुग्रह-शक्ति के दान से ईश्वर अपने भक्तों का गजेन्द्र-मोक्ष कर देते हैं।

शंकर अद्वैतवादी थे। उनके अनुसार दो प्रकार से अशुभ सांसारिक जीवन का अन्त हो सकता है। यदि साधक इस एकमात्र उद्देश्य से ईश्वरोपासना करें कि ईश्वर-कृपा से उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाय, तो साधकों को क्रममुक्ति प्राप्त हो सकती है, अर्थात् सर्वप्रथम उन्हें बैकुण्ठवास मिलता है और तब सृष्टि-विलयन के बाद उन्हें शाश्वत मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पर शंकर स्वयं भी ईश्वरोपासक थे, पर उन्होंने ईश्वरवाद में त्रुटियाँ देखीं (देखें पृ० १११-११२)। इसलिए दुःखत्रय से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान को ही अपनाया जिसका उल्लेख पृ० ३४ में साधन-चतुष्टय तथा उपाय-त्रय के रूप में किया गया है।

मोक्ष-विचार

मोक्ष, मुक्ति, त्राण इत्यादि शब्दों से अर्थ होता है छुटकारे का। तब छूट किससे? स्पष्ट है सांसारिक बन्धन से जिसे दुःखमय स्वीकारा गया है। चूँकि सांसारिक जीवन दुःखमय बन्धन है, इसलिए मोक्षगति को आनन्द गति कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में पहला प्रश्न है कि मानव सांसारिक बन्धन में कैसे पड़ा?

सांसारिक बन्धन अथवा मानव दुःख को अनादि और सान्त माना गया है (देखें पृ० ४८)। क्या इसकी व्याख्या हो सकती है?

१. नहीं, क्योंकि भारतीय धर्मों का यह मन्तव्य है और इसी को स्वीकारने पर इन धर्मों के अन्य विचार सम्भव होते हैं। मन्तव्यों की सर्वमान्यता तभी सिद्ध होती है जब इसके आधार पर लक्ष्य-प्राप्ति हो जाय। बन्धन के साथ मोक्ष-विचार अवियोज्य रीति से लिपटा हुआ है। इसमें जीवन्मुक्ति भी चली आती है जिसकी वास्तविकता को

सिकन्दर के अनुयायियों ने अपनी आँखों से देखा। अतः, मोक्ष की सार्थकता के साथ दुःख अथवा बन्धन का मन्तव्य सिद्ध स्वीकारा जा सकता है।

२. द्वितीय, भारतीय धर्मों का उद्देश्य पूर्णतया व्यावहारिक अथवा चिकित्सीय है, अर्थात् रोगी को अच्छा करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है और तत्त्व-मीमांसात्मक आधार को खोजना व्यर्थ का समय गँवाना बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष नहीं लगाना चाहिए कि दुःखत्रय पर विचार नहीं किया गया है।

दुःख का प्रमुख और अन्तिम निदान अविद्या अथवा अज्ञान है। सांख्य के अनुसार शुद्ध आत्मायें अज्ञानवश अथवा बिना प्रकृति और आत्मा के भेद को जाने हुए अपने आपको प्रकृति के क्रियाकलाप के साथ आत्मसात् कर लेती हैं। आत्मा का स्वरूप ही है कि वह अजन्मा, नित्य, निष्क्रिय और शुद्ध चैतन्य हो। पर प्रकृति के साथ अविद्या के वश में आ जाने पर जीव प्रकृति की क्रियाओं के साथ आत्मसात् करके सुख-दुःख का भोगी हो जाता है। जब तक अज्ञान दूर नहीं हो जाता, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के विभिन्न स्वरूप की विवेक ख्याति (ज्ञान) नहीं हो जाती, तब तक मानव अपने कर्म के अनुसार दुःख भोगता रहता है। ध्यान योग्य बात है कि मानव 'पापी' नहीं, वरन् अज्ञानी होने के कारण दुःख झेलता है।

सांख्य द्वारा प्रतिपादित बंधन-विचार अधिकांश हिंदू-परम्परा में देखा जाता है और शंकराचार्य ने भी इस मत को अपनाया है। इसके विपरीत, रामानुज के अनुसार कर्म ही बंधन का प्रारंभिक कारण है। स्पष्ट तो नहीं, पर अनुमानतः कहा जा सकता है कि रामानुज के अनुसार मानव का सारतत्त्व है कि वह ईश्वर पर निर्भर रहे, उसमें ईश्वर के प्रति दासभाव पाया जाय। इसके विपरीत जब मानव अपने को ईश्वर से बिछुड़ कर, अपने प्रकाशपुञ्ज ईश्वर से विमुख होकर, अपने को स्वतंत्र जीव मानकर, अपने को अपना भाग्य विधाता मानने लगता है तभी वह कर्मबंधन में पड़ जाता है। यहाँ कर्म-बंधन को ईश्वर-विमुखी होना ही कहा जा सकता है। यह मत ईसाई धर्म से बहुत मेल खाता है।

जो भी बंधन की व्याख्या हो इससे मुक्ति प्राप्त कर लेना अनिवार्य माना गया है। दुःख मुक्ति से तात्पर्य है दुःखों का अन्त और आनन्द की प्राप्ति। मोक्ष-प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये हैं, अर्थात् कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान-योग। शंकर के अनुसार मोक्षसाधन करने की चेष्टा को योग-संज्ञा दी जा सकती है और तिलक के अनुसार कर्म-कुशलता को 'योग' कहा जा सकता है। शंकराचार्य ने इन तीनों मार्गों को दो भागों में विभक्त किया है, अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग। प्रवृत्ति-मार्ग में इच्छा-पूर्ति का अंश विशेष होता है, उदा०, कर्म के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति तथा भक्ति के आधार पर बैकुण्ठवास को जीव की परमगति समझी जाती है। परन्तु इन दोनों में 'इच्छा'-पूर्त्ति का

सन्देश है। शंकर के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति नश्वर है और किसी भी कर्म से अर्जित लक्ष्य-प्राप्ति नश्वर ही हो सकती है। इन दोनों (कर्म और भक्तियोग) की तुलना में ज्ञानमार्ग या योग को निवृत्तिमार्ग कहा गया है जिसे सर्वकर्मसंन्यास अथवा सर्वकर्मफल-त्याग बताया गया है। ज्ञान को शंकर ने किसी प्रकार की क्रिया (कर्म) नहीं माना है। इसलिए ज्ञान से प्राप्त मोक्ष अर्जित नहीं है, पर यह जीवों की नित्य, शाश्वत, अनुत्पन्न स्थिति है जो मानव के बन्धन काल में पायी जाती है, पर मानव उससे अनभिज्ञ रहता है। मानव की शाश्वत दशा ब्रह्मानुगति है। ब्रह्मगति की झलक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, सुषुप्ति तथा तुरीयावस्था में मिलती है।

रामानुज के अनुसार भक्तियोग ही मोक्ष-प्राप्ति का मुख्य साधन है। हाँ, इस भक्तियोग में कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का समुच्चय है (देखें पृ० १०३)। शंकर कर्म-ज्ञान के समुच्चय के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार, कर्म और भक्ति, प्रारम्भिक तथा औपक्रमिक (preparatory) साधन हैं। कर्म से चित्त विमल हो जाता और भक्ति से ईश्वर कृपा के द्वारा मानव में विमल विवेक जग जाता है। पर केवल ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है (देखें पृ० ३४-३५), अर्थात् साधना-चतुष्टय और उपायत्रय से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है।

रामानुज और शंकर के बीच मोक्ष-स्वरूप के सन्दर्भ में भी मतभेद है। रामानुज के अनुसार, जीव बैकुण्ठवास में रहकर, ईश्वर-सानिध्य प्राप्त कर संरक्षित रहता है (देखें पृ० १०६-१०७)। इसके विपरीत, शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म हो जाता है। इस ब्रह्म-गति में जीवों का नाम-रूप का अन्तर दूर हो जाता है। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म में लीन हो जाता है। जिस प्रकार कुम्भ के फूट जाने पर कुम्भ का जल, जल में समा जाता है, उसी प्रकार जीवरूपी घट के टूट जाने पर जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है।

मुक्ति का स्वरूप—शंकर के अनुसार, मुक्ति पारमार्थिक दशा है जो कूटस्थ, नित्य, आकाश के तुल्य सर्वव्यापी, सभी विकारों से रहित, नित्य तृप्तिमय, निरवयव और स्वयंज्योति है। यह मुक्ति की दशा तीनों कालों में अबाधित रहकर एकरस रहती है। मुक्ति सम्पूर्ण आनन्द और तृप्ति की दशा है क्योंकि इसमें किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती है। फिर, शंकर के अनुसार, इसमें न धर्म रहता है और न अधर्म, न भूत, न वर्तमान और न भविष्य है; यह मोक्षगति अशरीरी अवस्था होती है। चूँकि ब्रह्म कालातीत होता है, इसलिए ब्रह्मप्राप्त साधक भी काल से परे हो जाता है। मुक्तिदशा जीव की कोई बाह्य लक्ष्यगति नहीं है। यह उसकी शाश्वत और नित्य दशा है जिसे वह अज्ञानवश नहीं जानता है। जैसे किसी के गले में हार हो और यह न जानकर वह उसे सब जगह ढूंढ़ता फिरे और नहीं पावे, उसी प्रकार प्रत्येक जीव शान्त ब्रह्म है और भ्रमवश अपनी

शान्ति सांसारिक वस्तुओं और वासनाओं में ढूँढ़ता फिरता है। पर, जिस प्रकार गले का हार पाकर व्यक्ति हार खोजना छोड़ देता है उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्ति के बाद सभी वासनाएँ और काम्य कर्म समाप्त हो जाते हैं। फिर इस बात को बताने के लिए कि मुक्ति जीव की नित्य अवस्था है 'दसवें आदमी' की उपमा दी जाती है। मान लीजिए, दस आदमी हैं और उनमें से एक सबको गिनने लगता है तो अपने को छोड़ देता है और बार बार गिनने पर भी नौ ही आदमी पाता है। वह दसवें आदमी की खोज करने लगता है। उसकी इस विडम्बना को देखकर चतुर बताता है, 'दशमस्त्वमसि' (तुम्हीं दसवें आदमी हो)। ठीक इसी प्रकार गुरु से तत्त्वज्ञान प्राप्त कर साधक 'कोऽहम्' के प्रश्न के उत्तर को 'ब्रह्मास्मि' में प्राप्त कर लेता है।

फिर, मोक्षगति को धर्म-अधर्म से परे बताया गया है। इसकी व्याख्या जीवन्मुक्ति के सन्दर्भ में की जायगी। मुक्ति के कई प्रकार बताये गये हैं, अर्थात् विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति। फिर मुक्ति को सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति में बाँटा गया है। **'सद्योमुक्ति'** वह है जिसमें सच्चा ज्ञान होने के साथ जीव, जगत् और ईश्वर सभी तिरोहित होकर केवल ब्रह्म-अबाधित परमसत्ता रह जाती है। जीव, जगत् और ईश्वर सर्पवत् आरोपित अध्यास हैं जो जीव द्वारा अज्ञानवश एकमात्र परब्रह्म के अधिष्ठान पर आधृत रहते हैं। सच्चा ज्ञान हो जाने पर अध्यास समाप्त हो जाता है; जीव भी अपने-अपने सीमितपन को छोड़ देता है, वासनाविहीन होकर अकर्तृत्व को प्राप्त करता है। ऐसे ज्ञान के हो जाने पर उसी क्षण मुक्तिप्राप्ति मानी जाती है और इसे 'सद्योमुक्ति' संज्ञा दी जाती है, अर्थात् इसे ज्ञानसमकालमुक्ति कहते हैं क्योंकि ज्ञान के क्षण के साथ सद्योमुक्ति हो जाती है। **'क्रममुक्ति'** कई दशाओं के क्रम से होकर प्राप्त होती है। चूँकि ज्ञान से सद्योमुक्ति होती है इसलिए इस प्रकार की क्रममुक्ति सगुणोपासनामूलक होती है। परन्तु हमलोगों ने देखा है कि भक्ति मुक्ति का साधन अवश्य है, पर बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती है। इसलिए क्रममुक्ति को सद्योमुक्ति का पूर्वचरण माना जायगा।

यदि सद्योमुक्ति को हम ज्ञानसमकालमुक्ति कहें तो क्या हम कह सकते हैं कि सभी स्थलों पर ज्ञान के साथ विदेहमुक्ति हो जाती है ? विदेहमुक्ति का साधारण अर्थ होता है कि शरीर (स्थूल और सूक्ष्म) त्यागने के बाद किसी भी प्रकार के अज्ञान न रहने से फिर किसी प्रकार का जन्म नहीं होता है और मुक्त साधक परब्रह्म हो जाता है। इसके विपरीत, **'जीवन्मुक्ति'** की भी कल्पना की गयी है। जीवन्मुक्त वह ज्ञानी है जो इस शरीर में भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्ति की कल्पना द्वारा सन्तों के जीवन तथा धार्मिक ज्ञानियों को यथेष्ट स्थान दिया गया है। जनक, विदुर, धर्मव्याध तथा सुलभा को जीवन्मुक्तों का उदाहरण माना जाता है। धर्मदर्शन के दृष्टिकोण से जीवन्मुक्ति शांकर सिद्धान्त के अर्थनिरूपण में सहायक होती है। जीवन्मुक्त

व्यक्ति को कोई भी सिद्धान्ततः परीक्षित कर अद्वैतवादी वेदान्त के निष्कर्ष को सत्यापित-मिथ्यापित कर सकता है और हम शंकरीय सिद्धान्त के सत्यापन के लिए जीवन्मुक्ति को कसौटी बनायेंगे। परन्तु अभी यहाँ हम इसके स्वरूप की व्याख्या करेंगे।

जीवन्मुक्ति का स्वरूप—शांकर सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति की अवस्था में साधक अधर्म-धर्म से परे तथा स्वतन्त्र हो जाता है। जीवन्मुक्ति में शरीर रहता है और जब तक शरीर रहता है तब तक कर्म अवश्य होंगे और जब कर्म होंगे तो क्यों नहीं इनमें धर्म-अधर्म का विचार किया जायगा? इस प्रश्न को शांकर सिद्धान्त के अनुसार निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है।

तीन प्रकार के कर्मसंस्कार माने गये हैं; अर्थात् संचित, संचीयमान और प्रारब्ध। ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद संचित कर्म—जो पूर्वसंस्कार और पूर्वकर्म के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं—निष्फल हो जाते हैं। इसकी उपमा भुने हुए बीज से की गयी है। जिस प्रकार अग्नि में भुने बीज से पेड़-पौधा नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार ज्ञान द्वारा विनष्ट संचित कर्म भी पुनर्जन्म उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं। इसी प्रकार, जो कर्म इस जीवन में संचित होते जा रहे हैं वे संचीयमान कर्म भी ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाते हैं। परन्तु वे कर्म जिनका फल उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया है, तब तक क्रियाशील रहेंगे जब तक उनका वेग जारी रहेगा। जैसे बिजली के चले जाने के बाद भी पंखा तब तक चलता रहता है जब तक पहले की वेगशक्ति समाप्त नहीं हो जाती है उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म अपनी वेगगति के क्षीण हो जाने तक जारी रहते हैं और इसी प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप शरीर जारी रहता है। प्रारब्ध कर्म की वेगगति के समाप्त होते ही विदेहमुक्ति हो जाती है। परन्तु जीवन्मुक्ति के क्षीण होते हुए प्रारब्ध कर्म से कोई नया संचीयमान कर्म नहीं उत्पन्न होता जिससे पुनर्जन्म की सम्भावना हो। जीवन्मुक्त भले ही आपाततः अन्य जीव के समान दीखे, लेकिन उसकी गति सर्वथा भिन्न होती है। जैसे जली हुई रस्सी की ऐंठन पूर्ववत् रह जाती है उसी प्रकार जीवन्मुक्त भी पूर्ववत् दीखता है। लेकिन उसके कर्म से कुछ नया निर्माण नहीं होता। चूँकि पूर्वागत् क्षीयमाण वेग से उत्पन्न कोई नया फल नहीं होता और बिना फल को ध्यान में रखे किसी कर्म को अच्छा-बुरा नहीं कहा जा सकता, इसलिए जीवन्मुक्त के कर्म को भी 'धर्म-अधर्म' संज्ञा नहीं दी जा सकती।

ब्रह्मप्राप्त विद्वत्संन्यासी किसी एकरूप को नहीं धारण करता। कोई सामाजिक बन्धन को मानता है, तो कोई मस्त विचरण करता है; कोई सिद्ध महात्मा होता है, तो कोई ध्यान में निमग्न सभी सामाजिक कर्मों के प्रति उदासीन। अतः, जीवन्मुक्तों के कर्मों की कोई कसौटी नहीं हो सकती है जिसके आधार पर उनके कर्मों को बुरा-अच्छा कहा जाय। बात यह है कि नैतिक विचार जीव, जगत् और ईश्वर को व्यावहारिक रीति से सत्य

मानकर सम्भव होता है। जब जड़, जीव और ईश्वर का विचार तिरोहित हो जाता है तो धर्म-अधर्म का नैतिक भेद भी समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, जब तक जीव सीमित रहता है, उसमें अपनी उद्देश्य-आपूर्त्ति की आवश्यकता रहती है। उसका कर्म काम्य तथा उसके संकल्प से संचालित होता है। परन्तु जब सीमितपन दूर हो जाता है तब उसमें न तो कोई उद्देश्य होता है, न संकल्प और न कोई कामना। उसका कर्म अब 'उसका' नहीं प्रत्युत ब्रह्म से संचालित होता है। इसलिए उसके कर्म को शुद्ध निष्काम कर्म कह सकते हैं। स्वयं जीवन्मुक्त को अपनी क्रिया का कोई भान नहीं होता। उसमें भाव रहता है : 'नैवकिञ्चित्करोमीति' (अर्थात् मैं कुछ भी नहीं करता हूँ)। वह कर्मों का कर्त्ता नहीं, केवल निमित्त रह जाता है। ऐसी अवस्था में निमित्तकार्य को कैसे 'धर्म-अधर्म' संज्ञा दी जाय ?

यद्यपि उपर्युक्त कारणों से जीवन्मुक्त के कर्म को 'धर्म-अधर्म' संज्ञा नहीं दी जा सकती, किन्तु उसके कर्म को अधर्म तो कहा ही नहीं जा सकता। इसका कारण है कि अधर्म अविवेक से उत्पन्न होता है और जीवन्मुक्त का कार्य पूर्ण विवेकज्ञान से संचालित होता है। फिर जीवन्मुक्त के कर्मों से सर्वभूतहित तथा लोकसंग्रह का ही प्रतिपालन होता है। वस्तुतः शंकरीय मत के अनुसार विश्व-कल्याण के हेतु जीवन्मुक्तों का कर्म अनायास तथा अनिवार्यतः होता है और यही बात 'भगवद्गीता' (१२:३-४) से भी पुष्ट होती है।

कोई भी साधना एकाएक नहीं होती। लक्ष्यप्राप्ति क्रमिक हुआ करती है। इसलिए सर्वप्रथम, जीवन्मुक्ति की पाण्डित्य, बाल्य और मौन तीन अवस्थाएँ वर्णित की गयी हैं। पाण्डित्य-अवस्था में श्रवण-मनन के द्वारा श्रुति तथा महावाक्यों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। परन्तु कोरे सैद्धान्तिक ज्ञान से ब्रह्मलाभ नहीं हो सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि वह वासनाओं से मुक्त होकर बालकों के समान पवित्र हो तथा ज्ञानप्राप्ति की ग्रहणक्षमता प्राप्त करे। जब तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने की ग्रहणक्षमता हो जाती है और जब ब्रह्म प्राप्त हो जाता है तब साधक मुनि हो जाता है, अर्थात् मौन रह जाता है। इसका कारण है कि ब्रह्म में न कोई बाह्य और न आन्तरिक भेद है और अतः इस निरवयव सत्ता में ज्ञाता-ज्ञेय का भी भेद नहीं रह जाता है, इसलिए जीवन्मुक्त ब्रह्म प्राप्त कर मौन रह जाता है, अर्थात् जीवन्मुक्ति की दशा अनिर्वचनीय होती है।

फिर जीवन्मुक्तों को भी ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान और ब्रह्मविद्वरिष्ठ—इन चार वर्गों में बाँटा गया है। ब्रह्मविद् वे जीवन्मुक्त हैं जिन्हें यह तत्त्वज्ञान हो गया है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और जगत् मिथ्या। अन्तिम तीन अवस्थाएँ जीवन-मुक्तों की निर्विकल्पसमाधि पर निर्भर करती है। ब्रह्मविद्वर वे जीवन्मुक्त हैं जो स्वयं ही निर्विकल्पसमाधि से उठकर चेतना ग्रहण करते हैं। ब्रह्मविद्वरीयान वे जीवन्मुक्त सिद्ध

पुरुष हैं जिन्हें चेतना में लाने के लिए बरबस उनकी निर्विकल्पसमाधि को भंग करना पड़ता है। ब्रह्मविद्वरिष्ठ वे जीवन्मुक्त हैं जिनकी समाधि को बरबस भी नहीं भंग किया जा सकता। इस समाधि को इसलिए 'निर्विकल्प' कहा गया है कि ब्रह्म का कोई निश्चित रूप तो होता नहीं, इसलिए विषय के अनिश्चित, अकथनीय तथा अद्वैत होने के कारण समाधि भी निर्विकल्प हो जाती है। फिर समाधि भंग हो जाने पर जीवन्मुक्त को इस संसार की चेतना अवश्य रहती है; परन्तु समाधि का प्रभाव इतना गहरा और व्यापक रहता है कि इस संसार की असारता भूली नहीं जा सकती।

कुछ वेदान्तियों ने जीवन्मुक्ति के प्रति यह आपत्ति उठायी है कि यदि ज्ञान हो जाने के बाद भी शरीर संरक्षित रह जा सकता है तो कौन जाने विदेहमुक्ति के बाद भी सूक्ष्म शरीर अवशिष्ट रहे ? इस आपत्ति का प्रत्युत्तर करने के लिए 'विदेहमुक्ति' की ही व्याख्या ऐसी की गयी है कि जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में आपत्ति नहीं उठायी जा सके। स्वयं शंकर ने मुक्तिदशा को 'अशरीरी' कहा है तो क्या जीवन्मुक्ति की कल्पना अयौक्तिक नहीं प्रतीत होती है ? इस आपत्ति का समाधान करते हुए बताया जाता है कि मुक्ति तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होती है और तत्त्वज्ञान से अज्ञान का विलयन होता है, न कि शरीर का। अतः, तत्त्वज्ञान द्वारा उस अज्ञान का विनाश हो जाता है जिस अज्ञान के कारण जीव अन्नमय-प्राणमय शरीर आदि के साथ अपनी आत्मा का आत्मसात् कर लेता है। इसलिए मुक्ति में इस बात की निश्चितता हो जाती है कि आत्मा शरीर और उसकी वासनाओं से मुक्त होकर फिर पुनर्जन्म के चक्कर में नहीं पड़ेगी। इसलिए चाहे विदेहमुक्ति हो या जीवन्मुक्ति, तत्त्वज्ञान से सद्यः शरीरविनाश ध्वनित नहीं होता है, केवल पुनर्जन्म की सम्भावना का विनाश ही इसका मुख्य अर्थ होता है। इसलिए सम्भव है कि विदेहमुक्ति में मुक्त साधक का **सूक्ष्म** शरीर उसी प्रकार जारी रहे जिस प्रकार जीवन्मुक्त में उसका शरीर पूर्व के प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप जारी रहता है। शरीर का विनाश प्रारब्ध कर्म के क्षीण हो जाने पर ही होता है। इसलिए यदि 'मुक्ति' का मुख्य अर्थ हो पुनर्जन्म-विनाश, तो जीवन्मुक्ति को पूर्ण मुक्ति का पूर्वाभास और उसकी सच्चाई का ठोस प्रमाण कहा जा सकता है।

शांकर वेदान्त के प्रकथनों का अर्थनिरूपण—शांकर अद्वैतवाद सम्भवतः शंकर और बौद्धदर्शन के पूर्व उपनिषदों में ही बीजरूप में निहित है। इसलिए हजारों वर्ष के मनीषियों से सिंचित अद्वैतवादी धर्मदर्शन की आलोचना थोड़े शब्दों में नहीं की जा सकती। परन्तु यदि 'अर्थनिरूपण' का अभिप्राय हो कि सार्वजनिक तथा पुनरावृत्त्य अनुभूतियों द्वारा शंकरीय मुक्तिसिद्धान्त का सत्यापन-मिथ्यापन किया जाय तो विदेहमुक्ति सत्यापन-मिथ्यापन का विषय नहीं हो सकती है। चूँकि जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति का पूर्वरूप है, इसलिए जीवन्मुक्ति के ही अर्थनिरूपण द्वारा शंकरीय मुक्तिसिद्धान्त को अर्थपूर्ण सिद्ध

किया जा सकता है। जीवन्मुक्ति की अवस्था में अनुभूति अद्वैत तथा अनिर्वचनीय होती है। यहाँ जीवन्मुक्त स्वयं ब्रह्म हो जाता है और ब्रह्म में किसी प्रकार का—इसके भीतर या बाहर—भेद नहीं रहता है। इसलिए यहाँ ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध नहीं रहता। अतः शंकरीय सिद्धान्त के अद्वैतवादी प्रकथन को किसी ज्ञेय से सम्बद्ध वर्णनात्मक प्रकथन नहीं कहा जा सकता है। यहाँ साधक एक ऐसी स्थिति अभिव्यक्त कर सकता है जिसमें नानात्व, जगत् तथा लिप्साओं के प्रति पराङ्मुखता प्रतीत होती है, अर्थात् अद्वैतवादी प्रकथन आत्मकथात्मक ही हो सकते हैं। इस आत्मकथन का अर्थनिरूपण व्यवहार के अध्ययन के ही आधार पर निश्चित किया जा सकता है। शंकरीय सिद्धान्त के अनुसार, व्यवहारलक्षण का उल्लेख है, जिसके अनुसार, मुक्तिभाव की परीक्षा की जा सकती है।

सर्वप्रथम, बताया गया है कि जीवन्मुक्त लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है, पर इसके लिए उसके अन्दर कोई चाह नहीं रहती। वह सभी स्थलों पर ब्रह्म को ही देखता है: 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'। इसलिए वह समदर्शन प्राप्त कर कार्य करता है और उसे इसका विचार नहीं होता कि उसका कार्य कब प्रारम्भ होता है और कब समाप्त। इसलिए उसमें अकर्तृत्वभाव देखा जाता है अथवा 'नैव किंचित्करोमीति'। इस निर्लिप्तता, निःस्पृहा की जांच फल के प्रति अनासक्तिभाव या व्यवहार से की जा सकती है।

जीवन्मुक्त गर्मी-सर्दी से अप्रभावित रहता है, रागद्वेष से मुक्त होकर कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी शान्त रहता है। इसे 'तितिक्षा' कहते हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण महावीर तीर्थंकर के जीवन में देखा जाता है।

यह ठीक है कि जीवन्मुक्ति में अपार शक्ति तथा सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु वह उनका कभी भी दुरुपयोग नहीं कर सकता है। उसमें धर्म तथा शुभ व्यवहार उसी प्रकार अनायास रूप से पाये जाते हैं जैसे सुगन्धित फूल में सुगन्ध, अर्थात् अनैतिक कार्य की अक्षमता।

चूँकि जीवन्मुक्त ब्रह्म प्राप्त होता है और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं होती जिससे किसी भी प्रकार की आशंका उत्पन्न हो, इसलिए जीवनमुक्त निर्भय रहता है।

नैतिक अच्छाई और बुराई दोनों जीवों की अविद्या से उत्पन्न होती हैं। यह ठीक है कि बुराई में अविद्या अतिघोर होती है और अच्छाई से तत्त्वज्ञानप्राप्ति में सहायता मिलती है, पर दोनों में ही अविद्या पायी जाती है। तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर जीवन्मुक्त मानव के सभी व्यवहारों के प्रति समरस रहता है; वह साधुओं की प्रशंसा करता है और कुकर्मियों की निन्दा। अन्त में, सभी कर्म—अच्छे और बुरे—उसके लिए ईश्वर की माया से उत्पन्न होते हैं। ईश की मौज समझकर जीवन्मुक्त अत्रस्त, शान्त, उपेक्षाभावपूर्ण होकर सभी घटनाओं को ब्रह्म की शाश्वत दृष्टि से देखता है। वह अपने में तुरीयावस्था का अवर्णनीय आनंद प्राप्त करता है। यहाँ स्पिनोजा और शंकर की दार्शनिक दृष्टियों में बड़ा मेल दीखता है।

जीवन्मुक्त के हर व्यवहार में महान् पवित्रता तथा शुचित्व दिखाई देता है। उसमें संसार के प्रति इतना अधिक वैराग्य, वस्तुओं के प्रति निस्स्पृहा, मानव-व्यवहार तथा शीत-ताप के प्रति तितिक्षा, परमसत्ता में तल्लीनता तथा समाधिस्थता होती है कि दर्शक के लिए वह रहस्यमय उपस्थिति प्रतीत होता है।

अन्त में, रागद्वेष से परे, हर्षविषादविहीन, प्रशंसा-निन्दा में अविचल, सिद्धिप्राप्त, लोककल्याण में रत और मानव के अच्छे-बुरे सभी व्यवहारों के प्रति एकरस जीवन्मुक्त में असीम विनम्रता पायी जाती है। उसे भान होता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ। शंकर के अनुसार, विदेहमुक्तिप्राप्ति के क्षण तक जीवन्मुक्त इस धरातल पर अज्ञ, मूक और अन्धे के समान विनम्रभाव से रहता है।

जो बात जैन और बौद्ध धर्मप्रकथनों के सम्बन्ध मे कही गयी है वह शंकरीय अद्वैतवादी प्रकथनों पर भी लागू होती है। शंकरीय जीवन्मुक्त के धर्मप्रकथन सम्पूर्णतया आत्मकथात्मक होते हैं, परन्तु सिद्धान्ततया वे व्यवहार द्वारा सत्यापित-मिथ्यापित हो सकते हैं। अतः, शंकरीय अद्वैतवादी प्रकथन सम्पूर्णतः अर्थपूर्ण कहे जायँगे। पर, क्या ब्रह्म की परमसत्ता भी सत्याप्य-मिथ्याप्य हो सकती है? जहाँ तक परब्रह्म सम्बन्धी प्रकथनों का प्रश्न है, उसकी तत्त्वमीमांसात्मक सत्यता का अर्थनिरूपण नहीं किया जा सकता। परन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से धार्मिक व्यक्ति का जीवन उसके धर्म का सत्यापन करता है। इस अर्थ में जनक, विदुर, सुलभा, धर्मव्याध इत्यादि का जीवन शंकरीय धर्मदर्शन की सत्यता सिद्ध करता है। इसमें सन्देह नहीं कि भक्तियोग तथा कर्मयोग इत्यादि ऐसे साधन हैं जिनसे जीवन्मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। पर प्रश्न उठता है, क्या कोई विदुर, सुलभा अथवा धर्मव्याध बनना चाहता है? आज के समकालीन जीवन में व्यक्ति सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक, साहित्यिक, राजनेता, नेहरू, चर्चिल इत्यादि बनना चाहेंगे, न कि जीवन्मुक्त। इसलिए शांकर दर्शन और उसमें निहित जीवनलक्ष्य मिथ्या नहीं हैं, बल्कि वे मानव की दृष्टि से ओझल हो गये हैं। प्रत्येक जीवन-आदर्श मानव के अपने निर्णय पर आधृत रहता है। आज के विज्ञान, समाजशास्त्र ,राजनीति इत्यादि के प्रकाश में जीवन्मुक्ति का आदर्श शिक्षित भारतीयों का हृदय अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ हो रहा है। पर, क्या यह आदर्श वस्तुतः ऐसा फीका और क्षीण है, जैसा भारतीयों के जीवनलक्ष्य के चयनों से स्पष्ट होता है? अभी सामूहिक तथा सामाजिक जीवन पर इतना बल दिया जा रहा है कि व्यक्तिगत जीवन की पूर्णता पर कम ध्यान जा रहा है। परन्तु जब सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का समाधान हो जायगा तो व्यक्ति फिर अपनी ओर विशेषतया ध्यान देगा। वह फिर अपने से प्रश्न करेगा, 'कोऽहम्'? अन्त में फिर उसे यही निर्णय करना पड़ेगा कि वह अन्नमय कोश नहीं, प्राणमय कोश नहीं, विज्ञानमय कोश नहीं इत्यादि। तब उसे फिर शायद यही समझना पड़े कि 'अहं ब्रह्मास्मि'!

●

परिशिष्ट–२ : जैन धर्म

मूल धारणायें एवं विशिष्टतायें

१. अन्य प्राचीन भारतीय धर्मों के समान जैन धर्म में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति का चतुष्पदी स्तंभ प्रारंभ से माना जाता है।

२. जैन धर्म प्राचीनतम अवैदिक धर्म है। इसमें ईश्वर का स्थान नहीं है।

३. फिर जैन धर्म में जगत् की सृष्टि का विचार नहीं है क्योंकि जगत् को अनादि स्वीकारा जाता है।

४. चूँकि जैन धर्म में ईश्वर का स्थान नहीं है, इसलिये इसमें देवी-देवताओं की पूजा का भी कोई प्रावधान नहीं है। चूँकि मोक्ष को ही मानव की अन्तिम आध्यात्मिक गति समझा जाता है, इसलिये मोक्ष-साधन विशेषतया नैतिक कहे जायँगे। पंच महाव्रत, तपस् और ध्यान को मोक्षप्राप्ति का मुख्य साधन स्वीकारा जाता है।

५. सभी प्राचीन भारतीय धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म में अहिंसा को ही 'परमो धर्मः' समझा जाता है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि के आधार पर अनेकान्तवाद को विशेष स्थान दिया गया है।

६. चूँकि जैन धर्म में बहुवाद है, इसीलिये इसके दार्शनिक पक्ष में अनेकान्तवाद और स्याद्वाद देखने में आता है। इसका मुख्य तार्किक आधार है भेदाभेद अथवा अभेद में भेद (भेदान्वित अभेद), identity-in-difference. बौद्ध मत में भेद और अद्वैतवाद में अभेद का सिद्धान्त विशेष है। जैन धर्मदर्शन में भेदान्वित अभेद का सिद्धान्त है जो बौद्ध और अद्वैतवाद दोनों के बीच समन्वय स्थापित करता है।

७. जैन धर्म के अनुसार कर्म-कषाय हैं जो मानव में चिपटे रहते हैं। फिर जैसा शरीर होगा उसी आकार और क्षेत्र की आत्मा भी होगी। अतः आत्मा को शुद्ध मानने पर उसे बड़ा-छोटा, आकुंचित-विस्तारित स्वीकारने पर आत्मा को भौतिकवादी रूप दे दिया गया है।

८. जैन धर्म में बुद्धिवाद (rationalism) को विशेष प्रश्रय दिया गया है, पर सनातनी हिन्दू धर्म में पारलौकिक सत्ता के लिये धर्मग्रन्थ को एकमात्र अधिकारी ज्ञान का स्रोत समझा जाता है।

९. जैन धर्मदर्शन अनेकत्ववादी एवं वास्तववादी दर्शन है जिसकी तुलना में अद्वैतवाद एकत्ववादी है जिसमें जगत् को केवल व्यावहारिक रूप से सत्य और पारमार्थिक से मिथ्या कहा जाता है। बौद्ध धर्म क्षणिकवाद और अनात्मवाद को स्वीकारता है।

१०. बौद्ध धर्म के समान जैन धर्म के प्रवर्त्तकों को ऐतिहासिक व्यक्ति कहा जाता है। २४ तीर्थंकरों में भगवान् महावीर को सबसे बड़ा और अंतिम तीर्थङ्कर गिना जाता है। इसके विपरीत हिन्दू धर्म के प्रवर्त्तकों को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं समझा गया है। सनातन धर्म का वेद अपौरुषेय है और इस धर्म को अनादि कहा गया है।

११. इसमें वर्ण-विचार नहीं है।

जगत्-विचार

भौतिक जगत् पाँच द्रव्यों के साथ पाया जाता है, अर्थात् धर्म-अधर्म (गति और स्थिति या विश्राम), आकाश, पुद्गल (अणुरूप में और फिर संघात अथवा स्कंधरूप में) और काल। आकाश और काल ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें इन्द्रियग्राह्य नहीं कहा जा सकता है। प्रत्येक द्रव्य में तीन प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं, अर्थात् उत्पाद (उत्पन्न होना), व्यय (विनष्ट हो जाना) और ध्रौव्य (जारी रहना)। बिना आकाश के जिसे केवल अनुमान के द्वारा जाना जाता, द्रव्यों का विस्तार और आकुंचन सम्भव नहीं होता है। फिर बिना काल के द्रव्यों की वर्तना (अर्थात् वर्तमान काल में होना), परिणाम (अर्थात् परिवर्तन), क्रिया, नवीनता या प्राचीनता (पुरानापन) संभव नहीं हो सकता है।

वस्तुओं की गति को धर्म और उन्हें गतिहीन रहकर स्थित रहने को विश्राम कहा गया है। पुद्गल वास्तव में भौतिक तत्त्व है और अन्य हिन्दू दर्शन के समान यह वह है जिसमें संयोग और विभाजन हो सके। यह सबसे छोटे अविभाजित रूप में अणु और अनेक अणुओं के स्कंध के रूप में भी पाया जाता है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इसके चार गुण हैं।

जैन जगत् को न तो बौद्धों के समान क्षणिक घटनाओं का प्रवाह समझते हैं और न अद्वैतवाद के समान जगत् को मिथ्या समझते हैं। जगत् और उसकी सभी वस्तुओं को वास्तविक समझते हैं। यह जगत् उनके लिये कर्मक्षेत्र है जिसमें रहकर मुक्तिमार्ग का अनुसरण कर वे मोक्षगति को प्राप्त कर सकते हैं। अतः, जीवों के स्वरूप, उनके बंधन और मोक्ष पर विचारना होगा।

जीव-विचार

पृ० ५१ में दी गयी तालिका के आधार पर विभिन्न प्रकार के जीवों को ध्यान में रखा जा सकता है।
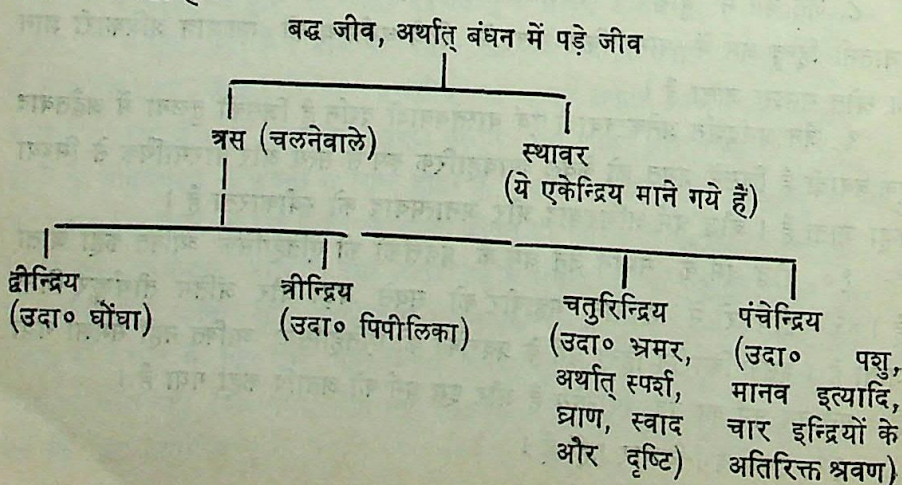
अशरीरी शुद्ध और मुक्त आत्मा का स्वरूप है कि उसमें गुण चतुष्टय हो अर्थात् अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन (अबाधित प्रत्यक्ष-शक्ति), अनंत चारित्र और अनंत वीर्य (अदम्य शक्ति), दूसरे शब्दों में, शुद्ध रूप में आत्मा सर्वशक्तिसंपन्न, सर्वज्ञ, चैतन्य है। (देखें पृ० ५२)।

बंधन : अज्ञानवश कर्मों के द्वारा उत्पन्न होता है और इस अज्ञान को केवल ज्ञान के आधार पर दूर किया जा सकता है (देखें पृ० ५२–५४)।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि **मोक्षमार्ग** : (देखें पृ० ५४–६२)। **निरीश्वरवाद** के लिए देखें पृ० ६२–६३।

परिशिष्ट–३ : बौद्ध धर्म

मूल अभिधारणायें एवं विशेषताएँ

१. बौद्ध धर्म में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति का चतुष्पदी स्तम्भ पाया जाता है। वास्तव में जैन और बौद्ध धर्मों में ही प्रारम्भ में इन चार मूल धारणाओं पर बल दिया गया था।

२. जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी है। बाद में महायान शाखा में रूपकाय (ऐतिहासिक बुद्ध भगवान्), संभोग काय (स्वर्ग-निवासी बुद्ध, देवतातुल्य आनन्द-भोगी) और धर्मकाय (सगुण-निर्गुण ब्रह्मरूप में) बुद्ध की कल्पना की गयी और उनकी उपासना भी। पर हीनयान बौद्ध धर्म सर्वथा निरीश्वरवादी रहा है। सिद्धान्ततः बौद्ध धर्म को निरीश्वरवादी कहा जायगा।

३. सभी वस्तुयें दुःखपूर्ण हैं (सर्वं दुःखं दुःखं), क्षणिकवाद और अनात्मवाद, ऐसी तीन शिक्षायें हैं जो बौद्ध धर्म को अन्य सभी धर्मों से प्राच्य एवं नबीमूलक धर्मों से विभिन्न करती हैं।

४. चूँकि बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी है, इसलिए इसके तीन व्रत बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, अर्थात्

(१) बुद्धं शरणं गच्छामि,
(२) धर्मं शरणं गच्छामि,
(३) संघं शरणं गच्छामि।

५. बौद्ध धर्म, जैन धर्म के समान पूर्णतया बुद्धिवादी है।

६. जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म में वर्णविचार नहीं है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म जातिभेद-विरोधी रहा है।

७. 'चत्वारि आर्य सत्यानि' में अष्टांगिक मार्ग भी है, प्रतीत्यसमुत्पाद और द्वादश-निदान, ये तीन मुख्य धर्म लक्षण पाये जाते हैं।

८. मानव का चरम लक्ष्य है निर्वाण-प्राप्ति। यह नकरात्मक गति है जो बौद्ध धर्म को समस्त मानव धर्मों से विभिन्न करती है।

९. बौद्ध धर्म को मध्यमार्गी कहा गया है क्योंकि भोग और तपस्, दोनों के बीच के मार्ग को ही बताया गया है।

१०. इस धर्म के अनुसार बिना भिक्षु की दीक्षा लिए हुए साधक को निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकता है। अतः गार्हस्थ जीवन की अवहेलना करके इसमें मठवास पर बल दिया गया है।

११. शील, समाधि (ध्यान) और प्रज्ञा, ये तीन मुक्तिमार्ग अर्थात् दुःख-निरोध मार्ग हैं। शील प्रारम्भिक कड़ी, समाधि बीच की और प्रज्ञा वह अंतिम दृष्टि है जिसमें निर्वाण-गति का आभास मिल जाता है।

जगत्-विचार

प्रतीत्यसमुत्पाद, बौद्ध धर्मदर्शन का मूल और आदि मन्त्र है। प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या है कि संसार घटना-चक्र है। जब यह घटना घटती है, तब वह घटती है; जब इस अमुक घटना का उदय होता है तब उस अमुक घटना का भी उदय होता है; जब यह अमुक घटना नहीं होती है तब वह घटना भी नहीं होती है; इस किसी घटनाविशेष के अन्त हो जाने पर उस अमुक घटनाविशेष का भी अन्त हो जाता है। अतः, सूत्र रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद के संदर्भ में कहा जायगा : जब यह, तब वह।

चूँकि सभी वस्तुयें मात्र घटनायें (अर्थात् परिवर्तनशील प्रक्रियायें) हैं, इसलिए किसी भी वस्तु का स्थायी स्वभाव नहीं है। सभी वस्तुयें क्षणभंगुर हैं (सर्वं क्षणिकं क्षणिकं)। क्षणिकवाद के अनुसार सभी वस्तुयें एवं घटनायें निर्वयव और निस्स्वभाव हैं (अर्थात् जिसका अपना कोई स्थायी स्वरूप न हो)। क्षणिकवाद की तुलना ह्वाइटहेड के events (घटना) अथवा देशकाल-बिन्दु के साथ की जा सकती है। फिर ह्यूम के अनुसार भी सभी वस्तुयें परिवर्तनशील संवेदनों का समूह अथवा योगफल है। पर बौद्ध मत की विशेषता है कि इसके अनुसार वस्तुयें घटनाओं का समूह हैं, पर इस समूह का नाम-रूप है। जब तक नाम-रूप बना रहेगा तब तक किसी एक वस्तु को उसी नाम-रूप में व्यावहारिक रीति से समझा जायगा। अतः, घटना-समूह (जो कोई भी वस्तु है) को नाम-रूप ही स्थायित्व प्रदान करते हैं। वास्तव में कहीं भी स्थायित्व तथा नित्यता नहीं है। मोमबत्ती प्रति क्षण बदलती रहती है और जलते-जलते विलुप्त हो जाती है। पर जब तक मोमबत्ती का प्रकाश बना रहता है, उसे हम वही मोमबत्ती समझते हैं।

सभी घटनायें प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार एक-दूसरे पर निर्भर करती हैं; सभी सापेक्ष हैं और प्रत्येक क्षणभंगुर घटना निस्स्वभाव होती हैं। वास्तव में जगत् क्षणिक घटनाओं का प्रवाह मात्र है। बाद में चलकर महायानी विचारकों ने दो प्रकार की सत्ताओं का उल्लेख किया है, अर्थात् संवृति (व्यावहारिक) और पारमार्थिक। संवृति - सत्य जगत् में रूप-नाम को सत्य समझकर जागतिक वस्तुओं को व्यावहारिक रूप में स्थायी द्रव्य माना जाता है। पर अन्तिम रूप में जगत् मिथ्या है।

बौद्ध धर्म में चार शाखायें हैं और संसार और निर्वाण को उन सबों ने भिन्न रूप में समझा है।

१. वैभाषिक और सर्ववास्तिवाद के अनुसार संसार और निर्वाणगति, दोनों पृथक्-पृथक् रूप में वास्तविक हैं।

२. सौत्रांतिक के अनुसार संसार वास्तविक है; पर निर्वाण की अपनी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है।

३. योगाचार के अनुसार संसार अयथार्थ है, पर निर्वाणगति वास्तविक है, अर्थात् निर्मल घटनाओं के शुद्ध प्रवाह के रूप में।

४. माध्यमिक शून्यवाद के अनुसार संसार और निर्वाण, पृथक् पृथक् करके अवास्तविक हैं। निर्वाणगति अनिर्वचनीय है। निर्वाण सभी विचारकोटियों से परे और अतीत है।

बौद्ध मत के प्रतीत्यसमुत्पाद तथा क्षणिकवाद को स्वीकारते हुए वस्तुओं के स्थायी वास्तविकता को नहीं स्वीकारा जा सकता है। अतः संसार को केवल व्यावहारिक (संवृति सत्य) रूप से ही सत्य समझा जा सकता है। इस रूप में समझने पर संसार को मानव को अपनी मुक्ति (अर्हत्व) प्राप्त करने का कर्मक्षेत्र ही समझा जा सकता है। महायानी बोधिसत्वों के लिये संसार वह कर्मक्षेत्र है जिसमें उन्हें लोकहित में सर्वमुक्ति के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है। सम्राट अशोक के काल से ही समाज-सेवा की व्यवस्था देखी गयी है, यहाँ तक कि पशु चिकित्सा का भी प्रबन्ध था। अतः बौद्ध धर्म को निराशावादी और पलायनवादी नहीं समझना चाहिए।

अनात्म-विचार (अनन्तावाद)

बौद्ध धर्म में 'आत्मा' के अस्तित्व को नहीं स्वीकारा गया है। तब क्या मृत्यु के बाद मनुष्य का एकदम विनाश हो जाता है ? नहीं। बुद्ध भगवान् उच्छेदवाद को नहीं स्वीकार करते हैं। तब क्या गीता के समान आत्मा को नित्य, शाश्वत, अजर-अमर मानते हैं ? नहीं, बुद्ध भगवान् आत्मा के शाश्वतवाद को भी नहीं स्वीकारते हैं। इनके अनुसार आत्मा संवेदन, तृष्णा इत्यादि का प्रवाह-मात्र है। पर इस प्रवाह का भी नाम-रूप है जो जन्म-जन्मान्तर में चक्कर लगाता रहता है। जब तक शील-समाधि और प्रज्ञा के आधार पर अहंकार (ममत्व, अहंभाव) का विनाश होकर निर्वाण-गति नहीं प्राप्त हो तब तक नाम-रूप-विशेष जिसे राम, श्याम, यदु इत्यादि के नाम से पुकारा जाता है, आवागमन के चक्र में रहता है। अतः, बुद्ध भगवान् उच्छेदवाद को नहीं स्वीकारते हैं। फिर निर्वाण-गति में अहंभाव का विनाश हो जाता और संवेदन इत्यादि के स्कंध (पृ० ६८, ७९) का नाम-रूप भी समाप्त हो जाता है। इसलिये बुद्ध भगवान् आत्मा के द्रव्य-मूलक नित्यता को स्वीकार नहीं करते हैं (देखें पृ० ७३-७७)।

बौद्धों का आत्मा-विचार सभी भारतीय मतों से विभिन्न है और इसका मिलान

ह्यूम से आगे बढ़कर राईल और विटगिन्स्टाइन के मत से किया जा सकता है। चूँकि बौद्ध धर्म में कर्म-संसार-ज्ञान-मुक्ति का संदेश भी है, इसलिये नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि के आधार पर यह मत राईल के मत की तुलना में कहीं अधिक उपादेय है। इसमें मानव को नैतिक आधार पर अपने जीवन को करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा-भाव से पूर्ण करने का संदेश है। क्यों मानव दुःखमय संसार-चक्र में पड़ा रहता है? इसकी व्याख्या बुद्ध भगवान् ने द्वादश-निदान में स्पष्ट की है जिसमें प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर द्वादश-चक्र का उल्लेख किया है। देखें पृ० ७०-७१।

मुक्तिमार्ग

मुक्तिमार्ग का नाम है दुःख-निरोध-मार्ग जिसे पृ० ७७ से ८७ तक स्पष्ट किया गया है। इस मार्ग की तीन प्रमुख कड़ियाँ हैं, अर्थात् शील, समाधि और प्रज्ञा। शील प्रथम साधना है जिसमें सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक इत्यादि आठ नैतिक अनुष्ठानों का उल्लेख किया गया है। देखें पृ० ८०-८१। शील के साथ समाधि का प्रावधान है। देखें पृ० ८१-८६। अन्त में प्रज्ञा की प्राप्ति होती है जिसमें अहंभाव विनष्ट हो जाता है। देखें, पृ० ८६-८७।

मोक्ष अथवा निर्वाण

शील, समाधि और प्रज्ञा के आधार पर अविद्या का अन्त हो जाता और अहंभाव का विलयन हो जाता है। इस अहंभाव के विलयन को निर्वाण कहा गया है (पृ० ७२)। शंकर भी अहंभाव के विलयन को मोक्ष मानते हैं। तब इन दोनों मतों में क्या अन्तर है? बौद्धों के अनुसार निर्वाणी का क्या होता है, इसका विचार करना ही व्यर्थ है। शंकर के अनुसार निर्वाणी अथवा मुक्त जीव का विलयन ब्रह्मन् में हो जाता है जिसे परम सत्ता की संज्ञा दी जाती है। बौद्ध किसी भी परम सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उनके अनुसार सभी सत्तायें निःस्वभाव और क्षणभंगुर होती हैं। पर बौद्ध शाखा के योगाचार (विज्ञानवाद) से शंकर के मत का मिलान किया जा सकता है। योगाचार के अनुसार निर्वाण-गति में साधक आलयविज्ञान को अन्तिम सत्ता में विलीन हो जाता है। पर यह आलयविज्ञान शुद्ध घटनाओं का सतत् प्रवाह कहा जाता है। इसके विपरीत शंकर का ब्रह्मन् निष्क्रिय सत्, चित् और आनन्द है।

महायान और हीनयान, दोनों निर्वाण को अनिर्वचनीय, शांत और अन्तिम गति स्वीकारते हैं (पृ० ८७, १-५ लक्षण)। इनके भेद-विचार पृ० ८७-८८।

बौद्ध धर्म में जीवन्मुक्ति को स्वीकारा गया है जिसे शंकर ने भी माना है। जीवन्मुक्त के बाह्य और आन्तर लक्षण, पृ० ९५-९६ में देखें।

जैन-बौद्धों का अन्तर

जैन और बौद्धों के बीच के अन्तर को पृ० ११६ पर स्पष्ट कर दिया गया है। पर

इन दोनों के बीच के अन्तर को अव्याकृत-विचार के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

बुद्ध भगवान् के अनुसार दस अव्याकृत हैं जिनका उत्तर न 'हाँ' और न 'न' के रूप में दिया जा सकता है।

१. क्या विश्व सीमित है, या असीमित, या दोनों, या दोनों में कोई नहीं ? (चार अव्याकृत)।

२. क्या तथागत (आत्मा) मृत्यूपरान्त रहता है, या नहीं, या दोनों, या दोनों में से कोई भी नहीं ? (चार अव्याकृत)।

३. क्या आत्मा-शरीर दोनों एक हैं या अलग ? (दो अव्याकृत)।

कान्ट ने भी विश्व, आत्मा और ईश्वर के सन्दर्भ में १२ अव्याकृतों का उल्लेख किया है। बुद्ध भगवान् अव्याकृत के सन्दर्भ में कोई भी उत्तर न देकर मौन साधन कर लेते थे। परन्तु इन अव्याकृतों के सन्दर्भ में भगवान् महावीर का विचार स्पष्ट था। भगवान् महावीर का कथन अनेकान्तवाद के आधार पर :

१. विश्व दैशिक विस्तार के आधार पर सीमित, पर कालगति में असीमित।

२. बन्धन की अवस्था में आत्मा अविद्या के कारण शरीर के साथ आत्मसात् कर लेती है, पर मोक्षगति में दोनों अलग-अलग हो जाते हैं।

३. बन्धन-दशा में वासना-कषाय इत्यादि नश्वर हैं, पर आत्मा का तत्त्व (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्तवीर्य) नित्य और शाश्वत् रहता है।

इन उत्तरों में भेदान्वित अभेद का सिद्धान्त दिखाई देता है।

बौद्ध धर्म में अशुभ की समस्या

बौद्ध धर्म में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। इसलिए ईश्वर तथा अन्य कोई भी पारलौकिक शक्ति मानव के अशुभ का कारण नहीं बतायी जा सकती है। इसलिए मानव स्वयं अपने दुःखों का कारण है। अनादि अविद्या मानव का मुख्य कारण है। पर इन्द्रिय-सुख की तृष्णा मानव को बार-बार जन्म लेने (भव) के लिए विवश करती है। यही कारण है कि बुद्ध भगवान् ने कहा है सर्वं दुःखं दुःखं। इसकी व्याख्या के लिए देखें, पृ० ६८-७०।

पर क्या बौद्ध धर्म निराशावादी है ? नहीं। निराशावाद वह है जिसमें दुःख अथवा अशुभ से मुक्ति मिलने की आशा न हो। पर बौद्ध धर्मदर्शन में दुःख को दूर करने का मार्ग (दुःख-निरोध-मार्ग) बताया गया है और निर्वाणगति जिसमें दुःखों का अन्त हो जाता है, उसकी भी वास्तविकता को स्वीकारा गया है। जीवन्मुक्ति इस बात को सिद्ध करती है कि निर्वाणगति वास्तविक स्थिति है। अन्त में, निर्वाणप्राप्त बोधिसत्वों के लोक-हिताय समर्पित जीवन से सिद्ध होता है कि मानव-जीवन उद्देश्यपूर्ण रूप से व्यतीत किया जा सकता है।

प्रश्न

1. What are the difficulties in the study of Comparative Religion ?
   तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन की कठिनाइयों का उल्लेख करें ।
2. Explain the place of reason in the study of Comparative Religion.
   तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन में तर्कबुद्धि के महत्व को स्पष्ट करें ।
3. Can man live without religion ? Discuss.
   क्या मानव बिना धर्म के रह सकता है ? विचार करें ।
4. Is the common referent underlying all religions, transcendent and unknowable ?
   क्या सभी धर्मों की आधारभूत सत्ता अतीत और अज्ञेय है ?
5. Expound the doctrine of analogical reasoning.
   साम्यानुमान के सिद्धान्त की व्याख्या करें ।
6. Explain the doctrine of symbolism, according to Paul Tillich.
   पॉल तीलिख़ के प्रतीकवाद की व्याख्या करें ।
7. Explain the nature of religious language, according to Wittgenstein.
   विट्गिन्स्टाइन के धर्मभाषा-सम्बन्धी मत को स्पष्ट करें ।
8. Explain the doctrine of differencelessness, according to Shankara.
   शंकरानुसार अभेदमूलक सिद्धान्त की व्याख्या करें ।
9. Point out the practical implications of Shankara's doctrine of differencelessness.
   शंकर के अनुसार अभेदमूलक सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता का उल्लेख करें ।
10. Explain the fundamental principles of Indian Religions Thought.
    भारतीय धर्म दर्शनों के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या करें ।
11. Explain the doctrine of Bondage and Release, according to Jainism.
    जैन धर्म के अनुसार बंधन और मुक्ति-विचार की व्याख्या करें ।
12. Is Jainism atheistic ?
    क्या जैन धर्म निरीश्वरवादी है ?
    (इसकी व्याख्या करने में बतायें कि जैनी क्यों भगवान् महावीर की पूजा करते हैं) ।

13. Explain—(a) The doctrine of Guṇasthana, (b) Dhyana and its different Kinds.
    (क) गुणस्थान की व्याख्या करें। (ख) ध्यान और उसके प्रकार की व्याख्या करें।

14. Explain the doctrine of fourfold noble truth.
    चत्वारि आर्यसत्यानि की व्याख्या करें।

15. Explain the nature of Nirvana.
    निर्वाण के स्वरूप की व्याख्या करें।
    (निर्वाण को नकारात्मक एवं भावात्मक, दोनों रूपों में स्पष्ट किया गया है। इसके भावात्मक स्पष्टीकरण को अहंभाव की व्याख्या के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है)।

16. Explain the points of difference between Hinayana and Mahayana.
    हीनयान और महायान के बीच के अन्तर के बिंदुओं की व्याख्या करें।

17. Explain the doctrine of **bhakti** and **prapatti**, according to Ramanuja.
    रामानुज के अनुसार, भक्ति और प्रपत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या करें।

18. Why is theism not favourable for **Brahma-jnana**, according to Shankara ?
    शंकर के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान के लिये क्यों ईश्वरोपासना अपर्याप्त कही गयी है ?

19. What is the ultimate destiny of man, according to Shankara and Ramanuja ? which do you prefer and why ?
    शंकर और रामानुज के अनुसार मानव की अन्तिम गति का क्या स्वरूप है ? इन दोनों के मतों में से आप किसको अधिक मान्य समझते हैं ?

20. Explain the religions philosophy of Shankara's.
    शंकर के धर्मदर्शन की व्याख्या करें।

21. Explain the special features of Judaism.
    यहूदी धर्म के लक्षणों की व्याख्या करें।

22. Explain the doctrine of man, according to Judaism.
    यहूदी धर्म के अनुसार मानव-विचार को स्पष्ट करें।

23. Explain the doctrine of God, according to Christianity.
    ईसाई धर्म के अनुसार, ईश्वर-विचार की व्याख्या करें।

24. Explain the Christian doctrine of Evil.
    अशुभ के विषय में ईसाई सिद्धान्त की व्याख्या करें।

25. Explain the Christian hope of immortality.
    अमरता-सम्बन्धी ईसाई आशा की व्याख्या करें।
26. Explain Islamic-creed.
    इस्लामी विश्वास-वचन की व्याख्या करें।
27. Explain Islamic practices.
    इस्लामी व्यवहार-क्षेत्रों की व्याख्या करें।
28. Explain the theory and practice of Sufism.
    सूफीमत के सिद्धान्त और व्यवहार की व्याख्या करें।
29. Explain the final human destiny, according to Islam.
    इस्लाम के अनुसार मानव की अन्तिम गति की व्याख्या करें।
30. Explain the special features of Sikhism.
    सिख धर्म के विशिष्ट लक्षणों की व्याख्या करें।
31. Explain the teaching of God, according to Sikhism.
    सिख धर्म के अनुसार ईश्वर-विषयक शिक्षा को स्पष्ट करें।
32. Explain the nature of man, according to Sikhism.
    सिख धर्म के अनुसार मानव के स्वरूप को स्पष्ट करें।
33. Point out the historical importance of Parsi-ism for Judaism and Hinduism.
    यहूदी और हिन्दू धर्मों के संदर्भ में पारसी धर्म के ऐतिहासिक महत्त्व को स्पष्ट करें।
34. Is Parsi religion dualistic or monotheistic ? Discuss.
    क्या पारसी धर्म एकेश्वरवादी है या द्वैतवादी ? विवेचन करें।
35. Explain Secularism.
    सेक्यूलरिज़्म की व्याख्या करें।
36. Must religion differ ?
    क्या धर्मों का भेद अनिवार्य है ?
    (मानव न एक प्रकार के हो सकते हैं और न उनका संस्कार ही एक-समान हो सकता है। अतः, मानव-भेद के साथ धर्म-भेद अनिवार्य ही माना जायगा)।
37. Is religious tolerance possible ?
    क्या धर्म-सहिष्णुता संभव है ?
38. Explain Radhakrishnan's unity of all religion.
    राधाकृष्णन् के अनुसार धर्मों की एकता को स्पष्ट करें।

39. Explain the essential unity of all religions, according to Bhagwan Das.
    भगवानदास के अनुसार एक धर्मतत्त्व के सिद्धान्त को स्पष्ट करें ।

40. Must religions differ ?
    क्या धर्म विभिन्न रहेंगे ?

41. State and explain the different forms of Humanism.
    मानवतावाद के प्रकार का उल्लेख कर उनकी व्याख्या करें ।

42. Explain the Humanism of Dewey. Can it take the place of future religion ?
    ड्यूवी के मानवतावाद की व्याख्या करें। क्या यह भावी धर्म का स्थान ले सकता है ?

43. Explain the Humanism of Corliss Lamont.
    कोर्लिस लामोण्ट के मानवतावाद की व्याख्या करें ।

44. Explain the Scientific Humanism of Nehru.
    नेहरू के वैज्ञानिक मानवतावाद की व्याख्या करें ।

45. What is meant by Secularism ?
    ऐहिकतावाद (धर्मनिरपेक्षतावाद) क्या है ?

धर्मों में निहित कुंजीपदों से प्रश्नों का रहना आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिये इस ग्यारहवें अध्याय का अध्ययन अति आवश्यक समझना चाहिये ।

●

अनुक्रमणिका

तुलनात्मक धर्मदर्शन

या० मसीह

इस पुस्तक में जैन, बौद्ध, हिन्दू, यहूदी, ईसाई इस्लाम, सिख और पारसी धर्मों के संदर्भ में ईश्वर, जगत्, मानव, नीति, मोक्ष आदि का अलग-अलग और फिर इन सब विषयों के साथ अन्य कुञ्जीपदों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। साथ ही साथ मानवतावाद, सेक्यूलरिज्म तथा धर्म समन्वय का आधुनिकतम विचारधारा के अनुसार विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

डा० मसीह धर्मदर्शन के विद्वान् शोधकर्त्ता हैं। उनकी कृतियाँ तर्कपूर्ण विचारधारा के कारण सम्मानित एवं पुरस्कृत की गई हैं। ये अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष हैं और बिहार दर्शन परिषद् के भी वर्षों से अध्यक्ष रहते आये हैं। उनकी प्रस्तुत कृति विद्वत्समाज में, उच्चस्तर शोधकार्य में अवश्य ही सहायक सिद्ध होगी।

मूल्य : रु० ७० (सजिल्द)
४५ (अजिल्द)